ग्रन्थ-परीक्षा

तृतीय भाग।

लेखक—
पं० जुगलकिशोर मुख्तार।

ग्रन्थ-परीक्षा

तृतीय भाग।

अर्थात्

सोमसेन-त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बरी), अकलंक
प्रतिष्ठापाठ और पूज्यपाद-उपासकाचारके
परीक्षा-लेखोंका संग्रह।

—•• ••—

लेखक—

श्रीयुत पंडित जुगलकिशोर मुख्तार

सरसावा जि० सहारनपुर

[ग्रन्थ-परीक्षा प्रथम द्वितीय भाग, उपासनातत्त्व, जिनपूजाधिकार-मीमांसा,
विवाहसमुद्देश्य, विवाह-क्षेत्र-प्रकाश, स्वामीसमन्तभद्र (इतिहास),
वीर-पुष्पांजलि, जैनाचार्योंका शासनभेद, आदि अनेक ग्रन्थोंके
रचयिता, और जैनहितैषी आदि पत्रोंके
भूतपूर्व सम्पादक]

प्रकाशक—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

प्रथमावृत्ति }
५०० प्रति }

भादों, सं०, १९८५ विक्रम
सितम्बर, सन् १९२८

मूल्य १॥)

प्रकाशक-

छगनमल बाकलीवाल

मालिक—जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

मुद्रक

बाबू दुर्गाप्रसाद

दुर्गा प्रेस अजमेर

पेज संख्या १ से २४४ तक

और शेष अंश

मं. ना. कुळकर्णी कर्नाटक प्रेस

३१८ ए ठाकुरद्वार बम्बई।

भूमिका।

—:०:—

वर्षाका जल जिस शुद्ध रूपमें बरसता है, उस रूपमें नहीं रहता; आकाशसे नीचे उतरते उतरते और जलाशयोंमें पहुँचते पहुँचते वह विकृत हो जाता है और इसके बाद तो उसमें इतनी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके मारे उसके वास्तविक स्वरूपका हृदयंगम कर सकना भी दुष्कर हो जाता है। फिर भी जो वस्तुतत्त्वके मर्मज्ञ हैं, पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें कुशल या परीक्षाप्रधानी हैं, उन्हें उन सब विकृतियोंसे पृथक् वास्तविक जलका पता लगानेमें देर नहीं लगती है। परमहितैषी और परम वीतराग भगवान् महावीरकी वाणीको एक कविने जलवृष्टिकी उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त मालूम होती है। पिछले ढाई हजार वर्षोंका उपलब्ध इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान्का विश्वकल्याणकारी समीचीन धर्म जिस रूपमें उपदिष्ट हुआ था, उसी रूपमें नहीं रहा, धीरे धीरे वह विकृत होता गया, ज्ञात और अज्ञातरूपसे उसे विकृत करनेके बराबर प्रयत्न किये जाते रहे और अब तक किये जाते हैं। सम्प्रदाय, संघ, गण, गच्छ, आम्नाय, पन्थ आदि सब प्रायः इन्हीं विकृतियोंके परिणाम हैं। भगवानका धर्म सबसे पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हुआ, और उसके बाद मूल, यापनीय, द्राविड, काष्ठा, माथुर, आदि नाना संघों और उनके गणों तथा गच्छोंमें विकृत होता रहा है। यह असंभव है कि एक धर्मके इतने भेद प्रभेद होते जायँ और उसकी मूल प्रकृतिपर विकृतियोंका प्रभाव नहीं पड़े। यद्यपि सर्वसाधारण जन इन सम्प्रदायों और पन्थोंके विकारसे विकृत हुए धर्मका वास्तविक शुद्ध स्वरूप अवधारण नहीं कर सकते हैं; परन्तु समय समयपर ऐसे विचारशील विवेकी महात्माओंका जन्म अवश्य होता रहता है जो इन सब विकारोंका अपनी रासायनिक और विश्लेषक बुद्धिसे पृथक्करण करके वास्तविक धर्मको स्वयं देख लेते हैं और दूसरोंको दिखा जाते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि वर्तमान जैनधर्म ठीक वही जैनधर्म है जिसका उपदेश भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीद्वारा हुआ था, उसमें जरा भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सम्मेलन नहीं हुआ है—अक्षरशः ज्योंका त्यों चला आ रहा है, उन्हें धर्मात्मा या श्रद्धालु भले ही मान लिया जाय; परन्तु विचारशील नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि उन्होंने शास्त्रोंका अध्ययन किया हो, वे शास्त्री या पण्डित कहलाते हों; परन्तु शास्त्र पढ़ने या परीक्षायें देनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता है कि वे इस विषयमें कुछ गहरे पैठ सके हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्य रागद्वेषसे युक्त हैं, अपूर्ण हैं और उनपर देश-कालका कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है, वे इस बातपर कभी विश्वास नहीं करेंगे

कि ढाई हजार वर्षके इतने लम्बे समयमें, इतने संघों और गण-गच्छोंकी खींचातानीमें पड़ कर भी उनके द्वारा भगवान्‌के धर्ममें जरा भी रूपान्तर नहीं हुआ है।

हमारे समाजके विद्वान् तो अभी तक यह माननेको भी तैयार नहीं थे कि जैनाचार्योंमें भी परस्पर कुछ मतभेद हो सकते हैं। यदि कहीं कोई ऐसे भेद नजर आते थे, तो वे उन्हें अपेक्षाओंकी सहायतासे या उपचार आदि कह कर टाल देते थे; परन्तु अब 'ग्रन्थपरीक्षा'के लेखक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी सुचिन्तित और सुपरीक्षित 'जैनाचार्योंका शासनभेद' * नामकी लेखमालामें इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि जैनाचार्योंमें भी काफी मतभेद थे, जो यह विश्वास करनेके लिए पर्याप्त हैं कि भगवानका धर्म शुरूसे अब तक ज्योंका त्यों नहीं चला आया है और उसके असली रूपके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है।

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें रूपान्तर हुए हैं और बराबर होते रहते हैं। उदाहरणके लिए पहले हिन्दू धर्मको ही ले लीजिए। बड़े बड़े विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्मके जबर्दस्त प्रभावोंमें पड़कर उसकी 'वैदिकी हिंसा' लुप्तप्राय हो गई है और वैदिक समयमें जिस गौके बछड़ेके मांससे ब्राह्मणोंका अतिथिसत्कार किया जाता था, (महोक्षं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्) वही आज हिन्दुओंकी पूजनीया माता है और वर्तमान हिन्दू धर्ममें गोहत्या महापातक गिना जाता है। हिन्दू अब अपने प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें बतलाई हुई नियोगकी प्रथाको व्यभिचार और अनुलोम-प्रतिलोम विवाहोंको अनाचार समझते हैं। जिस बौद्धधर्मने संसारसे जीव-हिंसाको उठा देनेके लिए प्रबल आन्दोलन किया था, उसीके अनुयायी तिब्बत और चीनके निवासी आज सर्वभक्षी बने हुए हैं—चूहे छछूंदर, कीड़े मकोड़े तक उनके लिए अखाद्य नहीं हैं। महात्मा बुद्ध नीच ऊँचके भेदभावसे युक्त वर्णव्यवस्थाके परम विरोधी थे; परन्तु आज उनके नेपालदेशवासी अनुयायी हिन्दुओंके ही समान जातिभेदके रोगसे ग्रसित हैं। महात्मा कबीर जीवन भर इस अध्यात्मवाणीको सुनाते रहे कि—

जात पाँत पूछे नहिं कोई,
हरिको भजै सो हरिका होई।

परन्तु आज उनके लाखों अनुयायी जातिपाँतिके कीचड़में अपने अन्य पड़ोसियोंके ही समान फँसे हुए हैं। इस ऊँच-नीचके भेदभावकी बीमारीसे तो सुदूर यूरोपसे आया हुआ ईसाई धर्म भी नहीं बच सका है। पाठकोंने सुना होगा कि मद्रास प्रान्तमें ब्राह्मण ईसाइयोंके गिरजाघर जुदा और शूद्र ईसाइयोंके गिरजाघर जुदा हैं और वे एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। ऐसी दशामें यदि हमारे जैनधर्ममें देशकालके प्रभा-

---

* यह लेखमाला अब मुख्तारसाहबके द्वारा संशोधित और परिवर्द्धित होकर जैन-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईद्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई है।

वसे और अपने पड़ौसी धर्मोंके प्रभावसे कुछ विकृतियाँ घुस गई हों, तो इसपर किसी-को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन विकृतियोंमें कुछ विकृतियाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें साधारण बुद्धिके लोग भी समझ सकते हैं। यथा—

१—जैनधर्मसम्मत वर्णव्यवस्थाके अनुसार जिसका कि आदिपुराणमें प्रतिपादन किया गया है, प्रत्येक वर्णके पुरुष अपनेसे बादके सभी वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह कर सकते हैं; बल्कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके अनुसार तो पहलेके तीन वर्णोंमें परस्पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही क्रमोंसे विवाह हो सकता है और पुराणग्रन्थोंके उदाहरणोंसे इसकी पुष्टि भी होती है *, परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो एक वर्णकी जो सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं और जैनधर्मका पालन कर रही हैं, उनमें भी परस्पर विवाह करना पाप बतलाता है और इसके लिए उसके बड़े बड़े दिग्गज पण्डित शास्त्रोंसे खींच तानकर प्रमाण तक देनेकी धृष्टता करते हैं! क्या यह विकृति नहीं है?

२—भगवज्जिनसेनके आदिपुराणकी 'वर्णलाभक्रिया' के अनुसार प्रत्येक अजै-नको जैनधर्मकी दीक्षा दी जा सकती है और फिर उसका नया वर्ण स्थापित किया जा सकता है, तथा उस नये वर्णमें उसका विवाहसम्बन्ध किया जा सकता है। उसको उसके प्राचीन धर्मसे यहाँ तक जुदा कर डालनेकी विधि है कि उसका प्राचीन गोत्र भी बदल कर उसे नये गोत्रसे अभिहित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान जैनधर्मके ठेके-दारोंने भोली भाली जनताको सुधारकोंके विरुद्ध भड़कानेके लिए इसी बातको एक हथि-यार बना रक्खा है कि देखिए, ये मुसलमानों और ईसाइयोंको भी जैनी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी व्यवहार जारी कर देना चाहते हैं। मानो मुसलमान और ईसाई मनुष्य ही नहीं हैं! क्या यह विकृति नहीं है? क्या भगवान् महावीरका विश्वधर्म इतना ही संकीर्ण था? लब्धिसारकी १९५ वीं गाथाकी टीकासे† स्पष्ट मालूम होता है कि म्लेच्छ देशसे आये हुए म्लेच्छ पुरुष भी मुनिदीक्षा ले सकते थे और इस तरह मुक्तिप्राप्तिके अधिकारी बनते थे।

---

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिए पंडित जुगलकिशोर मुख्तारकी लिखी हुई 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तक और मेरा लिखा हुआ 'वर्ण और जातिभेद' नामका निबन्ध देखिए। यह निबन्ध शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

† म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्वि-जयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जात-वैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्॥ १९५॥ पृष्ठ २४१।

३—सारत्रयके प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयसेनसूरिके कथनानुसार सत्-शूद्र भी मुनिदीक्षा ले सकते हैं *। परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो शूद्रोंको इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता है। शूद्र तो खैर बहुत नीची दृष्टिसे देखे जाते हैं; परन्तु उन दक्षिणी जैनियोंके भी मुनिदीक्षा लेने पर कोलाहल मचाया जाता है जिनके यहाँ विधवाविवाह होता है। उदार जैनधर्मपर इस प्रकारकी विकृतियाँ क्या लाञ्छनस्वरूप नहीं हैं ?

जैसा कि आरंभमें कहा जा चुका है, इन विकृतियोंको पहिचान करके असली धर्मको प्रकाशमें लानेवाली विभूतियाँ समय समय पर होती रहती हैं। सारत्रयके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी ही विभूतियोंमेंसे एक थे। वर्तमान दिगम्बर संप्रदायके अधिकांश लोग अपनेको कुन्दकुन्दकी आम्नायका बतलाते हैं। मालूम नहीं, लोगोंका कुन्दकुन्दाम्नाय और कुन्दकुन्दान्वयके सम्बन्धमें क्या खयाल है; परन्तु मैं तो इसे जैनधर्ममें उस समय तक जो विकृतियाँ हो गई थीं उन सबको हटाकर उसके वास्तविक स्वरूपको आविष्कृत करके सर्व साधारणके समक्ष उपस्थित करनेवाले एक महान् आचार्यके अनुयायियोंका सम्प्रदाय समझता हूँ। भगवान् कुन्दकुन्दके पहले और पीछे अनेक बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनकी आम्नाय या अन्वय न कहलाकर कुन्दकुन्दकी ही आम्नाय या अन्वय कहलानेका अन्यथा कोई बलवत्कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है। मेरा अनुमान है कि भगवत्कुन्दकुन्दके समय तक जैनधर्म लगभग उतना ही विकृत हो गया था, जितना वर्तमान तेरहपन्थके उदय होनेके पहले भट्टारकोंके शासन-समयमें हो गया था और उन विकृतियोंसे मुक्त करनेवाले तथा जैनधर्मके परम वीतराग शान्त मार्गको फिरसे प्रवर्तित करनेवाले भगवान् कोण्डकुण्ड ही थे। परन्तु समयका प्रभाव देखिए कि वह संशोधित शान्तमार्ग भी चिरकाल तक शुद्ध न रहा, आगे चलकर वही भट्टारकोंका धर्म बन गया। कहाँ तो तिल-तुष मात्र परिग्रह रखनेका भी निषेध और कहाँ हाथी घोड़े और पालकियोंके ठाठबाट ! घोर परिवर्तन हो गया !

जब कुन्दकुन्दान्वयी शुद्ध मार्ग धीरे धीरे इतना विकृत हो गया—विकृतिकी पराकाष्ठापर पहुँच गया, तब कुछ विवेकी और निरक्षेपक विद्वानोंका ध्यान फिर इस ओर गया और जैसा कि मैंने अपने ‘ वनवासियों और चैत्यवासियोंके सम्प्रदाय या तेरहपन्थ और बीसपन्थ ’ +शीर्षक विस्तृत लेखमें बतलाया है, विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दिमें स्वर्गीय पं० बनारसीदासजीने फिर एक संशोधित और परिष्कृत मार्गकी नीव डाली, जो पहले ‘ वाणारसीय ’ या ‘ बनारसी-पन्थ ’ कहलाया और आगे चल कर तेरहपन्थके

---

* ...एवंगुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति। यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि —प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०५।

+ देखो, जैनहितैषी भाग १४, अंक ४।

नामसे प्रसिद्ध हुआ † । इस पन्थने और इसके अनुयायी पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी, पं० दौलतरामजी, पं० सदासुखजी, पं० पन्नालालजी दूनीवाले आदि विद्वानोंने जो साहित्य निर्माण किया और जिस शुद्धमार्गका प्रतिपादन किया, उसने दिगम्बरसम्प्रदायमें एक बड़ी भारी क्रान्ति कर डाली और उस क्रान्तिका प्रभाव इतना वेगशाली हुआ कि उससे जैनधर्मके शिथिलाचारी महन्तों या भट्टारकोंके स्थायी समझे जानेवाले सिंहासन देखते देखते धराशायी हो गये और कई सौ वर्षोंसे जो धर्मके एकच्छत्रधारी सम्राट् बन रहे थे, वे अप्रतिष्ठाके गहरे गढ़ेमें फेंक दिये गये।

भट्टारकोंका उक्त विकृत मार्ग कितना पुराना है, इसका अनुमान पण्डितप्रवर आशाधरद्वारा उद्धृत इस वचनसे होता है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

अर्थात् भ्रष्टचरित्र पण्डितों और बठर साधुओं या भट्टारकोंने जिन भगवान्‌का निर्मल शासन मलीन कर डाला। पं० आशाधरजी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके अन्तमें मौजूद थे और उन्होंने इस श्लोकको किसी अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया है। अर्थात् इससे भी बहुत पहले भगवान् महावीरके शासनमें अनेक विकृतियाँ पैठ गई थीं।

तेरहपन्थके पूर्वोक्त मिशनने जैनधर्मकी विकृतियोंको हटाने और उसके शुद्ध स्वरूपको प्रकट करनेमें जो प्रशंसनीय उद्योग किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। यदि इसका उदय न हुआ होता, तो आज दिगम्बर जैनसमाजकी क्या दुर्दशा होती, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती है। बागड़ प्रान्तमें दौरा करनेवाले बम्बई जैन प्रान्तिक सभाके एक उपदेशकने कोई १०–१२ वर्ष हुए मुझसे कहा था कि कुछ समय पहले वहाँके श्रावक शास्त्रस्वाध्याय आदि तो क्या करेंगे, उन्हें जिन भगवान्‌की मूर्तिका अभिषेक और प्रक्षाल करनेका भी अधिकार नहीं था! भट्टारकजीके शिष्य पण्डितजी ही जब कभी आते थे, यह पुण्यकार्य करते थे और अपनी दक्षिणा लेकर चले जाते थे। कहते थे, तुम बाल-बच्चोंवाले अब्रह्मचारी लोग

† सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु श्रीमेघविजयजी महोपाध्यायने अपना 'युक्तिप्रबोध' नामका प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृतटीकासहित इस 'वाणारसीय' मतके खण्डनके लिए ही विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिके प्रारंभमें बनाया था—"वोच्छं सुयणहियत्थं वाणारसियस्स मयमेयं।"—सुजनोंके हितार्थ वाणारसी मतका भेद कहता हूँ। इस ग्रन्थमें इस मतकी उत्पत्तिका समय विक्रमसंवत् १६८० प्रकट किया है। यथा—

सिरिविक्कमनरनाहागएहिं सोलहसएहिं वासेहिं ।
असि उत्तरेहिं जायं वाणारसिअस्स मयमेयं ॥ १८ ॥

भगवान्‌की प्रतिमाका स्पर्श कैसे कर सकते हो ? और यह तो अभी कुछ ही वर्षोंकी बात है जब भट्टारकोंके कर्मचारी श्रावकोंसे मारमारकर अपना टैक्स वसूल करते थे तथा जो श्रावक उनका वार्षिक टैक्स नहीं देता था, वह बँधवा दिया जाता था ! हम आज भले ही इस बातको महसूस न कर सकें; परन्तु एक समय था, जब समूचा दिगम्बर जैन समाज इन शिथिलाचारी साथ ही अत्याचारी पोपोंकी पीडित प्रजा था और इन पोपोंके सिंहासनको उलट देनेवाला यही शक्तिशाली तेरहपन्थ था। यह इसीकी कृपाका फल है, जो आज हम इतनी स्वाधीनताके साथ धर्मचर्चा करते हुए नजर आ रहे हैं।

तेरहपन्थने भट्टारकों या महन्तोंकी पूजा-प्रतिष्ठा और सत्ताको तो नष्टप्राय कर-दिया; परन्तु उनका साहित्य अब भी जीवित है और उसमें वास्तविक धर्मको विकृत कर देनेवाले तत्त्व मौजूद हैं। यद्यपि तेरहपन्थी विद्वानोंने अपने भाषाग्रन्थोंके द्वारा और ग्राम ग्राम नगर नगरमें स्थापित की हुई शास्त्रसभाओंके द्वारा लोगोंको इतना सजग और सावधान अवश्य कर दिया है कि अब वे शिथिलाचारकी बातोंको सहसा माननेके लिए तैयार नहीं होते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भेषी पाखण्डियोंने वास्तविक धर्मको बहुतसी मिथ्यात्वपोषक बातोंसे भर दिया है; फिर भी संस्कृत ग्रन्थोंके और अपने पूर्व-कालीन बड़े बड़े मुनि तथा आचार्योंके नामसे वे अब भी ठगाये जाते हैं। बेचारे सरल प्रकृतिके लोग इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े बड़े पूज्य मुनिराजोंके नामसे भी ग्रन्थ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं ! उन्हें नहीं मालूम है कि संस्कृतमें जिस तरह सत्य और महान् सिद्धान्त लिखे जा सकते हैं, उसी तरह असत्य और पापकथायें भी रची जा सकती हैं !

अतएव इस ओरसे सर्वथा निश्चिन्त न होना चाहिए। लोगोंको इस संस्कृतभक्ति और नामभक्तिसे सावधान रखनेके लिए और उनमें परीक्षाप्रधानताकी भावनाको दृढ बनाये रखनेके लिए अब भी आवश्यकता है कि तेरहपन्थके उस मिशनको जारी रक्खा जाय जिसने भगवान् महावीरके धर्मको विशुद्ध बनाये रखनेके लिए अब तक निःसीम परिश्रम किया है। हमें सुहृदर पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारका चिर कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक लेखमाला और दूसरे समर्थ लेखों-द्वारा इस मिशनको बराबर जारी रक्खा है और उनके अनवरत परिश्रमने भट्टारकोंकी गद्दियोंके समान उनके साहित्यके सिंहासनको भी उलट देनेमें कोई कसर बाकी नहीं रक्खी है।

लगभग १२ वर्षके बाद 'ग्रन्थपरीक्षा' का यह तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है जिसका परिचय करानेके लिए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। पिछले दो भागोंकी

अपेक्षा यह भाग बहुत बड़ा है, और यही सोचकर यह इतने विस्तृत रूपमें लिखा गया है कि अब इस विषयपर और कुछ लिखनेकी आवश्यकता न रहे। भट्टारकी साहित्यके प्रायः सभी अंग प्रत्यंग इसमें अच्छी तरह उघाड़कर दिखला दिये हैं और जैनधर्मको विकृत करनेके लिए भट्टारकोंने जो जो जघन्य और निन्द्य प्रयत्न किये हैं, वे प्रायः सभी इसके द्वारा स्पष्ट हो गये हैं।

मुख्तारसाहबने इन लेखोंको, विशेषकरके सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह बुद्धिमान् पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंमें किसी भी जैन विद्वानने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो बिना किसी हिचकिचाहटके कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षालेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं और इस बातकी सूचना देते हैं कि जैनसमाजमें तेरहपन्थद्वारा स्थापित परीक्षाप्रधानताके भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजीके साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलताको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा।

विद्वज्जनबोधक आदि ग्रन्थोंमें भी भट्टारकोंके साहित्यकी परीक्षा की गई है और उसका खण्डन किया गया है, परन्तु उनके लेखकोंके पास जाँच करनेकी केवल एक ही कसौटी थी कि अमुक विधान वीतराग मार्गके अनुकूल नहीं है, अथवा वह अमुक बड़े आचार्यके मतसे विरुद्ध है और इससे उनका खण्डन बहुत जोरदार न होता था; क्योंकि भद्राक्ष फिर भी कह सकता था कि यह भी तो एक आचार्यका कहा हुआ है, अथवा यह विषय किसी ऐसे पूर्वाचार्यके अनुसार लिखा गया होगा जिसे हम नहीं जानते हैं; परन्तु ग्रन्थ-परीक्षाके लेखक महोदयने एक दूसरी अलभ्यपूर्व कसौटी प्राप्त की है जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओंके स्मृतिग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकोंको सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थोंमेंसे चुरा चुरा कर और उन्हें तोड़-मरोड़कर सोमसेन आदिने ये अपने अपने 'भानमतीके कुनबे' तैयार किये हैं। जाँच करनेका यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैनधर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेवालोंके लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारसे लिखे गये हैं कि अभीतक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम पुरस्कर्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्तिका भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षाके पिछले दो भागोंको प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक दो पण्डितमन्योंने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे; परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखोंका

खण्डन लिखा जा सकता और फिर भी पण्डितोंका दलका दल चुपचाप बैठा रहता; परन्तु बात यह है कि इसपर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती; परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाय? गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोंके लिए लोहेके चने हैं, यह सब तरहसे सप्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।

मुझे विश्वास है कि जैनसमाज इस लेखमालाका पूरा पूरा आदर करेगा और इसे पढ़ कर जैनधर्ममें घुसे हुए मिथ्या विश्वासों, शिथिलाचारों और अजैन प्रवृत्तियोंको पहिचाननेकी शक्ति प्राप्त करके वास्तविक धर्मपर आरूढ़ होगा।

मेरी समझमें इस लेखमालाको पढ़कर पाठकोंका ध्यान नीचे लिखी हुई बातोंकी ओर आकर्षित होना चाहिए:—

१—किसी ग्रन्थपर किसी जैनाचार्य या विद्वान्का नाम देखकर ही यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह जैनग्रन्थ ही है और उसमें जो कुछ लिखा है वह सभी भगवानकी वाणी है।

२—भट्टारकोंने जैनधर्मको बहुत ही दूषित किया है। वे स्वयं ही भ्रष्ट नहीं हुए थे, जैनधर्मको भी उन्होंने भ्रष्ट करनेका प्रयत्न किया था। यह प्रायः असंभव है कि जो स्वयं भ्रष्ट हो, वह अपनी भ्रष्टताको शास्त्रोक्त सिद्ध करनेका कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयत्न न करे।

३—भट्टारकोंके पास विपुल धनसम्पत्ति थी। उसके लोभसे अनेक ब्राह्मण उनके शिष्य बन जाते थे और समय पाकर वे ही भट्टारक बनकर जैनधर्मके शासक पदको प्राप्त कर लेते थे। इसका फल यह होता था कि वे अपने पूर्वके ब्राह्मणत्वके संस्कार ज्ञात और अज्ञात रूपसे जैनधर्ममें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। उनके साहित्यमें इसी कारण अजैन संस्कारोंका इतना प्राबल्य है कि उसमें वास्तविक जैनधर्म बिलकुल छुप गया है।

४—सुना गया है कि भट्टारक लोग ब्राह्मणोंको नौकर रखकर उनके द्वारा अपने नामसे ग्रन्थरचना कराते थे। ऐसी दशामें यदि उनके साहित्यमें जैनधर्मकी कलई किया हुआ ब्राह्मण साहित्य ही दिखलाई दे, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

५—इस बातका निर्णय करना कठिन है कि भट्टारकोंके साहित्यका कबसे प्रारंभ हुआ है; इसलिए अब हमें इस दूधसे जलकर छाँछको भी फूँक फूँककर पीना चाहिए। हमें अपनी एक ऐसी विवेककी कसौटी बना लेनी चाहिए जिसपर हम प्रत्येक ग्रन्थको कस सकें। जिस तरह हमें किसी बड़े आचार्यके नामसे भुलावेमें न पड़ना चाहिए, उसी तरह प्राचीनताके कारण भी किसी ग्रन्थपर विश्वास न कर लेना चाहिए।

६—संस्कृतके विद्यार्थियों, पण्डितों तथा शास्त्रियोंका ध्यान इन लेखमालाओंके द्वारा तुलनात्मक पद्धतिकी ओर आकर्षित होना चाहिए और उन्हें प्रत्येक विषयका अध्ययन खूब परिश्रमसे करनेकी आदत डालनी चाहिए। ये परीक्षा लेख बतलाते हैं कि परिश्रम करना किसे कहते हैं।

७—अभी जरूरत है कि और अनेक विद्वान्, इस मार्गपर काम करें। भट्टारकोंके रचे हुए कथाग्रन्थ और चरितग्रन्थ बहुत अधिक हैं। उनका भी बारीकीसे अध्ययन किया जाना चाहिए और जिन प्राचीन ग्रन्थोंके आधारसे वे लिखे गये हैं, उनके साथ उनका मिलान किया जाना चाहिए। भट्टारकोंने ऐसी भी बीसों कथायें स्वयं गढ़ी हैं जिनका कोई मूल नहीं है।

अन्तमें सुहृद्वर पण्डित जुगलकिशोरजीको उनके इस परिश्रमके लिए अनेकशः धन्यवाद देकर मैं अपने इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ। सोमसेन-त्रिवर्णाचारकी यह परीक्षा उन्होंने मेरे ही आग्रह और मेरी ही प्रेरणासे लिखी है, इस लिए मैं अपनेको सौभाग्यशाली समझता हूँ। क्योंकि इससे जैनसमाजका जो मिथ्याभाव हटेगा, उसका एक छोटासा निमित्त मैं भी हूँ। इति।

सुखम्ब (ठाणा) }
भाद्रकृष्ण २, सं० १९८५ }

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ भूमिका	१ से ९
२ सोमसेन-त्रिवर्णाचारकी परीक्षा	१ से २३६
प्राथमिक निवेदन	१
ग्रंथका संग्रहत्व	९
अजैन ग्रंथोंसे संग्रह	२९
प्रतिज्ञादि-विरोध—भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराणके विरुद्ध कथन	४९
ज्ञानार्णव ग्रंथके विरुद्ध कथन	८७

दूसरे विरुद्ध कथन—(देव, पितर और ऋषियोंका घेरा, २ दन्तधावन करनेवाला पापी, ३ तेल मलनेकी विलक्षण फलघोषणा, ४ रविवारके दिन स्नानादिकका निषेध, ५ घरपर ठंडे जलसे स्नान न करनेकी आज्ञा, ६–८ शूद्रत्वका अद्भुत योग, ९ नरकालयमें वास, १० ममकी विचित्र परिभाषा, ११ अघौतका अद्भुत लक्षण, १२ पतिके विलक्षण धर्म, १३ आसनकी अनोखी फलकल्पना, १४ जूठन न छोड़नेका भयंकर परिणाम, १५ देवताओंकी रोक थाम, १६ एक वस्त्रमें भोजन-भजनादिपर आपत्ति, १७ सुपारी खानेकी सजा, १८ जनेऊकी अजीब करामात, १९ तिलक और धर्मके बेंधुए, २० सूतककी विडम्बना, २१ पिप्पलादि पूजन, २२ बंध्यत्वयोग और अर्क-विवाह, २३ संकोर्णहृदयोद्गार, २४ ऋतुकालमें भोग न करनेवालोंकी गति, २५ अश्लीलता और अधिकाचार, २६ त्याग या तलाक, २७ स्त्री-पुनर्विवाह, २८ तर्पण श्राद्ध और पिण्डदान ।)

उपसंहार	२३४
३ धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बरी)की परीक्षा	२३७
४ अकलंक-प्रतिष्ठापाठकी जाँच	२५४
५ पूज्यपाद-उपासकाचारकी जाँच	२६०

ग्रन्थ परीक्षा।

(तृतीय भाग)

सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा।

कुछ वर्ष हुए मैंने 'जैन हितैषी' में 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम की एक लेखमाला निकालनी प्रारम्भ की थी, जो कई वर्ष तक जारी रही और जिसमें (१) उमास्वामि श्रावकाचार (२) कुन्दकुन्द श्रावकाचार (३) जिनसेन त्रिवर्णाचार, (४) भद्रबाहु संहिता और (५) धर्म परीक्षा (श्वेताम्बर) नामक ग्रंथों पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये* और उनके द्वारा, गहरी खोज तथा जाँच के बाद, इन ग्रंथों की असलियत को खोल कर सर्व साधारण के सामने रक्खा गया और यह सिद्ध किया गया कि ये सब

---

* अकलंक-प्रतिष्ठा पाठ, नेमिचन्द्र संहिता (प्रतिष्ठा तिलक) और पूज्यपाद-उपासकाचार नाम के ग्रन्थों पर भी छोटे छोटे लेख लिखे गये, जिनका उद्देश्य प्रायः ग्रन्थ कर्ता और ग्रन्थ के निर्माण-समयादि-विषयक भ्रमभ्रम को दूर करना था और उनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि ये ग्रन्थ क्रमशः तत्वार्थ राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंकदेव, गोम्मटसार के प्रणेता श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और सर्वार्थसिद्धि के रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य के बनाये हुए नहीं हैं।

ग्रंथ जाली तथा बनावटी हैं और इनका अवतार कुछ क्षुद्र पुरुषों अथवा तस्कर लेखकों द्वारा आधुनिक भट्टारकी युग में हुआ है। इस लेखमाला ने समाज को जो नया सन्देश सुनाया, जिस भूल तथा गफ़लत का अनुभव कराया, अन्धश्रद्धा की जिस नींद से उसे जगाया और उसमें जिस विचारस्वातंत्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रंथों के अध्ययन को उत्तेजित किया, उसे यहाँ बतलाने की जरूरत नहीं है, उसका अच्छा अनुभव उक्त लेखों के पढ़ने से ही सम्बंध रखता है। हाँ इतना ज़रूर बतलाना होगा कि इस प्रकार की लेखमाला उस वक्त जैन समाज के लिये एक बिलकुल ही नई चीज थी, इसने उसके विचार वातावरण में अच्छी क्रान्ति उत्पन्न की, सहृदय विद्वानों ने इसे खुशी से अपनाया, इसके अनेक लेख दूसरे पत्रों में उद्धृत किये गये, अनुमोदन किये गये, मराठी में अनुवादित हुए और अलग पुस्तकाकार भी छपाये गये *। स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैय्या ने, जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से, त्रिवर्णाचारों को अपने विद्यालय के पठनक्रम से निकाल दिया और दूसरे विचारशील विद्वान् भी उस वक्त से बराबर अपने कार्य तथा व्यवहार के द्वारा उन लेखों की उपयोगितादि को स्वीकार करते अथवा उनका अभिनंदन करते आ रहे हैं। और यह सब उक्त लेखमाला की सफलता का अच्छा परिचायक है। उस वक्त—जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा लिखते समय मैंने यह प्रगट किया था कि 'सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेख द्वारा की जायगी'। परंतु खेद है कि अनवकाश के कारण इच्छा रहते भी, मुझे आज तक उसकी परीक्षा

---

* बम्बई के जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय ने 'ग्रन्थ परीक्षा' प्रथम भाग और द्वितीय भाग नाम से, पहले चार ग्रन्थों के लेखों को दो भागों में छाप कर प्रकाशित किया है और उनका लागत मूल्य क्रमशः छह आने तथा चार आने रक्खा है।

लिखने का कोई अवसर नहीं मिल सका। मैं उस वक्त से बराबर ही दूसरे ज़रूरी कामों से घिरा रहा हूँ। आज भी मेरे पास, यद्यपि, इसके लिये काफ़ी समय नहीं है—दूसरे अधिक ज़रूरी कामों का ढेर का ढेर सामने पड़ा हुवा है और उसकी चिंता हृदय को व्यथित कर रही है—परंतु कुछ अर्से से कई मित्रों का यह लगातार आग्रह चल रहा है कि इस त्रिवर्णाचार की शीघ्र परीक्षा कीजाय। वे आज कल इसकी परीक्षा को खास तौर से आवश्यक महसूस कर रहे हैं और इसलिये आज उसी का यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

इस त्रिवर्णाचारका दूसरा नाम 'धर्म रसिक' ग्रंथ भी है और यह तेरह अध्यायों में विभाजित है। इसके कर्ता सोमसेन, यद्यपि, अनेक पद्यों में अपने को 'मुनि', 'गणी' और 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं * परन्तु वे वास्तव में उन आधुनिक भट्टारकों में से थे जिन्हें शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधु अथवा श्रमणाभास कहते हैं। और इसलिये उनके विषय में बिना किसी संदेह के यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्णरूप से श्रावक की ७ वीं प्रतिमा के भी धारक थे। उन्होंने अपने को पुष्कर गच्छ के भट्टारक गुणभद्रसूरिका पट्टशिष्य लिखा है और साथ ही महेन्द्रकीर्ति गुरु का जिस रूप से उल्लेख किया है उससे यह जान पड़ता है कि वे इनके विद्या गुरु थे। भट्टारक सोमसेनजी कब हुए हैं और उन्होंने किस सन् सम्वत् में इस ग्रंथ की रचना की है, इसका अनुसन्धान करने के लिये कहीं दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। स्वयं भट्टारकजी ग्रंथ के अंत में लिखते हैं—

---

* यथा:—

···श्रीभट्टारक सोमसेन मुनिभिः ··॥ २-११५ ॥

···श्रीभट्टारक सोमसेन गणिना···॥ ४-२१७ ॥

···पुण्यान्वितैः सोमसेनैर्मुनीन्द्रैः ···॥ ६-११८ ॥

अब्दे तत्वरसर्तुचन्द्रकलिते श्रीविक्रमादित्यजे
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे।
वारेभास्वति सिद्धनामनि तथा योगेसुपूर्णातिथौ।
नक्षत्रेऽश्विनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः ॥२१७॥

अर्थात्-यह धर्म रसिक ग्रंथ विक्रम सं० १६६५ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को रविवार के दिन सिद्ध योग और अश्विनी नक्षत्र में बनाकर पूर्ण किया गया है।

इस ग्रंथ के पहले अध्याय में एक प्रतिज्ञा-वाक्य निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा।
सिद्धान्तेगुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः
श्रीसूरिद्विजनामधेय विबुधैराशाधरैर्वाग्वरै—
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकंशास्त्रंत्रिवर्णात्मकम् ॥१॥

अर्थात्—जिनसेनगणी, समंतभद्राचार्य, गुणभद्रमुनि, भट्टाकलंक, विबुध ब्रह्मसूरि और पं० आशाधर ने अपने २ ग्रंथों में जो कुछ कहा है उसे देखकर मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम के तीन वर्णों का आचार बतलाने वाला यह 'धर्मरसिक' नामका शास्त्र रचता हूँ।

ग्रंथ के शुरू में इस प्रतिज्ञा वाक्य को देखते ही यह मालूम होने लगता है कि इस ग्रंथ में जो कुछ भी कथन किया गया है वह सब उक्त विद्वानों के ही वचनानुसार—उनके ही ग्रंथों को देखकर—किया गया है। परन्तु ग्रंथके कुछ पत्र पलटने पर उसमें एक जगह ज्ञानार्णव ग्रंथ के अनुसार, जो कि शुभचंद्राचार्य का बनाया हुआ है, ध्यान का कथन करने की और दूसरी जगह भट्टारक एकसंधि कृत संहिता (जिनसंहिता) के अनुसार होमकुण्डों का लक्षण कथन करने की प्रतिज्ञाएँ भी पाई जाती है। यथा—

" ध्यानं तावदहं वदामिविदुषांज्ञानार्णवे यन्मतम् ॥१—२८ ॥ "

" लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः ।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम् ॥ ७—१०४ ॥

इसके सिवाय कहीं २ पर ख़ास तौर से ब्रह्मसूरि, अथवा जिन-सेनाचार्य के महापुराण के अनुसार कथन करने की जो पृथक् रूप से प्रतिज्ञा या सूचना की गई है उसे पहली प्रतिज्ञा के ही अंतर्गत अथवा उसी का विशेष रूप समझना चाहिये, ऐसी एक सूचना तथा प्रतिज्ञा नीचे दी जाती है —

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्वः
वाचंतु तस्यैवविलोक्यशास्त्रंकृतंविशेषान्मुनिसोमसेनैः ॥२-१५० ॥
जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्तमम् ।
वक्ष्येपुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये ॥ ११—२ ॥

इन सब प्रतिज्ञा वाक्यों और सूचनाओं से ग्रंथ कर्ता ने अपने पाठकों को दो बातों का विश्वास दिलाया है—

(१) एक तो यह कि, यह त्रिवर्णाचार कोई संग्रह ग्रंथ नहीं है बल्कि अनेक जैनग्रंथों को देखकर उनके आधार पर इसकी स्वतंत्र रचना कीगई है ।*

(२) दूसरे यह कि इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा गया है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के अनुसार तथा जैनागम के अनुकूल

---

* ग्रन्थ के नाम से भी यह कोई संग्रह ग्रन्थ मालूम नहीं होता और न इसकी संधियों में ही इसे संग्रह ग्रन्थ प्रकट किया गया है । एक संधि नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

इति श्री धर्मरसिक शास्त्रे त्रिवर्णाचार निरूपके भट्टारक श्री सोमसेन विरचिते स्नानवस्त्राचमन संध्या तर्पण वर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः ।

लिखा गया है और जहाँ कहीं दूसरे (शुभचन्द्रादि) विद्वानों के ग्रंथानुसार कुछ कहा गया है वहाँ पर उन विद्वानों अथवा उनके ग्रंथों का नाम देदिया गया है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ग्रंथ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक अच्छा खासा संग्रह ग्रंथ है, इसमें दूसरे विद्वानों के ढेर के ढेर वाक्यों को ज्यों का त्यों उठा कर या उनमें कहीं कहीं कुछ साधारणसा अथवा निरर्थकसा परिवर्तन करके रक्खा गया है, वे वाक्य ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करने के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से नहीं दिये गये, बल्कि वैसे ही ग्रंथ का अंग बना कर अपनाये गये हैं और उनको देते हुए उनके लेखक विद्वानों का या उन ग्रंथों का नाम तक भी नहीं दिया है, जिनसे उठाकर उन्हें रक्खा है। शायद पाठक यह समझें कि ये दूसरे विद्वान् वेही होंगे, जिनका उक्त प्रतिज्ञा-वाक्यों में उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है—उनके अतिरिक्त और भी बीसियों विद्वानों के शब्दों से ग्रंथ का कलेवर बढ़ाया गया है और वे विद्वान् जैन ही नहीं किन्तु अजैन भी हैं। अजैनों के बहुत से साहित्य पर हाथ साफ किया गया है और उसे दुर्भाग्य से जैन साहित्य प्रकट किया गया है, यह बड़े ही खेद का विषय है। इस व्यर्थ की उठा धरी के कारण ग्रंथ की तरतीब भी ठीक नहीं बैठसकी—वह कितने ही स्थानों पर स्खलित अथवा कुछ बेढंगेपन को लिये हुए होगई है और साथ में पुनरुक्तियाँ भी हुई हैं। इसके सिवाय, कहीं २ पर उन विद्वानों के विरुद्ध भी कथन किया गया है जिनके वाक्यानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा अथवा सूचना की गई है और बहुतसा कथन जैन सिद्धांत के विरुद्ध अथवा जैनादर्श से गिरा हुआ भी इसमें पाया जाता है। इस तरह पर यह ग्रंथ एक बड़ा ही विचित्र ग्रंथ जान पड़ता है और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली

कहावत को भी कितने ही अंशों में चरितार्थ करता है। यद्यपि यह ग्रंथ उक्त जिनसेन त्रिवर्णाचारादि की तरह का जाली ग्रंथ नहीं है— इसकी रचना प्राचीन बड़े आचार्यों के नाम से नहीं हुई—फिर भी यह अर्धजाली ज़रूर है और इसे एक मान्य जैन ग्रंथ के तौर पर स्वीकार करने में बहुत बड़ा संकोच होता है। नीचे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के विषय में अपनी ठीक सम्मति स्थिर करने का अवसर मिल सके।

सब से पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रतिज्ञा पद्य नं० ६ में जिन विद्वानों के नाम दिये गये हैं उनमें 'भट्टाकलंक' से अभिप्राय राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव से नहीं है बल्कि अकलंक-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठातिलक) आदि के कर्ता दूसरे भट्टाकलंक से है जिन्होंने अपने को 'भट्टाकलंकदेव' भी लिखा है और जो विक्रम की प्रायः १६ वीं शताब्दी के विद्वान थे *। और 'गुणभद्र' मुनि संभवतः वेही भट्टारक गुणभद्र जान पड़ते हैं, जो ग्रंथ कर्ता के पट्ट गुरु थे। गुणभद्र भट्टारक के बनाये हुए 'पूजाकल्प' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख भी 'दिगम्बर जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूची में पाया जाता है। होसकता है कि इस ग्रंथ के आधार

* इस त्रिवर्णाचार में जिनसेन आदि दूसरे विद्वानों के वाक्यों का जिस प्रकार से उल्लेख पाया जाता है, उस प्रकार से राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव के बनाये हुए किसी भी ग्रंथ का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ के कितने ही कथनों के साथ त्रिवर्णाचार के कथनों का मेल तथा सादृश्य ज़रूर है और कुछ पद्यादिक दोनों ग्रंथों में समान रूप से भी पाये जाते हैं। इससे उक्त पद्य में 'भट्टाकलंकैः' पद का वाच्य क्या है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होजाता है।

पर भी प्रकृत त्रिवर्णाचार में कुछ कथन किया गया हो और इसके भी वाक्यों को बिना नाम धाम के उठा कर रक्खा गया हो। परन्तु मुझे गुणभद्र मुनि के किसी भी ग्रंथ के साथ इस ग्रंथ के साहित्य को जाँचने का अवसर नहीं मिल सका और इसलिये मैं उनके ग्रंथ विषय का यहाँ कोई उल्लेख नहीं कर सकूँगा। बाकी चार विद्वानों में से जिनसेनाचार्य तो 'आदिपुराण' के कर्ता, स्वामी समन्तभद्र 'रत्नकरण्डक' श्रावकाचार के प्रणेता, पं० आशाधर 'सागार धर्मामृत' आदि के रचयिता और विबुध ब्रह्मसूरि 'ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार' अथवा 'जिनसंहितासारोद्धार' के विधाता हुए हैं जिसका दूसरा नाम 'प्रतिष्ठातिलक' भी है। आशाधर की तरह ब्रह्मसूरि भी गृहस्थ विद्वान थे और उनका समय विक्रम की प्रायः १५वीं शताब्दी पाया जाता है। ये जैन धर्मानुयायी ब्राह्मण थे। सोमसेन ने भी **'श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं', 'ब्रह्मसूरिसुविप्रेण,' 'श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण'** आदि पदों के द्वारा इन्हें ब्राह्मण वंश का प्रकट किया है। इनके पिता का नाम 'विजयेन्द्र' और माता का 'श्री' था। इनके एक पूर्वज गोविन्द भट्ट, जो वेदान्तानुयायी ब्राह्मण थे, स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम' स्तोत्र को सुनकर जैनधर्म में दीक्षित होगये थे †। उसी वक्त से इनके वंश में जैनधर्म की बराबर मान्यता चली आई है, और उसमें कितने ही विद्वान हुए हैं।

ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार को देखने से ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मसूरि के पूर्वज जैनधर्म में दीक्षित होने के समय हिन्दूधर्म के कितने ही संस्कारों को अपने साथ लाये थे, जिनको उन्होंने स्थिर ही नहीं रक्खा बल्कि उन्हें जैन का लिबास पहिनाने और त्रिवर्णाचार जैसे ग्रंथों द्वारा उनका जैनसमाज में प्रचार करने का भी आयोजन किया है। संभव है देश-काल की परिस्थिति ने भी उन्हें वैसा करने के लिये

---

† देखो उक्त 'जिनसंहितासारोद्धार' की प्रशस्ति।

मजबूर किया हो—उस वक्त ब्राह्मण लोग जैन द्विजों अथवा जैनधर्म में दीक्षितों को 'वर्णान्तःपाती' और संस्कारविहीनों को 'शूद्र' तक कहते थे; आश्चर्य नहीं जो यह बात नव दीक्षितों को—खास कर विद्वानों को—असह्य हो उठी हो और उसके प्रतीकार के लिये ही उन्होंने अथवा उनसे पूर्व दीक्षितों ने उपर्युक्त आयोजन किया हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त दक्षिण भारत में इस प्रकार के साहित्य की—संहिता शास्त्रों, प्रतिष्ठा पाठों और त्रिवर्णाचारों की—बहुत कुछ सृष्टि हुई है। एक संधि भ० जिन संहिता, इन्द्रनन्दि संहिता, नेमिचंद्र * संहिता, भद्रबाहु संहिता, आशाधर प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि बहुत से ग्रंथ उसी वक्त के बने हुए हैं। इस प्रकार के सभी उपलब्ध ग्रंथों की सृष्टि विक्रम की प्रायः दूसरी सहस्राब्दी में पाई जाती है—विक्रम की पहली सहस्राब्दी (दसवीं शताब्दी तक) का बना हुआ वैसा एक भी ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ—और इससे यह जाना जाता है कि ये ग्रंथ उस जमाने की किसी खास हलचल के परिणाम हैं और इनके कितने ही नूतन विषयों का, जिन्हें खास तौर से लक्ष्य में रखकर ऐसे ग्रंथों की सृष्टि की गई है, जैनियों के प्राचीन साहित्य के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। अस्तु,

ग्रन्थका संग्रहत्व।

(१) इस त्रिवर्णाचार में सब से अधिक संग्रह यदि किसी ग्रंथ का किया गया है तो वह ब्रह्मसूरि का उक्त त्रिवर्णाचार ही है। सोमसेन ने अपने त्रिवर्णाचार की श्लोक संख्या, ग्रंथके अंत में, २७०० दी है और यह संख्या ३२ अक्षरों की श्लोक गणना के अनुसार

*नेमिचंद्र संहिताके रचयिता 'नेमिचंद्र' भी एक गृहस्थ विद्वान थे और वे ब्रह्मसूरि के भानजे थे। देखो 'नेमिचंद्र संहिता' की प्रशस्ति अथवा जैन हितैषी के १२ वें भाग का अंक नं० ४-५।

जान पड़ती है। परन्तु वैसे, ग्रंथ की पद्य संख्या २०४६ है और बाकी का उसमें मंत्र भाग है जो ५५० या ६०० श्लोकों के करीब होगा। कुछ अपवादों को छोड़ कर, यह सारा मंत्र भाग ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से उठाकर—ज्यों का त्यों अथवा कहीं कहीं कुछ बदलकर—रक्खा गया है। रही पद्यों की बात, उनका जहाँ तक मुकाबला किया गया उससे मालूम हुआ कि इस ग्रन्थ में १६१ पद्य तो ऐसे हैं जो प्रायः ज्यों के त्यों और १७७ पद्य ऐसे हैं जो कुछ परिवर्तन के साथ ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से उठा कर रक्खे गये हैं। इस तरह पर ग्रंथ का कोई एकतिहाई भाग ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से लिया गया है और उसे जाहिर में अपनी रचना प्रकट किया गया है। इस ग्रन्थ संग्रह के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

(क) ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे हुए पद्य।

सुखं वांछन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित्।
तस्मात्सुखैषिणो जीवाः संस्कारायाभिसम्मताः ॥ २-७ ॥

एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते।
पिंडं तिलोदकं चापि कर्त्ता दद्यात्तदन्वहम् ॥ १३-१७६ ॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार का ५वाँ और दूसरा पद्य उसके अन्तिम पर्व का १३६ वाँ पद्य है। दूसरे पद्य के आगे पीछे के और भी पचासों पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। दोनों ग्रन्थों के अन्तिम भाग (अध्याय तथा पर्व) सूतक प्रेतक अथवा जननाशौच और मृताशौच नामके प्रायः एक ही विषय को लिये हुए भी हैं।

(ख) परिवर्तन करके रक्खे हुए पद्य।

कालादिलब्धितः पुंसामन्तःशुद्धिः प्रजायते।
मुख्यापेक्ष्यातु संस्कारो बाह्यशुद्धिमपेक्षते ॥ २-८ ॥

चतुर्थे दिवसे स्नायात्प्रातर्गोसर्गतः पुरा ।
पूर्वाह्णे घटिकाषट्कं गोसर्गं इति भाषितः ॥ १३-२२ ॥
शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि भोजने रन्धनेऽपि वा ।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ १३-२३ ॥

ये पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के जिन पद्यों को परिवर्तित करके बनाये गये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

अन्तःशुद्धिस्तु जीवानां भवेत्कालादिलब्धितः ।
तथाप्युक्तापि संस्कारे बाह्यशुद्धिरपेक्षते ॥ ७ ॥
रजस्वलाचतुर्थेऽह्नि स्नायाद्गोसर्गतः परं ।
पूर्वाह्णे घटिकाषट्कं गोसर्गं इति भाषितः ॥ ८-१३ ॥
तस्मिन्नहनि योग्या स्यादुदक्या गृहकर्मणि ।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ ८-१४ ॥

इन पद्यों का परिवर्तित पद्यों के साथ मुकाबला करने से यह सहज ही में मालूम हो जाता है कि पहले पद्य में जो परिवर्तन किया गया है उससे कोई अर्थ-भेद नहीं होता, बल्कि साहित्य की दृष्टि से वह कुछ घटिया ज़रूर हो गया है। मालूम नहीं फिर इस पद्य को बदलने का क्यों परिश्रम किया गया, जब कि इससे पहला 'सुखं-वांछन्ति' नाम का पद्य ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा गया था! इसे भी उसी तरह पर उठाकर रख सकते थे। शेष दोनों पद्यों के उत्तरार्ध ज्यों के त्यों हैं, सिर्फ पूर्वार्ध बदले गये हैं और उनकी यह तबदीली बहुत कुछ भद्दी जान पड़ती है। दूसरे पद्य की तबदीली ने तो कुछ विरोध भी उपस्थित कर दिया है—ब्रह्मसूरि ने चौथे दिन रजस्वला के स्नान का समय पूर्वाह्न की छह घड़ी के बाद कुछ दिन चढ़े रक्खा था; परन्तु ब्रह्मसूरि के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा करने वाले सोमसेनजी ने, अपनी इस तबदीली के द्वारा गोसर्ग की उक्त छह घड़ी से पहले रात्रि में ही उसका विधान

कर दिया है। इससे इन पद्यों के परिवर्तन की निरर्थकता स्पष्ट है और साथ ही सोमसेनजी की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल जाता है।

(ग) परिवर्तित और अपरिवर्तित मन्त्र।

इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में, एक स्थान पर, दशदिक्पालों को प्रसन्न करने के मन्त्र देते हुए, लिखा है:—

> ततोऽपि मुकुलितकरकुड्मलः सन् " ॐ नमोऽर्हते भगवते श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्व—रोगापमृत्युविनाशनाय सर्व परकृत क्षुद्रोपद्रवविनाशनाय मम सर्वशान्तिर्भवतु " इत्युच्चार्य—

इसके बाद-'पूर्वस्यां दिशि इन्द्रः प्रसीदतु, आग्नेयां दिशि अग्निः प्रसीदतु, दक्षिणस्यां दिशि यमः प्रसीदतु' इत्यादि रूप से वे प्रसन्नता सम्पादन कराने वाले दसों मन्त्र दिये हैं। ये सब मन्त्र वेही हैं जो ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी दिये हुए हैं, सिर्फ 'उत्तरस्यां दिशि कुवेरः प्रसीदतु' नामक मन्त्र में कुवेरः की जगह यहाँ 'यक्षः' पद का परिवर्तन पाया जाता है। परन्तु इन मन्त्रों से पहले 'ततोऽपिमुकुलितकरकुड्मलः सन्' और 'इत्युच्चार्य' के मध्य का जो मंत्र पाठ है वह ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार में निम्न प्रकार से दिया हुआ है:-

> ॐ नमोऽर्हते श्रीशांतिनाथाय शांतिकराय सर्व शांतिर्भवतु स्वाहा। *

---

* इस मंत्र में जिन विशेषण पदों को बढ़ाकर इसे ऊपर का रूप दिया गया है उसे सोमसेनजी के उस विशेष कथन का एक नमूना समझना चाहिये जिसकी सूचना उन्होंने अध्याय के अन्त में निम्न पद्य द्वारा की है—

> श्री ब्रह्मसूरि द्विजवंश रत्नं श्री जैनमार्ग प्रतिबुद्धतत्त्वः।
> वाचंतु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

इस प्रदर्शन से यह स्पष्ट जाना जाता है कि सोमसेनजी इन किया मंत्रों को ऐसे आर्ष मंत्र नहीं समझते थे जिनके अक्षर ऊँचेतुले अथवा गिने चुने होते हैं और जिनमें अक्षरों की कमी बेशी आदि के कारण कितनी ही विडम्बना होजाया करती है अथवा यों कहिये कि यथेष्ट फल संघटित नहीं होसकता। वे शायद इन मंत्रों को इतना साधारण समझते थे कि अपने जैसों को भी उनके परिवर्तन का अधिकारी मानते थे। यही वजह है जो उन्होंने उक्त दोनों मंत्रों में और इसी तरह और भी बहुत से मंत्रों में अपनी इच्छानुसार तबदीली अथवा न्यूनाधिकता की है, जिस सबको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मंत्रों का भी इस ग्रंथ में कुछ ठिकाना नहीं—अनेक देवताओं के पूजा मंत्रों को छोड़कर, नहाने, धोने, कुल्ला दाँतन करने, खाने, पीने, वस्त्र पहनने, चलने फिरने, उठने बैठने और हगने मूतने आदि बात बात के मंत्र पाये जाते हैं-मंत्रों का एक खेलसा नजर आता है-और उनकी रचना का ढंग भी प्रायः बहुत कुछ सीधा सादा तथा आसान है। ॐ, ह्रीं, अर्हं स्वाहा आदि दो चार अक्षर इधर उधर जोड़ कर और कहीं कहीं कुछ विशेषण पद भी साथ में लगाकर संस्कृत में वह बात कहदीगई है जिस विषय का कोई मंत्र है। ऐसे कुछ मंत्रों का सारांश यदि हिन्दी में दे दिया जाय तो पाठकों को उन मंत्रों की जाति तथा प्रकृति आदि के समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। अतः नीचे ऐसे ही कुछ मंत्रों का हिन्दी में दिग्दर्शन कराया जाता है—

१ ॐ ह्रीं, हे यहाँ के क्षेत्रपाल! क्षमा करो, मुझे मनुष्य जानो, इस स्थान से चले जाओ, मैं यहाँ मल मूत्र का त्याग करता हूँ, स्वाहा।

२ ॐ, इन्द्रों के मुकुटों की रत्नप्रभा से प्रक्षालित पाद पद्म अर्हन्तभगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से पैर धोता हूँ, स्वाहा।

३ ॐ ह्रीं क्ष्वीं ···, मैं हाथ धोता हूँ, स्वाहा।

४ ॐ ह्रीं क्ष्वीं क्ष्वीं, मैं मुँह धोता हूँ, स्वाहा ।

५ ॐ परम पवित्राय, मैं दन्तधावन (दाँतन कुल्ला) करता हूँ, स्वाहा ।

६ ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा, मैं स्नान करता हूँ, स्वाहा ।

७ ॐ ह्रीं, संसार सागर से निकले हुए अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं पानी से निकलता हूँ, स्वाहा ।

८ ॐ ह्रीं क्ष्वीं क्ष्वीं अर्हं हं सः परम पावनाय, मैं वस्त्र पवित्र करता हूँ, स्वाहा ।

९ ॐ, हे श्वेतवर्ण वाली, सर्व उपद्रवों को हरने वाली, सर्व महाजनों का मनोरंजन करने वाली, धोती दुपट्टा धारण करने वाली हं झं वं मं सं तं मैं धोती दुपट्टा धारण करता हूँ स्वाहा ।

१० ॐ भूर्भुवः स्वः असिआउसा, मैं प्राणायाम करता हूँ, स्वाहा ।

११ ॐ ह्रीं ...,मैं सिरके ऊपर पानी के छींटे देता हूँ, स्वाहा ।

१२ ॐ ह्रीं ....मैं चुल्लू में पानी लेता हूँ, स्वाहा ।

१३ ॐ ह्रीं ,मैं चुल्लू का अमृत (जल) पीता हूँ, स्वाहा ।

१४ ॐ ह्रीं अर्हं, मैं किवाड़ खोलता हूँ, स्वाहा ।

१५ ॐ ह्रीं अर्हं मैं द्वारपालको(भीतर जाने की)सूचना देताहूँ,स्वाहा ।

१६ ॐ ह्रीं, अर्हं ,मैं मंदिर में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा ।

१७ ॐ ह्रीं, मैं मुख वस्त्र को उघाड़ता हूँ, स्वाहा ।

१८ ॐ ह्रीं, अर्हं, मैं यागभूमि में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा ।

१९ ॐ ह्रीं, मैं बाजा बजाता हूँ, स्वाहा ।

२० ॐ ह्रीं...मैं पृथ्वी को पानी से धोकर शुद्ध करता हूँ, स्वाहा ।

२१ ॐ ह्रीं अर्हं क्ष्मं ठ ठ, मैं दर्भासन बिछाता हूँ, स्वाहा ।

२२ ॐ ह्रीं अर्हं निस्सही हूँ फट् मैं दर्भासन पर बैठता हूँ, स्वाहा ।

२३ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः, श्री अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से बरतन धोता हूँ, स्वाहा ।

२४ ॐ ह्रीं अर्हं...,मैं पूजा के द्रव्य को धोता हूँ स्वाहा।

२५ ॐ ह्रीं अर्हं....,मैं हाथ जोड़ता हूँ. स्वाहा।

२६ ॐ ह्रीं स्वक्षये. मैं कलश उठाता हूँ, स्वाहा।

२७ ॐ ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं, मैं दर्भ डालकर आग जलाता हूँ स्वाहा।

२८ ॐ ह्रीं. मैं पवित्र जलसे द्रव्य शुद्धि करता हूँ, स्वाहा।

२९ ॐ ह्रीं, मैं कुश ग्रहण करता हूँ, स्वाहा।

३० ॐ ह्रीं, मैं पवित्र गंधोदक को सिर पर लगाता हूँ, स्वाहा।

३१ ॐ ह्रीं..., मैं बालक को पालने में झुलाता हूँ, स्वाहा।

३२ ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा, मैं बालक को बिठलाता हूँ. स्वाहा।

३३ ॐ ह्रीं श्री अर्हं, मैं बालक के कान नाक बींधता हूँ, असि आ उ सा स्वाहा।

३४ ॐ मुक्ति शक्ति के देने वाले अर्हन्त भगवान को नमस्कार मैं बालक को भोजन कराता हूँ ...स्वाहा।

३५ ॐ ......, मैं बालक को पैर धरना सिखलाता हूँ, स्वाहा।

प्रायः ये सभी मंत्र ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी पाये जाते हैं और वहीं से उठाकर यहाँ रक्खे गये मालूम होते हैं। परंतु किसी २ मंत्र में कुछ अक्षरों की कमी बेशी अथवा तबदीली जरूर पाई जाती है और इससे उस विचार को और भी ज्यादा पुष्टि मिलती है जो ऊपर जाहिर किया गया है। साथ ही, यह मालूम होता है कि ये मंत्र जैन-समाज के लिये कुछ अधिक प्राचीन तथा रूढ नहीं हैं और न उसकी व्यापक प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुकूल ही जान पड़ते हैं। कितने ही मंत्रों की सृष्टि—उनकी नवीन कल्पना—भट्टारकी युग में हुई है और यह बात आगे चलकर स्पष्ट की जायगी।

(२) पं० आशाधर के ग्रंथों से भी कितने ही पद्य, इस त्रिवर्णाचार में, बिना नाम धाम के संग्रह किये गये हैं। छठे अध्याय में २२

और दसवें अध्याय में १३ पद्य सागार धर्मामृत से लिये गये हैं। इनमें से छठे अध्याय के दो पद्यों को छोड़कर, जिनमें कुछ परिवर्तन किया गया है, शेष ११ पद्य ऐसे हैं जो इन अध्यायों में ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। अनगारधर्मामृत से भी कुछ पद्य लिये गये हैं और आशाधर-प्रतिष्ठापाठ से भी कितने ही पद्यों का संग्रह किया गया है। छठे अध्याय के ११ पद्यों का आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ के साथ जो मुकाबला किया गया तो उन्हें ज्यों का त्यों पाया गया। इन पद्यों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

योग्य कालासनस्थानमुद्राऽऽवर्तशिरोनतिः।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥१-६३॥
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञो कल्पद्रुमो मतः ॥ ६-७१ ॥
जाती पुष्पसहस्राणि जप्त्वा द्वादश सद्दशः।
विधिनादत्त होमस्य विद्या सिद्धयति वर्णिनः ॥ ६-४ ॥

इनमें से पहला पद्य अनगारधर्मामृत के ८वें अध्याय का ७८ वाँ, दूसरा पद्य सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय का २८ वाँ और तीसरा पद्य आशाधर-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारोद्धार) के प्रथमाध्याय का १३ वाँ पद्य है। प्रतिष्ठापाठ के अगले नं० १४ से २४ तक के पद्य भी यहीं एक स्थान पर ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं।

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥ १-६४॥

यह अनगारधर्मामृत के आठवें अध्याय का २७ वाँ पद्य है। इसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है—'साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्' की जगह 'सर्वदा समता मम' ऐसा बदाया गया है। मालूम नहीं इस परिवर्तन की क्या ज़रूरत पैदा हुई और इसने कौनसी विशेषता

उत्पन्न की। बल्कि नियतकालिक सामायिक के अनुष्ठान में 'सर्वदा' शब्द का प्रयोग कुछ खटकता ज़रूर है।

मद्यमांसमधून्युज्झेत्पंचक्षीरफलानि च।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधाद्विदुः॥ ६-१६४॥

यह पद्य सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय के पद्य नं० २ और नं० ३ बनाया गया है। इसका पूर्वार्ध पद्य नं० २ का उत्तरार्ध और उत्तरार्ध पद्य नं० ३ का पूर्वार्ध है। साथ ही 'स्थूलवधादि वा' की जगह यहाँ 'स्थूलवधाद्विदुः' ऐसा परिवर्तन भी किया गया है। सागार-धर्मामृत के उक्त पद्य नं० २ का पूर्वार्ध है 'तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं' और पद्य नं० ३ का उत्तरार्ध है 'फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा।' ये दोनों पद्य १० वें अध्याय में ज्यों के त्यों उद्धृत भी किये गये हैं और वहाँ पर अष्टमूल गुणों का विशेष रूप से कथन भी किया गया है, फिर नहीं मालूम यहाँ पर यह अष्टमूल गुणों का कथन दोबारा क्यों किया गया है और इससे क्या लाभ निकाला गया। प्रकरण तो यहाँ खाद्य अखाद्य अथवा भोजन का था—कोल्हापुर की छपी हुई प्रति में 'अथ त्याज्या-खाद्यम्' ऐसा उक्त पद्य से पहले लिखा भी है—और उसके लिये इन आठ बातों का कथन उन्हें अष्टमूल गुण की संज्ञा न देते हुए भी किया जा सकता था और करना चाहिये था—ख़ासकर ऐसी हालत में जब कि इनके त्याग का मूलगुण रूप से आगे कथन करना ही था। इसके सिवाय दूसरे 'रागजीववधापाय'* नामक पद्य में जो परिवर्तन किया गया है वह बहुत ही साधारण है। उसमें 'रात्रिभक्तं' की जगह 'रात्रौभुक्तिः' बनाया गया है और यह बिलकुल ही निरर्थक परिवर्तन जान पड़ता है।

---

* यह सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय का १४ वाँ पद्य है और सोमसेन-त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय में नं० २०१ पर दर्ज है।

(२) इस ग्रंथ के दसवें अध्याय में रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के 'विषयाशावशातीतो' आदि साठ पद्य तो ज्यों के त्यों और पाँच पद्य कुछ परिवर्तन के साथ संग्रह किये गये हैं। परिवर्तित पद्यों में से पहला पद्य इस प्रकार है।

अष्टांगैः पालितं शुद्धं सम्यक्त्वं शिवदायकम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥ २८ ॥

यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्य रूपान्तर है। इसका उत्तरार्ध तो वही है जो उक्त २१ वें पद्य का है, परन्तु पूर्वार्ध को बिलकुल ही बदल डाला है और यह तबदीली साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही भद्दी मालूम होती है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्यका पूर्वार्ध है–

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।

पाठकजन देखें, इस पूर्वार्ध का उक्त पद्य के उत्तरार्ध से कितना गहरा सम्बन्ध है। यहाँ सम्यग्दर्शन की अंगहीनता जन्मसंतति को नाश करने में असमर्थ है और वहाँ उदाहरण में मंत्र की अक्षरन्यूनता विषवेदना को दूर करने में अशक्त है–दोनों में कितना साम्य, कितना सादृश्य और कितनी एकता है, इसे बतलाने की जरूरत नहीं। परन्तु खेद है कि भट्टारकजी ने इसे नहीं समझा और इसलिये उन्होंने रत्न के एक टुकड़े को अलग करके उसकी जगह काच जोड़ा है जो बिलकुल ही बेमेल तथा बेडौल मालूम होता है। दूसरे चार पद्यों की भी प्रायः ऐसी ही हालत है–इनमें जो परिवर्तन किया गया है वह व्यर्थ जान पड़ता है। एक पद्य में तो 'महाकुलाः' की जगह 'उत्तमकुलाः' बनाया गया है, दूसरे में 'ज्ञेयं पाखण्डिमोहनं' को 'ज्ञेयापाखण्डिमूढता' का रूप दिया गया है, तीसरे में 'स्मयमाहुर्गतस्मयाः' की जगह 'श्रीयते तन्मदाष्टकम्' यह चौथा चरण कायम किया गया है और चौथे पद्य में 'दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते'

के स्थान पर 'विघ्नन्ते कामदा नित्यम्' यह नवीन पद जोड़ा गया है और इससे मूलका प्रतिपाद्य विषय भी कुछ कम होगया है।

(४) श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराण से भी कितने ही पद्य उठाकर इस ग्रंथ में रक्खे गये हैं, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः।
कट्यूरुउरःशिरोलिंगमनूचानव्रतोचितम्॥ ६-६७॥
वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया।
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्यसौ॥ ६-८०॥

इनमें से पहला पद्य तो आदिपुराण के ३८ वें पर्व का १०९ वाँ पद्य है—इसके आगे के और भी कई पद्य ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं और दूसरा उसी पर्व के पद्य नं० १२५ के उत्तरार्ध और नं० १२६ के पूर्वार्ध को मिलाकर बनाया गया है। पद्य नं० १२५ का पूर्वार्ध और नं० १२६ का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार हैं—

कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम्॥ पू० १२५॥
स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः॥ उ० १२६॥

मालूम नहीं दोनों पद्यों के इन अंशों को क्यों छोड़ा गया और उसमें क्या लाभ सोचा गया। इस व्यर्थ की छोड़ छाड़ तथा काट छाँट का ही यह परिणाम है जो यहाँ व्रतावतरण क्रिया के कथन में उस सार्वकालिक व्रत का कथन छूट गया है जो आदिपुराण के 'मधुमांस परित्यागः' नामक १२३ वें पद्य में दिया हुआ है*। और इसलिये

---

* 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले आदिपुराण का वह १२३ वाँ पद्य इस प्रकार है—

मधुमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्॥

उक्त ८० वें पद्य से पहले आदिपुराण का जो १२४ वाँ पद्य उद्धृत किया गया है वह एक प्रकार से बेढंगा तथा असंगत जान पड़ता है। वह पद्य इस प्रकार है—

व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम्।
वत्सरात् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परम् ॥९-७६॥

इसमें 'इदं' शब्द का प्रयोग बहुत खटकता है और वह पूर्वकथन को 'व्रतावतरण' क्रिया का कथन बतलाता है परन्तु ग्रन्थ में वह 'व्रतचर्या' का कथन है और 'व्रतचर्यामहं वक्ष्ये' इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य से प्रारम्भ होता है। अतः भट्टारकजी की इस काट छाँट और उठाई धरी के कारण दो क्रियाओं के कथन में कितना गोलमाल होगया है, इसका अनुभव विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं और साथ ही यह जान सकते हैं कि भट्टारकजी काट छाँट करने में कितने निपुण थे।

(५) श्रीशुभचन्द्राचार्य-प्रणीत 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ से भी इस त्रिवर्णाचार में कुछ पद्यों का संग्रह किया गया है। पहले अध्याय के पाँच पद्यों को जाँचने से मालूम हुआ कि उनमें से तीन पद्य तो ज्यों के त्यों और दो कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। ऐसे पद्यों में से एक एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है:—

चतुर्वर्णमयं मंत्रं चतुर्वर्गफलप्रदम्।
चतुःशतं जपेद्योगी चतुर्थस्य फलं भवेत् ॥ ७५ ॥
विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम्।
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ ७६ ॥

ये दोनों पद्य ज्ञानार्णव के ३८ वें प्रकरण के पद्य हैं और वहाँ क्रमशः नं० ५१ तथा ५० पर दर्ज हैं—यहाँ इन्हें आगे पीछे उद्धृत किया गया है। इनमें से दूसरा पद्य तो ज्यों का त्यों उठा कर रक्खा

गया है और पहले पद्य के उत्तरार्ध में कुछ परिवर्तन किये गये हैं— 'चतुःशतं' की जगह 'चतूरात्रं', 'जपन्' की जगह 'जपेत्' और 'लभेत्' की जगह 'भवेत्' बनाया गया है। इन परिवर्तनों में से पिछले दो परिवर्तन निरर्थक हैं—उनकी कोई जरूरत ही न थी—और पहला परिवर्तन ज्ञानार्णव के मतसे विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है ×। ज्ञानार्णव के अनुसार 'चतुरक्षरी मंत्र का चारसौ संख्या प्रमाण जप करने वाला योगी एक उपवास के फलको पाता है' परन्तु यहाँ, जाप्य की संख्या का कोई नियम न देते हुए, चार रात्रि तक जप करने का विधान किया गया है और तब कहीं एक उपवास * का फल होना लिखा है। इससे

× वह प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार है—

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मतम्।

* पं० पन्नालालजी सोनी ने अपने अनुवाद में, "चार रात्रि पर्यंत जप करें तो उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है" ऐसा लिखा है और इससे यह जाना जाता है कि आपने उक्त ७५ वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'चतुर्थ' शब्दका अर्थ उपवास न समझकर 'मोक्ष' समझा है! परन्तु यह आपकी बड़ी भूल है—मोक्ष इतना सस्ता है भी नहीं। इस पारिभाषिक शब्दका अर्थ यहाँ 'मोक्ष' (चतुर्थवर्ग) न होकर 'चतुर्थ' नाम का उपवास है, जिसमें भोजन की चतुर्थ वेला तक निराहार रहना होता है। ७६ वें पद्य में 'प्रागुक्तं' पद के द्वारा जिस पूर्व-कथित फल का उल्लेख किया गया है उसे ज्ञानार्णव के पूर्ववर्ती पद्य नं० ४६ में 'चतुर्थतपसः फलं' लिखा है। इससे 'चतुर्थस्य फलं' और 'चतुर्थतपसः फलं' दोनों एकार्थवाचक पद हैं और वे पूरे एक उपवास-फल के द्योतक हैं। पं० पन्नालालजी बाकलीवाल ने भी ज्ञानार्णव के अपने अनुवाद में, जिसे उन्होंने पं० जयचन्दजी की

दोनों में परस्पर कितना अन्तर है और उससे प्रतिज्ञा में कहाँतक विरोध आता है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इस अध्याय में और भी कितने ही कथन ऐसे हैं जो ज्ञानार्णव के अनुकूल नहीं हैं। उनमें से कुछ का परिचय आगे चलकर यथास्थान दिया जायगा।

(६) एकसंधि भट्टारक की 'जिनसंहिता' से भी कितने ही पद्यादिकों का संग्रह किया गया है और उन्हें प्रायः ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर अनेक स्थानों पर रक्खा गया है। चौथे अध्याय में ऐसे जिन पद्यों का संग्रह किया गया है उनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे।
प्राप्य ये पूजनाङ्गत्वं पवित्रत्वमुपागताः॥ ११५॥
ते त्रयोऽपि प्रणेतव्याः कुण्डेष्वेषु महानयम्।
गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धया॥ ११६॥

भाषा-टीका का 'अनुकरण मात्र' लिखा है, 'चतुर्थ' का अर्थ अनेक स्थानों पर 'उपवास' दिया है। और प्रायश्चित ग्रंथों से तो यह बात और भी स्पष्ट है कि 'चतुर्थ' का अर्थ 'उपवास' है; जैसाकि 'प्रायश्चित्त चूलिका' की श्रीनन्दिगुरुकृत टीका के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

'त्रिचतुर्थानि त्रीणि चतुर्थानि त्रय उपवासा इत्यर्थः।'

'चतुर्थ उपवासः'। इससे सोनीजी की भूल स्पष्ट है और उसे इसलिये स्पष्ट किया गया है जिससे मेरे उक्त लिखने में किसी को भ्रम न हो सके। अन्यथा, उनके अनुवादकी भूलें दिखलाना यहाँ इष्ट नहीं है, भूलों से तो सारा अनुवाद भरा पड़ा है—कोई भी ऐसा पृष्ठ नहीं जिसमें अनुवाद की दसपाँच भूलें न हों—उन्हें कहाँतक दिखलाया जा सकता है। हाँ, मेरे लेखके विषय से जिन भूलोंका खास अथवा गहरा सम्बन्ध होगा उन्हें यथावसर स्पष्ट किया जायगा।

ये दोनों पद्य एकसंधि-जिनसंहिता के ७ वें परिच्छेद में क्रमशः नं० १६, १७ पर दर्ज हैं और वहीं से उठाकर रक्खे गये मालूम होते हैं। साथ में आगे पीछे के और भी कई पद्य लिये गये हैं। इनमें से पहला पद्य वहाँ ज्यों का त्यों और दूसरे में '**महानयम्**' की जगह '**महाध्वनयः**' तथा '**प्रसिद्धया**' की जगह '**प्रसिद्धयः**' ऐसा पाठ भेद पाया जाता है और ये दोनों ही पाठ ठीक जान पड़ते हैं। अन्यथा, इनके स्थान पर जो पाठ यहाँ पाये जाते हैं उन्हें पद्य के शेष भाग के साथ प्रायः असम्बद्ध कहना होगा। मालूम होता है ये दोनों पद्य संहिता में थोड़े से परिवर्तन के साथ आदिपुराण से लिये गये हैं। आदिपुराण के ४०वें पर्व में ये नं० ८३, ८४ पर दिये हुए हैं, सिर्फ पहले पद्य का चौथा चरण वहाँ '**पूजाङ्गत्वं समासाद्य**' है और दूसरे पद्य का पूर्वार्ध है—'**कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः**'। इनका जो परिवर्तन संहिता में किया गया है वह कोई अर्थविशेष नहीं रखता—उसे व्यर्थ का परिवर्तन कहना चाहिये।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि यह संहिता विक्रम की प्रायः १३ वीं शताब्दी की बनी हुई है और आदिपुराण विक्रम की ९ वीं १० वीं शताब्दी की रचना है।

(७) वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ से भी बहुत से पद्य लिये गये हैं। छठे अध्याय के १९ पद्यों की जाँच में ११ पद्य ज्यों के त्यों और ८ पद्य कुछ बदले हुए पाये गये। इनमें से तीन पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

> सन्त्यैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्।
> न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद् दृष्टिप्रकाशनम्॥ ३३॥
> अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टेर्भयं तथा।
> अधस्तात्सुतनाशं च भार्यामरणमूर्ध्वदृक्॥ ३४॥

शोकमुद्वेगसन्तापं सदा कुर्याद्धनक्षयम् ।
शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थशान्तिवृद्धिप्रदानदृक् ॥ ३५ ॥

ये तीनों पद्य वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ (प्रतिष्ठासारसंग्रह) के चौथे परिच्छेद के पद्य हैं और उसमें क्रमशः नं० ७२, ७५, ७६, पर दर्ज हैं। इनमें पहला पद्य ज्यों का त्यों और शेष दोनों पद्य कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। दूसरे पद्य में 'दृष्टिर्भयं' की जगह 'दृष्टेर्भयं', 'तथा' की जगह 'तदा' और 'ऊर्ध्वगा' की जगह 'ऊर्ध्वदृक्' बनाया गया है। और तीसरे पद्य में 'स्तब्धा' की जगह 'सदा' और 'प्रदा भवेत्' की जगह 'प्रदानदृक्' का परिवर्तन किया गया है। ये सब परिवर्तन निरर्थक जान पड़ते हैं, 'तथा' की जगह 'तदा' का परिवर्तन भद्दा है और 'स्तब्धा' की जगह 'सदा' के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। यही वजह है जो पन्नालालजी सोनी ने, अपने अनुवाद में, स्तब्धा दृष्टि के फल को भी ऊर्ध्व दृष्टि के फल के साथ जोड़ दिया है—अर्थात् शोक, उद्वेग, सन्ताप और धनक्षय को भी ऊर्ध्वदृष्टि का फल बतला दिया है *।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि पहले पद्यमें जिस दृष्टि-प्रकाशन की प्रेरणा की गई है, जिनबिम्ब की वह दृष्टि कैसी होनी चाहिये उसे बतलाने के लिये प्रतिष्ठापाठ में उसके अनन्तर भी निम्नलिखित दो पद्य और दिये हुए हैं—

नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता ।
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः ॥ ७३ ॥

* यथा—"(प्रतिमा की) दृष्टि यदि ऊपरको हो तो स्त्री का मरण होता है और वह शोक, उद्वेग, सन्ताप और धनका क्षय करती है।"

नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका ।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्तव्या चोत्तमा तथा ॥ ७४ ॥

मालूम नहीं इन दोनों पद्यों को सोमसेनजी ने क्यों छोड़ा और क्यों इन्हें दूसरे पद्यों के साथ उद्धृत नहीं किया, जिनका उद्धृत किया जाना ऐसी हालत में बहुत जरूरी था और जिनके अस्तित्व के बिना अगला कथन कुछ अधूरा तथा लँडूरा सा मालूम होता है। सच है अच्छी तरह से सोचे समझे बिना योंही पद्यों की उठाईधरी करने का ऐसा ही नतीजा होता है।

(८) ग्रन्थ के दसवें अध्याय में वसुनन्दिश्रावकाचार से कुछ और गोम्मटसार से आठ गाथाएँ प्रायः ज्यों की त्यों उठाकर रक्खी गई हैं, जिनमें से एक एक गाथा नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

पुव्वुत्त णवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो ।
इत्थिकहादिणिवित्ती सत्तमं बंभचारी सो ॥ १२७ ॥
चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होइ सम्मत्तं ।
अणुव्वयमहव्वयाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥ ४१ ॥

इनमें से पहली गाथा वसुनन्दिश्रावकाचार की २९७ नम्बर की और दूसरी गोम्मटसार की ६५२ नम्बर की गाथा है। ये गाथाएँ भी किसी पूर्वकथित अर्थ का समर्थन करने के लिये 'उक्तं च' रूप से नहीं दी गईं बल्कि वैसे ही अपनाकर ग्रंथ का अंग बनाई गई हैं। प्राकृत की और भी कितनी ही गाथाएँ इस ग्रन्थ में पाई जाती हैं; वे सब भी 'मूलाचार' आदि दूसरे ग्रन्थों से उठाकर रक्खी गई हैं।

(९) भूपाल कवि-प्रणीत 'जिनचतुर्विंशतिका' स्तोत्र के भी कई पद्य ग्रन्थ में संगृहीत हैं। पहले अध्याय में 'सुप्तोत्थितेन' और 'श्रीलीलायतनं' चौथे में 'किसलयितसनल्पं' और 'देव

त्वदंघ्रि' तथा छठे में 'स्वामिन्नद्य' और 'दृष्टं धामरसायनस्य' नाम के पद्य ज्यों के त्यों उद्धृत पाये जाते हैं। और ये सब पद्य उक्त स्तोत्र में क्रमशः नं० १६, १, १३, १६, ३ और २५ पर दर्ज हैं।

(१०) सोमदेवसूरि-प्रणीत 'यशस्तिलक' के भी कुछ पद्योंका संग्रह पाया जाता है, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौरपर इस प्रकार हैं—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे पंचविंशतिः ॥१०-२६॥
श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्वम्।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥१०-११८॥

इनमें से पहला 'यशस्तिलक' के छठे आश्वास का और दूसरा आठवें आश्वास का पद्य है। पहले में 'शंकाद्यश्चेति दृग्दोषाः' की जगह 'शंकादयो दोषाः सम्यक्त्वे' का परिवर्तन किया गया है और दूसरे में 'शक्तिः' की जगह 'सत्वम्' बनाया गया है। ये दोनों ही परिवर्तन साहित्य की दृष्टि से कुछ भी महत्व नहीं रखते और न अर्थकी दृष्टि से कोई ख़ास भेद उत्पन्न करते हैं और इसलिये इन्हें व्यर्थ के परिवर्तन समझना चाहिये।

(११) इसीतरह पर और भी कितने ही जैनग्रंथों के पद्य इस त्रिवर्णाचार में फुटकर रूप से इधर उधर संगृहीत पाये जाते हैं, उनमें से दो चार ग्रंथों के पद्योंका एक २ नमूना यहाँ और दिये देता हूँ—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ ॥७-४॥

यह सोमप्रभाचार्यकी 'सूक्तमुक्तावली' का जिसे 'सिन्दूरप्रकर' भी कहते हैं, तीसरा पद्य है।

सूक्ष्माः स्थूलास्तथा जीवाः सन्त्युदुम्बरमध्यगाः।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्टं पंचोदुम्बरवर्जनम् ॥ १०-१०४ ॥

यह 'पूज्यपाद-उपासकाचार' का पद्य है और उसमें इसका संख्यानम्बर ११ है।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रंथान्निवर्तनम्।
पंचकाणुव्रतं रात्रिभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम्॥ १०-८५॥

यह चामुण्डराय-विरचित 'चारित्रसार' ग्रंथ के अणुव्रत-प्रकरण का अन्तिम पद्य है।

अन्हो मुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभोजनम्॥ १०-८६॥

यह हेमचन्द्राचार्य के 'योगशास्त्र' का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाश में नं० ६३ पर पाया जाता है। इसमें 'त्यजन्' की जगह 'त्यजेत्' और 'पुण्यभाजनम्' की जगह यहाँ 'पुण्यभोजनम्' बनाया गया है। पद्यका यह परिवर्तन कुछ अच्छा मालूम नहीं होता। इससे 'सुबह शामकी दो दो घड़ी छोड़कर दिनमें भोजन करनेवाला मनुष्य पुण्यका भाजन (पात्र) होता है' की जगह यह आशय हो गया कि 'जो सुबह शामकी दो दो घड़ी छोड़ता है वह पुण्य भोजन * करता है, और यह आशय अथवा कथनका ढंग कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होता।

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना
निन्द्यां चेष्टां विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तद्वाधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयात्
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति॥ ६-११७॥

यह मद्यपान के दोषको दिखाने वाला पद्य पद्मनन्दि-आचार्य-विरचित 'पद्मनन्दिपंचविंशति' का २२ वाँ पद्य है।

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने भी, अपने अनुवाद में, यही लिखा है कि "वह पुरुष पुण्यभोजन करता है।"

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥ १०-७४ ॥

यह पद्य 'राजवार्तिक' के ७ वें अध्याय में 'उक्तं च' रूप से दिया हुआ है और इसलिये किसी प्राचीन ग्रंथ का पद्य जान पड़ता है। हाँ, राजवार्तिक में 'कषायवान्' की जगह 'प्रमादवान्' पाठ पाया जाता है, इतना ही दोनों में अन्तर है।

यह तो हुई जैनग्रंथों से संग्रह की बात, और इसमें उन जैन-विद्वानों के वाक्यसंग्रह का ही दिग्दर्शन नहीं हुआ जिनके ग्रंथों को देखकर उनके अनुसार कथन करने की—न कि उनके शब्दों को उठा कर ग्रंथ का अंग बनाने की—प्रतिज्ञाएँ अथवा सूचनाएँ की गई थीं बल्कि उन जैन विद्वानों के वाक्यसंग्रह का भी दिग्दर्शन होगया जिनके वाक्यानुसार कथन करने की बात तो दूर रही, ग्रंथ में उनका कहीं नामोल्लेख तक भी नहीं है। नं० ६ के बाद के सभी उल्लेख ऐसे ही विद्वानों के वाक्य-संग्रह को लिये हुए हैं।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि इस संपूर्ण जैनसंग्रह में ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार जैसे दो एक समकक्ष ग्रंथों को छोड़कर शेष ग्रंथों से जो कुछ संग्रह किया गया है वह उस क्रियाकांड तथा विचारसमूह के साथ प्रायः कोई खास मेल अथवा सम्बंधविशेष नहीं रखता जिसके प्रचार अथवा प्रसार को लक्ष्य में रखकर ही इस त्रिवर्णाचार का अवतार हुआ है और जो बहुत कुछ दूषित, त्रुटिपूर्ण तथा आपत्ति के योग्य है। उसे बहुधा त्रिवर्णाचार के मूल अभिप्रेतों या प्रधानतः प्रति-पाद्य विषयों के प्रचारादि का साधनमात्र समझना चाहिये अथवा यों कहना चाहिये कि वह खोटे, जाली तथा अल्प मूल्य सिक्कों को चलाने के लिये उनमें खरे, गैर जाली तथा बहुमूल्य सिक्कों का संमिश्रण है और कहीं कहीं मुलम्मे का काम भी देता है, और इसलिये एक प्रकार का धोखा है।

इस धोखे से सावधान करने के लिये ही यह परीक्षा की जारही है और यथार्थ वस्तुस्थिति को पाठकों के सामने रखने का यत्न किया जाता है। अस्तु।

अब उस संग्रह की भी बानगी लीजिये जो अजैन विद्वानों के ग्रंथों से किया गया है और जिसके विषय की न कहीं कोई प्रतिज्ञा और न तत्सम्बंधी विद्वानों के नामादिक की कहीं कोई सूचना ही ग्रंथ में पाई जाती है। प्रत्युत इसके, जैनसाहित्य के साथ मिलाकर अथवा जैनाचार्यों के वाक्यानुसार बतलाकर, उसे भी जैनसाहित्य प्रकट किया गया है।

अजैन ग्रंथों से संग्रह।

(१२) अजैन विद्वानों के ग्रंथों से जो विशाल संग्रह भट्टारकजी ने इस ग्रंथ में किया है—उनके सैंकड़ों पद-वाक्यों को ज्यों का त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठाकर रक्खा है—उस सबका पूरा परिचय यदि यहाँ दिया जाय तो लेख बहुत बढ़ जाय, और मुझे उनमें से कितने ही पद-वाक्यों को आगे चलकर, विरुद्ध कथनों के अवसर पर, दिखलाना है—वहाँ पर उनका परिचय पाठकों को मिलेगा ही। अतः यहाँ पर नमूने के तौर पर, कुछ थोड़े से ही पद्यों का परिचय दिया जाता है:—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ८-४६ ॥

यह पद्य, जिसमें भार्या से भर्तार के और भर्तार से भार्या के नित्य सन्तुष्ट रहने पर कुल में सुनिश्चित रूप से कल्याण का विधान किया गया है, 'मनु' का वचन है, और 'मनुस्मृति' के तीसरे अध्याय में नं० ६० पर दर्ज है। वहीं से ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा गया मालूम होता है।

मांत्रं भौमं तथाऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानान्यनुक्रमात् ॥ ३-४२ ॥

इस श्लोक में स्नान के सात भेद बतलाये गये हैं—मंत्र स्नान, भूमि (मृत्तिका) स्नान, अग्नि (भस्म) स्नान, वायुस्नान, दिव्यस्नान, जलस्नान तथा मानसस्नान—और यह 'योगि याज्ञवल्क्य' का वचन है। विठ्ठलात्मजनारायण कृत 'आन्हिकसूत्रावलि' में तथा श्रीवेङ्कटनाथ-रचित 'स्मृतिरत्नाकर' में भी इसे योगियाज्ञवल्क्य का वचन बतलाया है और 'शब्द कल्पद्रुम' कोश में भी 'स्नान' शब्द के नीचे यह उन्हीं के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासां तटे न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥ ७८॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रातः स्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजो दोषो न विद्यते॥ ७९॥
धनुस्सहस्राण्यष्टौ तु गतिर्यासां न विद्यते।
न ता नद्यः समाख्याता गर्तास्ताः परिकीर्तिताः॥ ८०॥
—तृतीय अध्याय।

ये तीनों पद्य जरा २ से परिवर्तन के साथ 'कात्यायन स्मृति' से लिये गये मालूम होते हैं और उक्त स्मृति के दसवें खण्ड में क्रमशः नं० ५, ७ तथा ६ पर दर्ज हैं। 'आन्हिक सूत्रावलि' में भी इन्हें 'कात्यायन' ऋषि के वचन लिखा है। पहले पद्य में 'मासद्वयं श्रावणादि' की जगह 'सिंहकर्कटयोर्मध्ये' और 'तासुस्नानं' की जगह 'तासांतटे' बनाया गया है, दूसरे में 'प्रेतस्नाने' की जगह 'प्रातःस्नाने' का परिवर्तन किया गया है और तीसरे में 'नदीशब्दवहाः' की जगह 'नद्यः समाख्याताः' ऐसा पाठ भेद किया गया है। इन चारों परिवर्तनों में पहला और अन्त का दोनों परिवर्तन तो प्रायः कोई अर्थभेद नहीं रखते परन्तु शेष दूसरे और तीसरे परिवर्तन ने बड़ा भारी अर्थभेद उपस्थित कर दिया है। कात्यायन

स्मृतिकार ने, श्रावण भादों में सब नदियों को रजस्वला बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'उनमें (समुद्रगामिनी नदियों को छोड़कर) स्नान न करना चाहिये।' भट्टारकजी ने इसकी जगह, अपने परिवर्तन द्वारा, यह विधान किया है कि 'उनके तट पर न करना चाहिये।' परंतु क्या न करना चाहिये, यह उक्त पद्य से कुछ जाहिर नहीं होता। हाँ, इससे पूर्व पद्य नं० ७७ में आपने तीर्थ तट पर **प्राणायाम, आचमन, संध्या, श्राद्ध और पिण्डदान** करने का विधान किया है और इसलिये उक्त पद्य के साथ संगति मिलाने से यह अर्थ हो जाता है कि ये प्राणायाम आदि की क्रियाएँ रजस्वला नदियों के तट पर नहीं करनी चाहिये—भले ही उनमें स्नान कर लिया जाय। परन्तु ऐसा विधान कुछ समीचीन अथवा सहेतुक मालूम नहीं होता और इसलिये इसे भट्टारकजी के परिवर्तन की ही खूबी समझना चाहिये। तीसरे परिवर्तन की हालत भी ऐसी ही है। स्मृतिकार ने जहाँ **'प्रेतस्नान'** के अवसर पर नदी का रजस्वला दोष न मानने की बात कही है वहाँ आपने **'प्रातः स्नान'** के लिये रजस्वला दोष न मानने का विधान कर दिया है। स्नान प्रधानतः प्रातःकाल ही किया जाता है, उसीकी आपने छुट्टी देदी है, और इसलिये यह कहना कि आपके इस परिवर्तन ने स्नान के विषय में नदियों के रजस्वला दोष को ही प्रायः उठा दिया है कुछ भी अनुचित न होगा।

कृत्वा यज्ञोपवीतं च पृष्ठतः कण्ठलम्बितम्।
विण्मूत्रे तु गृही कुर्याद्वामकर्णे व्रतान्वितः ॥ २-२७ ॥

यह **'अंगिरा'** ऋषि का वचन है। 'आन्हिकसूत्रावलि' में भी इसे अंगिरा का वचन लिखा है। इसमें **'समाहितः'** की जगह **'व्रतान्वितः'** का परिवर्तन किया गया है और वह निरर्थक जान पड़ता है। यहाँ **'व्रतान्वितः'** पद यद्यपि **'गृही'** पद का विशेषण

में इसे 'आन्हिक कारिका' का वचन लिखा है और इसका उत्तरार्ध 'उपवीतं सदा धार्यं मैथुने तूपवीतिवत्' दिया है। भट्टारकजी ने उस उत्तरार्ध को 'धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा' के रूप में बदल दिया है। परन्तु इस संग्रह और परिवर्तन के अवसर पर उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहा कि जब वह दो विद्वानों के परस्पर मतभेद को लिये हुए वचनों को अपना रहे हैं तो उन्हें अपने ग्रन्थविरोध को दूर करने के लिये कोई ऐसा शब्द प्रयोग साथ में जरूर करना चाहिये जिससे ये दोनों विधिविधान विकल्प रूप से समझे जायँ। और यह सहज ही में 'तथा' की जगह 'ऽथवा' शब्द रखदेने से भी हो सकता था। भट्टारकजी ने ऐसा नहीं किया, और इससे उनकी संग्रह तथा परिवर्तन सम्बंधी योग्यताका और भी अच्छा परिचय मिल जाता है।

> अर्धबिल्वफलमात्रा प्रथमा मृत्तिका मता।
> द्वितीया तु तृतीया तु तदर्धार्धा प्रकीर्तिता ॥ २-५० ॥
> शौचे यत्नः सदा कार्यः शौचमूलो द्विजः स्मृतः।
> शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः ॥ २-५६ ॥
> अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
> स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातः स्नानं विशोधनम् ॥ २-६८ ॥

ये 'दक्षस्मृति' के वाक्य हैं। तीसरा पद्य दक्षस्मृति के दूसरे अध्याय से ज्यों का त्यों उठा कर रक्खा गया है—शब्दकल्पद्रुम कोश में भी इसे 'दक्ष' ऋषि का वचन लिखा है। दूसरा पद्य उक्त स्मृति के पाँचवें अध्याय का पद्य है और उसमें नं० २ पर दर्ज है—स्मृतिरत्नाकर में भी वह 'दक्ष' के नाम से उद्धृत पाया जाता है—उसमें सिर्फ 'द्विजः' की जगह 'गृही' का परिवर्तन किया गया है। पहला पद्य भी पाँचवें अध्यायका ही पद्य है और उसमें

है और इस श्लोक में गृहस्थ के लिये मलमूत्र के त्याग समय यज्ञोपवीत को बाएँ कान पर रखकर पीठ की तरफ़ लम्बायमान करने का विधान किया गया है परन्तु पं० पन्नालालजी सोनी ने ऐसा नहीं समझा और इसलिये उन्होंने इस पद्य के विषय को विभिन्न व्यक्तियों (व्रती-अव्रती) में बाँटकर इसका निम्न प्रकार से अनुवाद किया है—

"गृहस्थजन अपने यज्ञोपवीत (जनेऊ) को गर्दन के सहारे से पीठ पीछे लटकाकर टट्टी पेशाब करे और व्रती श्रावक बाएँ कान में लगाकर टट्टी पेशाब करे।"

इससे मालूम होता है कि सोनीजी ने यज्ञोपवीत दीक्षा से दीक्षित व्यक्ति को 'अव्रती' भी समझा है। परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने तो 'व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं' आदि वाक्यों के द्वारा यज्ञोपवीत को व्रतचिह्न बतलाया है तब सर्वथा 'अव्रती' के विषय में जनेऊ की कल्पना कैसी? परन्तु इसे भी छोड़िये, सोनीजी इतना भी नहीं समझ सके कि जब इस पद्य के द्वारा यह विधान किया जारहा है कि व्रती श्रावक तो जनेऊ को बाएँ कान पर रखकर और अव्रती उसे योंही पीठ पीछे लटका कर टट्टी पेशाब करे तो फिर अगले पद्य में यह विधान किसके लिये किया गया है कि जनेऊ को पेशाब के समय तो दाहिने कान पर और टट्टी के समय बाएँ कान पर टाँगना चाहिये। यही वजह है जो आप इन दोनों पद्यों के पारस्परिक विरोध का कोई स्पष्टीकरण भी अपने अनुवाद में नहीं करसके। अस्तु; वह अगला पद्य इस प्रकार है—

मूत्रे तु दक्षिणे कर्णे पुरीषे वामकर्णके।
धारयेद्ब्रह्मसूत्रं तु मैथुने मस्तके तथा॥ २८॥

इस पद्य का पूर्वार्ध, जो पहले पद्य के साथ कुछ विरोध उत्पन्न करता है, वास्तव में एक दूसरे विद्वान का वचन है। आन्हिक सूत्रावलि

नं० ७ पर दर्ज है। इस पद्य में "प्रसृतिमात्रा तु" की जगह 'बिल्वफलमात्रा', 'च' की जगह 'तु' और 'तदर्धा परिकीर्तिता' की जगह 'तदर्धार्धा प्रकीर्तिता' ये परिवर्तन किये गये हैं, जो साधारण हैं और कोई खास महत्व नहीं रखते। यह पद्य अपने दक्षस्मृति वाले रूप में ही आचारादर्श और शुद्धिविवेक नामके ग्रन्थों में 'दक्ष' के नाम से उल्लेखित मिलता है।

अन्तर्गृहे देवगृहे वल्मीके मूषकस्थले।
कृतशौचावशिष्टे च न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः ॥ २-४५ ॥

यह श्लोक जिसमें शौच के लिये पाँच जगह की मिट्टी को त्याज्य ठहराया है * 'शातातप' ऋषि के निम्न श्लोक को बदल कर बनाया गया मालूम होता है—

अन्तर्जलाद्देवगृहाद्वल्मीकान्मूषकगृहात्।
कृतशौचस्थलाच्चैव न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः ॥

यह श्लोक 'आन्हिक सूत्रावलि' में भी 'शातातप' के नाम से उद्धृत पाया जाता है।

अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथावपि।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिः प्रजायते ॥ २-७२ ॥

यह 'व्यास' ऋषिका वचन है। स्मृतिरत्नाकर और निर्णयसिन्धु में भी इसे 'व्यास' का वचन लिखा है। हाँ, इसके पूर्वार्ध में 'प्रतिषिद्धदिनेष्वपि' की जगह 'निषिद्धायां तिथावपि' और उत्तरार्ध में 'भविष्यति' की जगह 'प्रजायते' ऐसा पाठ भेद यहाँ पर जरूर पाया जाता है जो बहुत कुछ साधारण है और कोई खास अर्थभेद नहीं रखता।

ग्रंथ के दूसरे अध्याय में, मल–मूत्र के लिये निषिद्ध स्थानों का वर्णन करते हुए, एक श्लोक निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

हलकृष्टे जले चित्यां वल्मीके गिरिमस्तके।
देवालये नदीतीरे दर्भपुष्पेषु शाड्वले ॥ २२ ॥

यह 'बौधायन' नाम के एक प्राचीन हिन्दू लेखक का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी यह 'बौधायन' के नाम से ही उद्धृत मिलता है। इसमें 'फालकृष्टे' की जगह यहाँ 'हलकृष्टे' और 'दर्भपृष्ठे तु' की जगह 'दर्भपुष्पेषु' बनाया गया है, और ये दोनों ही परिवर्तन कोई खास महत्व नहीं रखते—बल्कि निरर्थक जान पड़ते हैं।

प्रभाते मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने।
स्नाने च भोजने वान्त्यां सप्तमौनं विधीयते ॥ ९-३१ ॥

यह पद्य, जिसमें सात अवसरों पर मौन धारण करने की व्यवस्था की गई है—यह विधान किया गया है कि १ प्रातःकाल, २ मैथुन, ३ मूत्र, ४ दन्तधावन, ५ स्नान, ६ भोजन, और ७ वमन के अवसर पर मौन धारण करना चाहिये—'हारीत' ऋषि के उस वचन पर से कुछ परिवर्तन करके बनाया गया है, जिसका पूर्वार्ध 'प्रभाते' की जगह 'उच्चारे' पाठभेद के साथ बिलकुल वही है जो इस पद्य का है और उत्तरार्ध है 'श्राद्धे (स्नाने†) भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत्।' और जो 'आन्हिकसूत्रावलि' में भी 'हारीत' के नाम से उद्धृत पाया जाता है। इस पद्य में 'उच्चारे' की जगह 'प्रभाते'

---

* इस श्लोक के बाद 'मलमूत्रसमीपे' नाम का एक पद्य और भी पंचमृत्तिका के निषेध का है और उसका अन्तिम चरण भी 'न ग्राह्याः पंचमृत्तिकाः' है। वह किसी दूसरे विद्वान की रचना जान पड़ता है।

† 'श्राद्धे' की जगह 'स्नाने' ऐसा पाठभेद भी पाया जाता है। देखो 'शब्द कल्पद्रुम'।

का जो खास परिवर्तन किया गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा विलक्षण जान पड़ता है और उससे मलत्याग के अवसर पर मौन का विधान न रहकर प्रातःकाल के समय मौन का विधान हो जाता है; जिसकी संगति कहीं से भी ठीक नहीं बैठती। मालूम होता है सोनीजी को भी इस पंथकी विलक्षणता कुछ खटकी है और इसीलिये उन्होंने, पद्यकी असलियत को न पहचानते हुए, यों ही अपने मनगढ़न्त 'प्रभाते' का अर्थ **"सामायिक करते समय"** और 'प्रस्रावे' का अर्थ **"टट्टी पेशाब करते समय"** दे दिया है, और इस तरह से अनुवाद की भर्ती द्वारा भट्टारकजी के पद्य की त्रुटि को दूर करने का कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु आपके ये दोनों ही अर्थ ठीक नहीं हैं—**'प्रभात'** का अर्थ **'प्रातःकाल'** है न कि **'सामायिक'** और **'प्रस्राव'** का अर्थ **'मूत्र'*** है न कि **'मल-मूत्र'** (टट्टी पेशाब) दोनों। और इसलिये अनुवाद की इस लीपापोती द्वारा मूल की त्रुटि दूर नहीं हो सकती और न विद्वानों की नजरों से वह छिप ही सकती है। हाँ, इतना जरूर स्पष्ट हो जाता है कि अनुवादकजी में सत्य अर्थ को प्रकाशित करने की कितनी निष्ठा, तत्परता और क्षमता है।

> खदिरश्च करंजश्च कदम्बश्च वटस्तथा।
> तिंतिणी वेणुवृक्षश्च निम्ब आम्रस्तथैव च ॥ २-६३ ॥
> अपामार्गश्च बिल्वश्च ह्यर्क आमलकस्तथा।
> एते प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि ॥ २-६४ ॥

ये दोनों पद्य, जिनमें दाँतन के लिये उत्तम काष्ठ का विधान किया गया है 'नरसिंहपुराण' के वचन हैं। आचारादर्श नामक ग्रंथ में भी इन्हें 'नरसिंहपुराण' के ही वाक्य लिखा है। इनमें से पहले पद्य में 'आम्रनिम्बौ' की जगह 'निम्ब आम्रः' का तथा 'वेणुपृष्ठश्च' की जगह 'वेणुवृक्षश्च' का पाठभेद पाया जाता है, और दूसरे पद्य

में 'अर्कश्चोदुम्बरः' की जगह 'अर्क आमलकः' ऐसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है। दोनों पाठभेद साधारण हैं, और परिवर्तित पद के द्वारा उदुम्बर काष्ठ की जगह आँवले की दाँतन का विधान किया गया है।'

> कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च कुकुन्दराः।
> गोधूमा व्रीहयो मुञ्जा दश दर्भाः प्रकीर्तिताः॥ ३-८१॥

यह 'गोभिल' ऋषि का वचन है। स्मृतिरत्नाकर में भी इसे 'गोभिल' का वचन लिखा है। इसमें 'गोधूमाश्चाथ कुन्दराः' की जगह 'उशीराश्च कुकुंदराः' और 'उशीराः' की जगह 'गोधूमाः' का परिवर्तन किया गया है, जो व्यर्थ जान पड़ता है; क्योंकि इस परिवर्तन से कोई अर्थभेद उत्पन्न नहीं होता—सिर्फ दो पदों का स्थान बदल जाता है।

> एकपंक्त्युपविष्टानां धर्मिणां सहभोजने।
> यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषैरन्नं न भुज्यते॥ ६-२२०।

यह पद्य, जिसमें सहभोजन के अवसर पर एक पंक्ति में बैठे हुए किसी एक व्यक्ति के भी पात्र छोड़ देने पर शेष व्यक्तियों के लिये भोजन-त्याग का विधान किया गया है, ज़रा से परिवर्तन के साथ 'पराशर' ऋषि का वचन है और वह परिवर्तन 'विप्राणां' की जगह 'धर्मिणां' और 'शेषमन्नं न भोजयेत्' की जगह 'शेषैरन्नं न भुज्यते' का किया गया है, जो बहुत कुछ साधारण है।

---

*पर्यायः—१ 'मूत्रं प्रस्रावः'—इति अमरकोशः।
२ 'प्रस्रावः सूत्रं'—इति शब्दकल्पद्रुमः।
३ 'उच्चारप्रस्रवणेत्यादि' उच्चारः पुरीषः प्रस्रवणं मूत्रं।
—इति क्रियाकलापटीकायां प्रभाचन्द्रः।

आन्हिकसूत्रावलि और स्मृतिरत्नाकर नामके ग्रंथों में भी यह पद्य 'पराशर' ऋषि के नाम से ही उद्धृत पाया जाता है।

> स्वगृहे प्राक्शिरः कुर्याच्छ्वाशुरे दक्षिणामुखः ।
> प्रत्यङ्मुखः प्रवासे च न कदाचिदुदङ् मुखः ॥ ८-२४ ॥

यह पद्य, जिसमें इस बात का विधान किया गया है कि अपने घर पर तो पूर्व की तरफ सिर करके, सासके घर पर दक्षिण की ओर मुँह करके और प्रवास में पश्चिम की ओर मुँह करके सोना चाहिये तथा उत्तर की तरफ मुँह करके कभी भी न सोना चाहिये—थोड़े से परिवर्तनों के साथ—'गर्ग' ऋषि का वचन है। आन्हिकसूत्रावलि में इसे गर्ग ऋषि के नाम से जिस तरह पर उद्धृत किया है उससे मालूम होता है कि यहाँ पर इसमें 'शेते श्वाशुरे' की जगह 'कुर्याच्छ्वाशुरे' का, 'प्राक्शिराः' की जगह 'प्राक्शिरः' का, 'तु' की जगह 'च' का और पिछले तीनों चरणों में प्रयुक्त हुए प्रत्येक 'शिराः' पद की जगह 'मुखः' पद का परिवर्तन किया गया है। और यह सब परिवर्तन कुछ भी महत्व नहीं रखता—'शेते' की जगह 'कुर्यात्' का परिवर्तन भद्दा है और 'शिराः' पदों की जगह 'मुखः' पदों के परिवर्तन ने तो अर्थ का अनर्थ ही कर दिया है। किसी दिशा की ओर सिर करके सोना और बात है और उसकी तरफ मुँह करके सोना दूसरी बात है—एक दूसरे के विपरीत है। मालूम होता है भट्टारकजी को इसकी कुछ खबर नहीं पड़ी परन्तु सोनीजी ने खबर जरूर लेली है। उन्होंने अपने अनुवाद में मुख की जगह सिर बनाकर उनकी त्रुटि को दूर किया है और इस तरह पर सर्वसाधारण को अपनी सत्यार्थ-प्रकाशकता का परिचय दिया है।

> रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ।
> पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदेति वै रविः ॥ १३-६ ॥

यह पद्य, 'नोदेति चै' की जगह 'नोद्यते' पाठ भेद के साथ, 'कश्यप' ऋषि का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, 'यथाह कश्यपः' वाक्य के साथ, इसे 'कश्यप' ऋषि का वचन सूचित किया है।

पूर्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।

आयुर्हीननराणां च लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥ ११-८॥

यह 'सामुद्रक' शास्त्र का वचन है। शब्दकल्पद्रुम कोश में इसे किसी ऐसे सामुद्रक शास्त्र से उद्धृत किया है जिसमें श्रीकृष्ण तथा महेश का संवाद है और उसमें इसका तीसरा चरण 'आयुर्हीनं नराणां चेत्' इस रूप में दिया हुआ है।

महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः।

वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते॥ १३-६१॥

यह 'देशान्तर' का लक्षण प्रतिपादन करने वाला पद्य 'वृद्धमनु' का वचन है, ऐसा शुद्धिविवेक नामक ग्रंथ से मालूम होता है, जिसमें 'वृद्धमनुरप्याह' इस वाक्य के साथ यह उद्धृत किया गया है। यहाँ पर इसके चरणों में कुछ क्रम-भेद किया गया है—पहले चरण को तीसरे नम्बर पर और तीसरे को पहले नम्बर पर रक्खा गया है—बाकी पाठ सब ज्यों का त्यों है।

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।

श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकम्॥१३-७१॥

यह पद्य, जिसमें माता पिता की मृत्यु के समाचार सुनने पर दूर देशान्तर में रहने वाले पुत्र को समाचार सुनने के दिन से दस दिन का सूतक बतलाया गया है, 'पैठीनसि' ऋषि का वचन है। याज्ञवल्क्यस्मृति की 'मिताक्षरा' टीका में भी, जो एक प्राचीन ग्रंथ है और अदालतों में मान्य किया जाता है, 'इति पैठीनसि स्मरणात्'

वाक्य के द्वारा इसे 'पैठीनसि' ऋषि का वचन सूचित किया है। यहाँ इसका चौथा चरण बदला हुआ है—'दशाहं सूतकी भवेत्' की जगह 'पुत्राणां दशरात्रकम्' बनाया गया है। और यह तबदीली बिलकुल भद्दी जान पड़ती है—'पुत्रकः' आदि पदों के साथ इन परिवर्तित पदों का अर्थसम्बंध भी कुछ ठीक नहीं बैठता, खासकर *'पुत्राणां' पद का प्रयोग तो यहाँ बहुत ही खटकता है*—सोनीजी ने उसका अर्थ भी नहीं किया—और वह भट्टारकजी की योग्यता को और भी अधिकता के साथ व्यक्त कर रहा है।

> ज्वराभिभूता या नारी रजसा चेत्परिप्लुता।
> कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा॥ ८६॥
> चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
> स्नात्वा चैव पुनस्तां वै स्पृशेत् स्नात्वा पुनः पुनः॥ ८७॥
> दशद्वादशकृत्वो वा ह्याचमेच्च पुनः पुनः।
> अन्त्ये च वाससां त्यागं स्नात्वा शुद्धा भवेत्तु सा॥ ८८॥
>
> —१३ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में ज्वर से पीड़ित रजस्वला स्त्री की शुद्धि का प्रकार बतलाया गया है और वह यों है कि 'चौथे दिन कोई दूसरी स्त्री स्नान करके उस रजस्वला को छूवे, दोबारा स्नान करके फिर छूवे और इस तरह पर दस या बारह बार स्नान करके प्रत्येक स्नान के बाद उसे छूवे; *साथ ही बारबार आचमन भी करती रहे। अन्त में सब कपड़ों का* (जिन्हें रजस्वला ओढ़े पहने अथवा बिछाए हुए हो) त्याग कर दिया जाय तो वह रजस्वला शुद्ध होजाती है'। ये तीनों पद्य कुछ परिवर्तन के साथ 'उशना' नामक हिन्दू ऋषि के वचन हैं, जिनकी 'स्मृति' भी '**औशनसधर्मशास्त्र**' के नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका, शुद्धिविवेक और स्मृतिरत्नाकर आदि ग्रन्थों

में भी इन्हें 'उशना' के वचन लिखा है। मिताक्षरा आदि ग्रंथों में इन पद्यों का जो रूप दिया है उससे मालूम होता है कि पहले पद्य में सिर्फ 'च' की जगह 'चेत्' बनाया गया है, दूसरे का उत्तरार्ध 'सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत्' नामक उत्तरार्ध की जगह कायम किया गया है और तीसरे में 'त्यागस्ततः' की जगह 'त्यागं स्नाता' का परिवर्तन हुआ है। इन तीनों परिवर्तनों में से पहला परिवर्तन निरर्थक है और उसके द्वारा पद्य का प्रतिपाद्य विषय कुछ कम हो जाता है—जो स्त्री ज्वर से पीड़ित हो वह यदि रजस्वला होजाय तो उसी की शुद्धि का विधान रहता है* किन्तु जो पहले से रजस्वला हो और पीछे जिसे ज्वर आजाय उसकी शुद्धि की कोई व्यवस्था नहीं रहती। 'च' शब्द का प्रयोग इस दोष को दूर कर देता है और वह दोनों में से किसी भी अवस्था की रजस्वला के लिये एक ही शुद्धि का विधान बतलाता है। अतः 'च' की जगह 'चेत्' का परिवर्तन यहाँ ठीक नहीं हुआ। दूसरा परिवर्तन एक विशेष परिवर्तन है और उसके द्वारा सचेल अवगाहन की बात को छोड़ कर उस दूसरी स्त्री के साथ स्नान की बात को ही अपनाया गया है। रहा तीसरा परिवर्तन, वह बड़ा ही विलक्षण मालूम पड़ता है, उसका 'स्नाता' पद का सम्बन्ध अंतिम 'सा' पद के साथ ठीक नहीं बैठता और 'त्यागं' पद तो उसको और भी ज्यादा खटकता है। हो सकता है, कि यह परिवर्तन कुछ असावधान लेखकों की ही कर्तूत हो; उनके द्वारा 'त्यागस्ततः' का 'त्यागं स्नाता' लिखा जाना कुछ भी मुश्किल नहीं है, क्यों कि दोनों में अक्षरों की बहुत कुछ समानता है, परंतु सोनीजी ने

---

* मालूम होता है इसीलिये पं० पन्नालालजी सोनी इस पद्य के अनुवाद में लिखते हैं—"कोई ज्वर से पीड़ित स्त्री (यदि) रजस्वला होजाय तो उसकी शुद्धि कैसे हो? कैसी क्रिया करने से वह शुद्ध हो सकती है?"

'त्यागं स्नाता' पाठको ही शुद्ध समझा है—शुद्धिपत्र में भी उसका संशोधन नहीं दिया—और अनुवाद में 'स्नाता' पद का सम्बंध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है जो स्नान करके रजस्वला को छूवे। यह सब देखकर बड़ा ही खेद होता है! आप लिखते हैं—"अन्त में वह स्पर्श करने वाली स्त्री अपने कपड़े भी उतार दे और उस रजस्वला के कपड़े भी उतार दे और स्नान करले।" समझ में नहीं आता, जब उस दूसरी स्त्री को अन्त में भी अपने कपड़े उतारने तथा स्नान करने की जरूरत बाकी रह जाती है और इस तरह पर यह उस अंतिम स्नान से पहले अशुद्ध होती है तो उस अशुद्धा के द्वारा रजस्वला की शुद्धि कैसे हो सकती है! सोनीजी ने इसका कुछ भी विचार नहीं किया और वैसे ही खींचतान कर 'स्नाता' पद का सम्बंध उस दूसरी स्त्री के साथ जोड़ दिया है जिसके साथ पद्य में उसका कोई सम्बंध ठीक नहीं बैठता। और इसलिये यह परिवर्तन यदि भट्टारकजी का ही किया हुआ है तो इससे उनकी योग्यता की और भी अच्छी कलई खुल जाती है।

यहाँ तक के इस सम्पूर्ण प्रदर्शन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ, जैसा कि लेखारम्भ में ज़ाहिर किया गया था, वास्तव में एक बहुत बड़ा संग्रह ग्रंथ है और इसमें जैन अजैन दोनों ही प्रकार के विद्वानों के वाक्यों का भारी संग्रह किया गया है—ग्रंथ की २७०० श्लोकसंख्या में से शायद सौ डेढ़सौ श्लोक ही मुशकिल से ऐसे निकलें जिन्हें ग्रंथकार की स्वतन्त्र रचना कहा जा सके, बाकी सब श्लोक ऐसे ही हैं जो दूसरे जैन-अजैन ग्रंथों से ज्यों के त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं—अधिकांश पद्य तो इसमें अजैन ग्रंथों तथा उन जैन ग्रंथों पर से ही उठा कर रक्खे गये हैं जो प्रायः अजैन ग्रंथों के आधार पर या उनकी छाया को लेकर बने हुए हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रंथकार ने अपने प्रतिज्ञा-वाक्यों तथा

सूचनाओं के द्वारा जो यह विश्वास दिलाया था कि 'उसने इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के ग्रंथानुसार लिखा है और जहाँ कहीं दूसरे विद्वानों के ग्रंथानुसार कुछ कथन किया है वहाँ पर उन विद्वानों का अथवा उनके ग्रंथों का नाम दे दिया है' वह एक प्रकार का **धोखा** है। ग्रंथकार महाशय (भट्टारकजी) अपनी प्रतिज्ञाओं तथा सूचनाओं का पूरी तौर से निर्वाह नहीं कर सके और न वैसा करना उन्हें इष्ट था, ऐसा जान पड़ता है—उन्होंने दो चार अपवादों को छोड़ कर कहीं भी दूसरे विद्वानों का या उनके ग्रंथों का नाम नहीं दिया और न ग्रंथ का सारा कथन ही उन जैन विद्वानों के वाक्यानुसार किया है जिनके ग्रंथों को देख कर कथन करने की प्रतिज्ञाएँ की गई थीं; बल्कि बहुतसा कथन अजैन ग्रंथों के आधार पर, उनके वाक्यों तक को उद्धृत करके, किया है जिनके अनुसार कथन करने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की गई थी। और इसलिये यह कहना कि '**भट्टारकजी ने जान बूझ कर अपनी प्रतिज्ञाओं का विरोध किया है और उसके द्वारा पबलिक को धोखा दिया है**' कुछ भी अनुचित न होगा। इस प्रकार के विरोध तथा धोखे का कुछ और भी स्पष्टीकरण 'प्रतिज्ञादि-विरोध' नाम के एक अलग शीर्षक के नीचे किया जावेगा।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने दूसरे विद्वानों के ग्रंथों से जो यह बिना नाम धाम का भारी संग्रह करके उसे अपने ग्रंथों में निबद्ध किया है—'उक्तं च'* आदि रूप से भी नहीं रक्खा—और इस तरह पर दूसरे विद्वानों की कृतियों को अपनी कृति अथवा रचना प्रकट करने का साहस किया है वह

---

* ग्रंथ में दस पाँच पद्यों को जो 'उक्तं च' आदि रूप से दे रक्खा है उनका यहाँ पर ग्रहण नहीं है।

एक बड़ा ही निन्द्य तथा नीच कर्म है। ऐसा जघन्य आचरण करने वालों को श्रीसोमदेवसूरि ने 'काव्यचोर' और 'पातकी' लिखा है। यथा:—

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥

—यशस्तिलक।

श्री अजितसेनाचार्य ने तो दूसरे काव्यों के सुन्दर शब्दार्थों की छाया तक हरने वाले कवि को 'चोर' (पश्यतोहर) बतलाया है। यथा:—

अन्यकाव्यसुशब्दार्थच्छायां नो रचयेत्कविः।
सकाव्यं सोऽन्यथा लोके पश्यतोहरतामरेत् ॥६४॥

—अलङ्कारचिन्तामणि।

ऐसी हालत में भट्टारक सोमसेनजी इस कलंक से किसी तरह भी मुक्त नहीं हो सकते। वे अपने ग्रंथ की इस स्थिति में, उक्त आचार्यों के निर्देशानुसार, अवश्य ही 'काव्यचोर' और 'पातकी' कहलाये जाने के योग्य हैं और उनकी गणना तस्कर लेखकों में की जानी चाहिये। उन्हें इस कलंक से बचने के लिये कमसे कम उन पद-वाक्यों के साथ में जो ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं उन विद्वानों अथवा उनके ग्रन्थों का नाम जरूर देदेना चाहिये था जिनके वे वचन थे; जैसा कि 'आचारादर्श' और 'मिताक्षरा' आदि ग्रन्थों के कर्ताओं ने किया है। ऐसा करने से ग्रंथ का महत्त्व कम नहीं होता किन्तु उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता बढ़ जाती है। परन्तु भट्टारकजी ने ऐसा नहीं किया और उसके दो खास कारण जान पड़ते हैं—एक तो यह कि, वे हिन्दू धर्म की बहुतसी बातों को प्राचीन जैनाचार्यों अथवा जैनविद्वानों के नाम से जैनसमाज में प्रचारित करना चाहते

थे और यह बात अजैन विद्वानों के वाक्यों के साथ उनका अथवा उनके ग्रन्थों का नाम देदेने से नहीं बन सकती थी, जैनी जन उसे मान्य न करते । दूसरे यह कि, वे मुफ्त में अल्प परिश्रम से ही काव्य-कीर्ति भी कमाना चाहते थे—दूसरे कवियों की कृतियों को अपनी कृति प्रकट करके, सहज ही में एक अच्छे कवि का पद तथा सम्मान प्राप्त करने की उनकी इच्छा थी—और यह इच्छा पूरी नहीं हो सकती थी यदि सभी उद्धृत पद-वाक्यों के साथ में दूसरे विद्वानों के नाम देदिये जाते । तब तो आपकी निजकी कृति प्रायः कुछ भी न रहती अथवा यों कहिये कि महत्वशून्य और लेवांडोलसी दिखलाई पड़ती । अतः मुख्यतया इन दोनों चित्तवृत्तियों से अभिभूत होकर ही आप ऐसा हीनाचरण करने में प्रवृत्त हुए हैं, जो एक सत्कवि के लिये कभी शोभा नहीं देता, बल्कि उलटा लज्जा तथा शर्म का स्थानक होता है । शायद इस लज्जा तथा शर्म को उतारने या उसका कुछ परिमार्जन करने के लिये ही भट्टारकजी ने ग्रन्थ के अन्त में, उसकी समाप्ति के बाद, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है—

> श्लोका येऽत्रपुरातना विलिखिता अस्माभिरन्वर्थत—
> दीपा इव सन्तु काव्यरचनामुद्दीपयन्ते परम् ।
> नानाशास्त्रमतान्तरं यदि नवं प्रायोऽकारिष्यं त्वहम्
> आशा माऽस्य महत्त्वदेति सुधियः केचित्स्मयंयागमन्ताः ॥

इस पद्य से जहाँ यह सूचना मिलती है कि ग्रंथ में कुछ पुरातन पद्य भी लिखे गये हैं वहाँ ग्रंथकार का उन पुरातन पद्यों के सहारे से अपनी काव्यरचना को उद्योतित करने अथवा काव्यकीर्ति कमाने का वह भाव भी बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है । भट्टारकजी पद्य के पूर्वार्ध में लिखते हैं—'हमने इस ग्रन्थ में, प्रकरणानुसार, जिन पुरातन श्लोकों को लिखा है वे दीपक की तरह

सत्पुरुषों के सामने हमारी काव्यरचना को उद्दीपित (प्रकाशित) करते हैं'। परन्तु उन्होंने, अपने ग्रंथ में, जब स्वकीय और परकीय पद्यों का प्रायः कोई भेद नहीं रक्खा तब ग्रंथ के कौन से पद्यों को 'दीपक' और कौनसों को उनके द्वारा 'उद्दीपित' समझा जाय, यह कुछ समझ में नहीं आता। साधारण पाठक तो उन दस पाँच पद्यों को छोड़कर जिन्हें 'उक्तंच', 'मतान्तरं' तथा 'अन्यमतम्' आदि नामों से उल्लेखित किया गया है और जिनका उक्त संग्रह में कोई खास ज़िक्र भी नहीं किया गया अथवा ज़्यादा से ज़्यादा कुछ परिचित पद्यों को भी उनमें शामिल करके, शेष सब पद्यों को भट्टारकजी की ही रचना समझते हैं और उन्हीं के नाम से उनका उल्लेख भी करते हुए देखे जाते हैं। क्या यही भट्टारकजी की काव्यरचना का सच्चा उद्दीपन है ? अथवा पाठकों में ऐसी ग़लत समझ उत्पन्न करके काव्यकीर्ति का लाभ उठाना ही इसका एक उद्देश्य है ? मैं तो समझता हूँ पिछली बात ही ठीक है और इसीसे उन पद्यों के साथ में उनके लेखकों अथवा ग्रंथों का नाम नहीं दिया गया और न दूसरी ही ऐसी कोई सूचना साथ में की गई जिससे वे पढ़ते ही पुरातन पद्य समझ लिये जाते। पद्य के उत्तरार्ध में भट्टारकजी, अपनी कुछ चिन्तासी व्यक्त करते हुए, लिखते हैं—'यदि मैं नाना शास्त्रों के मतान्तर की नवीनप्राय रचना करता तो इस ग्रंथ का तेज पड़ता—अथवा यह मान्य होता—इसकी मुझे कहाँ आशा थी।' और फिर इसके अनन्तर ही प्रकट करते हैं—'इसीलिये कुछ सुधीजन 'प्रयोगंवद' होते हैं—प्राचीन प्रयोगों का उल्लेख करदेना ही उचित समझते हैं*।'

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने इस पद्य के उत्तरार्ध का अनुवाद बड़ा ही विलक्षण किया है और वह इस प्रकार है—

" यद्यपि मैंने अनेक शास्त्र और मतों से सार लेकर इस नवीन शास्त्र की रचना की है, उनके सामने इसका प्रकाश पड़ेगा यह आशा

और इस तरह पर आपने अपने को प्रयोगंवद (प्रयोगवादी) अथवा प्रयोगंवद की नीतिका अनुसरण करने वाला भी सूचित किया है। हो सकता है भट्टारकजी की उक्त चिन्ता कुछ ठीक हो–वे अपनी स्थिति और कमजोरी आदि को आप जानते थे–परन्तु जब उनको अपनी रचना से तेज अथवा प्रभाव पड़ने की कोई आशा नहीं थी तब तो उन्हें दूसरे विद्वानों के वाक्यों के साथ में उनका नाम देदेने की और भी ज्यादा जरूरत थी। ऐसी हालत में भी उनका नाम न देना उक्त दोनों कारणों के सिवाय और किसी बातको सूचित नहीं करता। रही 'प्रयोगंवद' की नीतिका अनुसरण करने की बात, प्रयोगवद की यह नीति कदापि नहीं होती कि वह दूसरे की रचना को अपनी रचना प्रकट करे। यदि ऐसा हो तो 'काव्यचोर' और 'प्रयोगंवद' में फिर कुछ भी अन्तर नहीं रह सकता। वह तो इस बात की बड़ी सावधानी रखता है और इसी में आनन्द मानता है कि दूसरे विद्वान का जो वाक्य प्रयोग उद्धृत किया जाय उसके विषय में किसी तरह पर यह जाहिर कर दिया जाय कि वह अमुक विद्वान का वाक्य है अथवा उसका अपना वाक्य नहीं है। उसकी रचना-प्रणाली ही अलग होती है और वह

नहीं, तो भी कितने ही बुद्धिमान नवीन नवीन प्रयोगों को पसंद करते हैं, अतः उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा।"

अनुवादकजी और तो क्या, ग्रन्थकार की 'अकरिष्यं' क्रिया का अर्थ भी ठीक नहीं समझ सके ! तब 'इतिसुधियः केचित्प्रयोगंवदाः' का अर्थ समझना तो उनके लिये दूर की बात थी। आपने पुरातन पद्यान्धरण के समर्थन में नवीन नवीन प्रयोगों को पसंद करने की बात तो खूब कही !! और 'उनका चित्त इससे अवश्य अनुरंजित होगा' इस अन्तिम वाक्यावतार ने तो आपके गजब ही ढा दिया !!!

दूसरों के प्रयोगों को बदल कर रखने की ज़रूरत नहीं समझता और न अपने को उसका अधिकारी ही मानता है। सोमसेनजी की स्थिति ग्रंथ पर से ऐसी मालूम नहीं होती वे इस विषय में प्रायः कुछ भी सावधान नज़र नहीं आते उन्होंने सैकड़ों पुरातन पद्यों को बिना ज़रूरत ही बदल डाला है और जिन पद्यों को ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा है उनके विषय में प्रायः कोई सूचना ऐसी नहीं कि जिससे वे दूसरे विद्वानों के वाक्य समझे जाँय। साथ ही, ग्रंथ की रचना-प्रणाली भी ऐसी मालूम नहीं होती जिसे प्रायः 'प्रयोगंवद' की नीतिका अनुसरण करने वाली कहा जा सके*। ऐसी हालत में इस पद्य द्वारा जिन बातों की सूचना की गई है वे काव्यचोरी के उक्त कलंक को दूर करने के लिये किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकतीं। उन्हें प्रायः ढोंग मात्र समझना चाहिये अथवा यों कहना चाहिये कि वे पीछे से कुछ शर्म सी उतारने अथवा अपने दुष्कर्म पर एक प्रकार का पर्दा डालने के लिये ही लिखी गई हैं। अन्यथा, विद्वानों के समक्ष उनका कुछ भी मूल्य नहीं है।

ग्रन्थ में एक जगह कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः' ऐसा लिखा है। यह वाक्य बेशक प्रयोगंवद की नीतिका अनुसरण करने वाला है—इसमें 'गालव' ऋषि के वाक्य का उनके नाम के साथ उल्लेख है। यदि सारा ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ का अधिकांश भाग इस तरह से भी लिखा जाता तो वह प्रयोगंवद की नीति का एक अच्छा अनुसरण कहलाता। और तब किसी को उपर्युक्त आपत्ति का अवसर ही न रहता। परन्तु ग्रन्थ में, दो चार उदाहरणों को छोड़कर, इस प्रकार की रचना का प्रायः सर्वथा अभाव है।

प्रतिज्ञादि-विरोध।

यह त्रिवर्णाचार अनेक प्रकार के विरुद्ध तथा अनिष्ट कथनों से भरा हुआ है। ग्रंथके संग्रहत्व आदि का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं उन्हीं को लेता हूँ और उनमें भी सब से पहले उन कथनों का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ जो प्रतिज्ञा आदि के विरोध को लिये हुए हैं। इस सब दिग्दर्शन से ग्रंथ की रचना, तरतीब, उपयोगिता और प्रमाणता आदि विषयों की और भी कितनी ही बातें पाठकों के अनुभव में आजाएँगी और उन्हें यह अच्छी तरह से मालूम पड़ जायगा कि इस ग्रंथ में कितना धोखा है, कितना जाल है और वह एक मान्य जैन ग्रन्थ के तौर पर स्वीकार किये जाने के लिये कितना अयोग्य है अथवा कितना अधिक आपत्ति के योग्य है:—

(१) भट्टारक सोमसेनजी ने, ग्रन्थ के शुरू में, '**यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः**' नामक पद्य के द्वारा जिन विद्वानों के ग्रन्थों को देख कर—उनके वचनानुसार—ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा की है उनमें '**जिनसेनाचार्य**' का नाम सब से प्रथम है और उन्हें आपने '**योग्यगणी**' भी, सूचित किया है। इन जिनसेनाचार्य का बनाया हुआ एक 'पुराण' ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है जिसे 'आदि-पुराण' अथवा 'महापुराण' भी कहते हैं और उसकी गणना बहुमान्य आर्ष ग्रन्थों में की जाती है। इस पुराण से पहले का दूसरा कोई भी पुराण ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें गर्भाधानादिक क्रियाओं का संक्षेप अथवा विस्तार के साथ कोई खास वर्णन दिया हो। यह पुराण इन क्रियाओं के लिये खास तौर से प्रसिद्ध है। भट्टारकजी ने ग्रन्थ के आठवें अध्याय में इन क्रियाओं का वर्णन आरम्भ करते हुए, एक प्रतिज्ञा-वाक्य निम्न प्रकार से दिया है—

गर्भाधानादयो भव्याक्षिंशत्तुक्रिया मताः ।
वक्ष्येऽधुना पुराणे तु याः प्रोक्ता गणिभिः पुरा ॥३॥

इस वाक्य के द्वारा यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'प्राचीन आचार्य महोदय (जिनसेन) ने पुराण (आदिपुराण) में जिन गर्भाधानादिक ५३ क्रियाओं का कथन किया है उन्हीं का मैं अब कथन करता हूँ।' यहाँ बहुवचनान्त 'गणिभिः' पद का प्रयोग वही है जो पहले प्रतिज्ञा-वाक्य में जिनसेनाचार्य के लिये उनके सम्मानार्थ किया गया है और उसके साथ में 'पुराणे' * पद का एकवचनान्त प्रयोग उनके उक्त पुराण ग्रन्थ को सूचित करता है। और इस तरह पर इस विशेष प्रतिज्ञा-वाक्य के द्वारा यह घोषणा की गई है कि इस ग्रंथ में गर्भाधानादिक क्रियाओं का कथन जिनसेनाचार्य के आदिपुराणानुसार किया जाता है। साथ ही, कुछ पद्य भी आदिपुराण से इस पद्य के अनन्तर उद्धृत किये गये हैं, 'व्युष्टि' नामक क्रिया को आदिपुराण के ही दोनों पद्यों ('ततोऽस्य हायने' आदि) में दिया है और 'व्रतचर्या' तथा 'व्रतावतरण' नामक क्रियाओं के भी कितने ही पद्य ('व्रतचर्यामहं वक्ष्ये' आदि) आदिपुराण से ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी इन क्रियाओं का अधिकांश कथन आदिपुराण अथवा भगवज्जिनसेनाचार्य के वचनों के विरुद्ध किया गया है, जिसका कुछ खुलासा इस प्रकार है:—

---

* पं० पन्नालालजी सोनी ने 'पुराणे' पद का जो बहुवचनान्त अर्थ "शास्त्रों में" ऐसा किया है वह ठीक नहीं है। इसी तरह 'गणिभिः' पद के बहुवचनान्त प्रयोग का आशय भी आप ठीक नहीं समझ सके और आपने उसका अर्थ "महर्षियों ने" दे दिया है।

(क) भगवज्जिनसेन ने गर्भाधानादिक क्रियाओं की संख्या ५३ दी है और साथ ही निम्न पद्य द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ये ५३ क्रियाएँ परमागम में 'गर्भान्वय क्रिया' मानी गई हैं—

त्रयपंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः।
गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥

परन्तु जिनसेन के वचनानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा से बँधे हुए भट्टारकजी उक्त क्रियाओं की संख्या ३३ बतलाते हैं और उन्होंने *उन ३३ के जो नाम दिये हैं वे सब भी वे ही नहीं हैं जो* आदिपुराण की ५३ क्रियाओं में पाये जाते हैं। यथाः—

आधानं प्रीतिः सुप्रीतिर्धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः।
नामकर्म बहिर्यानं निषद्या प्राशनं तथा ॥ ४ ॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः।
उपनीतिर्व्रतचर्या व्रतावतरणं तथा ॥ ५ ॥
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता।
प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥ ६ ॥
मृतकस्य च संस्कारो निर्वाणं पिण्डदानकम्।
श्राद्धं च सूतकद्वैतं प्रायश्चित्तं तथैव च ॥ ७ ॥
तीर्थयात्रेति कथिता द्वात्रिंशत्संख्यया क्रियाः।
त्रयस्त्रिंशच्च धर्मस्य देशना च विशेषतः ॥ ८ ॥

इनमें से पहले तीन पद्य तो आदिपुराण के पद्य हैं और उनमें गर्भाधान को आदि लेकर २४ क्रियाओं के नाम दिये हैं, बाकी के दो पद्य भट्टारकजी की प्रायः अपनी रचना जान पड़ते हैं और उनमें ९ क्रियाओं के नाम देकर तेतीस क्रियाओं की पूर्ति की गई है। और यहीं से प्रकृत विषय के विरोध अथवा भेद का आरम्भ हुआ है। इस

६ क्रियाओं में, 'निर्वाण' क्रिया को छोड़कर, मृतक संस्कार, पिण्डदान, श्राद्ध, दोनों प्रकार के सूतक (जननाशौच, मृताशौच), प्रायश्चित्त, तीर्थयात्रा और धर्मदेशना नाम की ८ क्रियाएँ ऐसी हैं जो आदिपुराण में नहीं हैं। आदिपुराण में उक्त २४ क्रियाओं के बाद 'मौनाध्ययनत्व' आदि २९ क्रियाएँ और दी हैं और उनमें अन्तिम क्रिया 'निर्वृति' अर्थात् निर्वाण बतलाई है। और इसीसे ये क्रियाएँ 'गर्भाधानादि निर्वाणान्त' कहलाती हैं। भगवज्जिनसेन ने इन गर्भाधान से लेकर निर्वाण तक की ५३ क्रियाओं को 'सम्यक् क्रिया' बतलाया है और उनसे भिन्न इस संग्रह की दूसरी क्रियाओं को अथवा 'गर्भाधानादि श्मशानान्त' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों * की क्रियाओं को मिथ्या क्रिया ठहराया है। यथा:—

---

*हिन्दुओं की क्रियाएँ 'गर्भाधानादिश्मशानांत' नाम से प्रसिद्ध हैं, यह बात 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मंत्रतः क्रियाः ॥ १० ॥

भट्टारकजी ने अपनी ३२ क्रियाएँ जिस क्रम से यहाँ (उक्त पद्यों में) दी हैं उसी क्रम से उनका आगे कथन नहीं किया, 'मृतक संस्कार' नाम की क्रिया को उन्होंने सब के अन्त में रक्खा है और इसलिये उनकी इन क्रियाओं को भी 'गर्भाधानादिश्मशानांत' कहना चाहिये। यह दूसरी बात है कि उन्हें अपनी क्रियाओं की सूची उसी क्रम से देनी नहीं आई, और इसलिये उनके कथन में क्रम-विरोध हो गया, जिसका कि एक दूसरा नमूना 'व्रतावतरण' क्रिया के बाद 'विवाह' को न देकर 'प्रायश्चित्त' का देना है।

क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ता पुरोदिताः।
आधानादि श्मशानान्ता न ताः सम्यक् क्रियामताः ॥ २५ ॥
—३६ वाँ पर्व ।

और इसलिये भट्टारकजी की 'पिण्डदान' तथा 'श्राद्ध' आदि नाम की उक्त क्रियाओं को भगवज्जिनसेनाचार्य के केवल विरुद्ध ही न समझना चाहिये बल्कि 'मिथ्या क्रियाएँ' भी मानना चाहिये।

(ख) अपनी उद्दिष्ट क्रियाओं का कथन करते हुए, भट्टारकजी ने गर्भाधान के बाद प्रीति, सुप्रीति, और धृति नाम की क्रियाओं का कोई कथन नहीं किया, जिन्हें आदिपुराण में क्रमशः तीसरे, पाँचवें और सातवें महीने करने का विधान किया है, बल्कि एकदम 'मोद' क्रिया का वर्णन दिया है और उसे तीसरे महीने करना लिखा है। यथाः—

गर्भेस्थिरेऽथ संजाते मासे तृतीयके ध्रुवम्।
प्रमोदेनैव संस्कार्यः क्रियामुख्यः प्रमोदकः ॥ ५१ ॥

परन्तु आदिपुराण में 'नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदोनाम क्रियाविधिः' इस वाक्य के द्वारा 'मोद' क्रिया ९ वें महीने करनी लिखी है। और इसलिये भट्टारकजी का कथन आदिपुराण के विरुद्ध है।

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि भट्टारकजी ने 'प्रीति' और 'सुप्रीति' नामकी क्रियाओं को 'प्रियोद्भव' क्रिया के साथ पुत्रजन्म के बाद करना लिखा है*। और साथ ही, सज्जनों में उत्कृष्ट प्रीति करने को 'प्रीति', पुत्र में प्रीति करने को 'सुप्रीति' और देवों में महान् उत्साह फैलाने को 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। यथाः—

---

* 'धृति' क्रिया के कथन को आप यहाँ भी छोड़ गये हैं और उसका वर्णन ग्रंथ भर में कहीं भी नहीं किया। इसीतरह 'तीर्थयात्रा' आदि और भी कुछ क्रियाओं के कथन को आप बिलकुल ही छोड़ गये अथवा भुला गये हैं।

पुत्रजन्मनि संजाते प्रीतिर्सुप्रीतिके क्रिये ।
प्रियोद्भवश्च सोत्साहः कर्तव्यो जातकर्मणि ॥ ६१ ॥
सज्जनेषु परा प्रीतिः पुत्रे सुप्रीतिरुच्यते ।
प्रियोद्भवश्च देवेषूत्साहस्तु क्रियते महान् ॥ ६२ ॥

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है—क्रमविरोध को भी लिये हुये है—और इसमें 'प्रीति' आदि तीनों क्रियाओं का जो स्वरूप दिया है वह बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण के साथ उसका कुछ भी मेल नहीं खाता; जैसा कि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

गर्भाधानात्परं मासे तृतीये संप्रवर्तते ।
प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥ ७७ ॥
आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते ।
या सुप्रीतैःप्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥ ८० ॥
प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः ।
जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥

—३८ वाँ पर्व ।

पिछले श्लोक से यह भी प्रकट है कि आदिपुराण में 'जातकर्मविधि' को ही 'प्रियोद्भव' क्रिया बतलाया है। परन्तु भट्टारकजी ने 'प्रियोद्भव' को 'जातकर्म' से भिन्न एक दूसरी क्रिया प्रतिपादन किया है। यही वजह है जो उन्होंने अध्याय के अन्त में, प्रतिपादित क्रियाओं की गणना करते हुए, दोनों की गणना अलग अलग क्रियाओं के रूप में की है। और इसलिये आपका यह विधान भी जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है।

एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि, भट्टारकजी ने 'जातकर्म विधि' में 'जननाशौच' को भी शामिल किया है और उसका कथन छह पद्यों में दिया है। परंतु 'जननाशौच' को आपने अलग क्रिया भी बतलाया है, तब दोनों में अन्तर क्या रहा, यह

सोचने की बात है। परंतु अन्तर कुछ रहो या न रहो, इससे ग्रंथ की बेतरतीबी और उसके बेढंगेपन का हाल कुछ जरूर मालूम हो जाता है।

(ग) 'मोद' क्रिया के बाद, त्रिवर्णाचार में 'पुंसवन' और 'सीमन्त' नाम की दो क्रियाओं का क्रमशः निर्देश किया गया है और उन्हें यथाक्रम गर्भ से पाँचवें तथा सातवें महीने करने का विधान किया है। यथा:—

सद्गर्भस्याथ पुत्रार्थं क्रियां पुंसवनाभिधाम्।
कुर्वन्तु पंचमे मासि पुमांसः क्षेममिच्छवः॥६३॥
अथ सप्तमके मासे सीमन्तविधिरुच्यते।
केशमध्ये तु गर्भिण्याः सीमा सीमन्तमुच्यते॥७२॥

ये दोनों क्रियाएँ आदिपुराण में नहीं हैं और न भट्टारकजी की उक्त ५३ क्रियाओं की सूची में ही इनका कहीं नामोल्लेख है। फिर नहीं मालूम इन्हें यहाँ पर क्यों दिया गया है! क्या भट्टारकजी को अपनी प्रतिज्ञा, ग्रंथ की तरतीब और उसके पूर्वापर सम्बंध आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रहा? वैसे ही जहाँ जो जी में आया लिख मारा!! और क्या इसी को ग्रथरचना कहते हैं? वास्तव में ये दोनों क्रियाएँ हिन्दू धर्म की खास क्रियाएँ (संस्कार) हैं। हिन्दुओं के धर्म ग्रंथों में इनका विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है। गर्भिणी स्त्री के केशों में माँग पाड़ने को 'सीमन्त' क्रिया कहते हैं, जिसके द्वारा वे गर्भ का खास तौर से संस्कारित होना मानते हैं। और 'पुंसवन' क्रिया का अभिप्राय उनके यहाँ यह माना जाता है कि इसके कारण गर्भिणी के गर्भ से लड़का पैदा होता है, जैसा कि मुहूर्तचिंतामणि की पीयूषधारा टीका के निम्न वाक्य से भी प्रकट है—

"पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या पुंसवनकर्मणा पुंस्त्वहेतुना।"

परंतु जैन सिद्धांत के अनुसार, इस प्रकार के संस्कार से, गर्भ में आई हुई लड़की का लड़का नहीं बन सकता। इसलिये जैनधर्म से इस संस्कार का कुछ सम्बध नहीं है। भगवज्जिनसेन के वचनानुसार इन दोनों

क्रियाओं को भी मिथ्या क्रियाएँ समझना चाहिये। मालूम होता है कुछ विद्वानों ने दूसरों की इन क्रियाओं को किसी तरह पर अपने ग्रंथों में अपनाया है और भट्टारकजी ने उन्हीं में से किसी का यह अंधाऽनुकरण किया है। अन्यथा, आपकी तेतीस क्रियाओं से इनका कोई सम्बंध नहीं था।

(घ) त्रिवर्णाचार में, निर्धन के लिये, गर्भाधान, प्रमोद, सीमंत और पुंसवन नाम की चार क्रियाओं को एक साथ ९ वें महीने करने का भी विधान किया गया है। यथा:—

> गर्भाधानं प्रमोदश्च सीमन्तः पुंसवं तथा।
> नवमे मासि चैकत्र कुर्यात्सर्वंतु निर्धनः ॥८०॥

यह कथन भी भगवज्जिनसेनाचार्य के विरुद्ध है—आदिपुराण में गर्भाधान और प्रमोद नाम की क्रियाओं को एक साथ करने का विधान ही नहीं। यहाँ 'गर्भाधान' क्रिया का, जिसमें भट्टारकजी ने स्त्रीसंभोग का खासतौर से तफ़सीलवार विधान किया है, ९वें महीने किया जाना बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है और एक प्रकार का पाखण्ड मालूम होता है। उस समय भट्टारकजी के उस 'कामयज्ञ' का रचाया जाना जिसका कुछ परिचय आगे चल कर दिया जायगा, निःसन्देह, एक बड़ा ही पाप कार्य है और किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। स्वयं भट्टारकजी के 'मासात्तु पंचमादूर्ध्वं तस्याः संगं विवर्जयेत्' इस वाक्य से भी उसका विरोध आता है, जिसमें लिखा है कि 'पाँचवें महीने के बाद गर्भिणी स्त्री का संग छोड़ देना चाहिये—उससे भोग नहीं करना चाहिये'। और वैसे भी गर्भ रह जाने के आठ नौ महीने बाद 'गर्भाधान' क्रिया का किया जाना महज़ एक ढोंग रह जाता है, जो सत्पुरुषों द्वारा आदर किये जाने के योग्य नहीं। भट्टारकजी निर्धनों के लिये ऐसे ढोंग का विधान करते हैं, यह आपकी बड़ी ही विचित्र लीला अथवा परोपकार बुद्धि है! आपकी राय में शायद ये गर्भाधान आदि की क्रियाएँ विपुलधन—साध्य हैं और उन्हें धनवान लोग ही कर

सकते हैं। परन्तु आदिपुराण से ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। वहाँ अनेक क्रियाओं का विधान करते हुए 'यथाविभवं' 'यथा विभव-मत्रापि' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है और उससे मालूम होता है कि इन क्रियाओं को सब लोग अपनी अपनी शक्ति और सम्पत्ति के अनुसार कर सकते हैं—धनवानों का ही उनके लिये कोई ठेका नहीं है।

(छ) भट्टारकजी ने, निम्न पद्य द्वारा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों जातियों के लिये क्रमशः १२ वें, १६ वें, २० वें, और ३२ वें दिन बालक का नाम रखने की व्यवस्था की है—

'*द्वादशे षोडशे विंशे द्वात्रिंशे दिवसेऽपि वा।
नामकर्म स्वजातीनां कर्तव्यं पूर्वमार्गतः ॥ १११ ॥

आपकी यह व्यवस्था भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। आदिपुराण में जन्म दिन से १२ दिन के बाद—१३ वें, १४ वें, आदि किसी भी अनुकूल दिवस में—नाम कर्म की सबके लिये समान व्यवस्था की गई है और उसमें जाति अथवा वर्णभेद को कोई स्थान नहीं दिया गया। यथाः—

---

* सोनीजी ने इस पद्य के अनुवाद में कुछ गलती खाई है। इस पद्य में प्रयुक्त हुए 'स्वजातीनां' पद और 'अपि' तथा 'वा' शब्दों का अर्थ वे ठीक नहीं समझ सके। 'स्वजातीनां' पद यहाँ चारों जातियों अर्थात् वर्णों का वाचक है और 'अपि' समुच्चयार्थ में तथा 'वा' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—विकल्प अर्थ में नहीं। हिन्दुओं के यहाँ भी, जिनका इस ग्रन्थ में प्रायः अनुसरण किया गया है, वर्ण-क्रम से ही नाम कर्म का विधान किया गया है, जैसा कि 'सारसंग्रह' के निम्न वाक्य से प्रकट है जो मु० चिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में दिया हुआ है—

'एकादशेऽह्नि विप्राणां क्षत्रियाणां त्रयोदशे।
वैश्यानां षोडशे नाम मासान्ते शूद्रजन्मनः ॥

द्वादशांहात्परं नाम कर्म जन्मदिनान्मतम्।
अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥ ३८-८७ ॥

(च) त्रिवर्णाचार में, ' नाम ' क्रिया के अनन्तर, बालक के कान नाक बींधने और उसे पालने में बिठलाने के दो मंत्र दिये हैं और इस तरह पर ' कर्णवेधन ' तथा ' आंदोलारोपण ' नाम की दो नवीन क्रियाओं का विधान किया है, जिनका उक्त ३३ क्रियाओं में कहीं भी नामोल्लेख नहीं है। आदिपुराण में भी इन क्रियाओं का कोई कथन नहीं है। और इसलिये भट्टारकजी का यह विधान भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है और उनकी इन क्रियाओं को भी 'मिथ्या-क्रियाएँ' समझना चाहिये। ये क्रियाएँ भी हिन्दू धर्म की खास क्रियाएँ हैं और उनके यहाँ दो अलग संस्कार माने जाते हैं। मालूम नहीं भट्टारकजी इन दोनों क्रियाओं के सिर्फ मंत्र देकर ही क्यों रह गये और इनका पूरा विधान क्यों नहीं दिया! शायद इसका यह कारण हो कि जिस ग्रन्थ से आप संग्रह कर रहे हों उसमें क्रियाओं का मंत्र भाग अलग दिया हो और उस पर से नाम क्रिया के मंत्र की नकल करते हुए उसके अनन्तर दिये हुए इन दोनों मंत्रों की भी आप नकल कर गये हों और आपको इस बात का खयाल ही न रहा हो कि हमने इन क्रियाओं का अपनी तेतीस क्रियाओं में विधान अथवा नामकरण ही नहीं किया है। परन्तु कुछ भी हो, इससे आपके ग्रन्थ की अव्यवस्था और बेतरतीबी जरूर पाई जाती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि मेरे पास ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार की जो हस्तलिखित प्रति पं० सीताराम शास्त्री की लिखी हुई है उसमें आन्दोलारोपण का मंत्र तो नहीं—शायद छूटगया हो—परन्तु कर्णवेधन का मंत्र जरूर दिया हुआ है और वह नामकर्म के मंत्र के अनन्तर ही दिया हुआ है। लेकिन वह मंत्र इस त्रिवर्णाचार के मंत्र से कुछ भिन्न है, जैसा कि दोनों के निम्नरूपों से प्रकट है—

ऊँ ह्रीं श्रू: कर्णनासावेधनं करोमि अं स्वाहा ।

—ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार ।

ऊँ ह्रीं श्रीं अर्हं बालकस्य श्रू: कर्णनासावेधनं करोमि असिआउसा स्वाहा।

—सोमसेनत्रिवर्णाचार ।

इससे ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचार के मंत्रों का आंशिक विरोध पाया जाता है और उसे यहाँ बदलकर रक्खा गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसी तरह पर और भी कितने ही मंत्रों का ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के साथ विरोध है और वह ऐसे मंत्रों के महत्व अथवा उनकी समीचीनता को और भी कम किये देता है।

(छ) भट्टारकजी ने 'अन्नप्राशन' के बाद और 'व्युष्टि' क्रिया से पहले 'गमन' नाम की भी एक क्रिया का विधान किया है, जिसके द्वारा बालक को पैर रखना सिखलाया जाता है। यथा:—

अथास्य नवमे मासे गमनं कारयेत्पिता ।
गमनोचितनक्षत्रे शुवारे शुभयोगके ॥१४०॥

यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है—आदिपुराण की दृष्टि से यह मिथ्या क्रिया है—और इसलिये इसका कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। साथ ही, पूर्वापर-विरोध को भी लिये हुए है; क्योंकि भट्टारकजी की तेतीस क्रियाओं में भी इसका नाम नहीं है। नहीं मालूम भट्टारकजी को बारबार अपने कथन के भी विरुद्ध कथन करने की यह क्या धुन समाई थी! जब आप यह बतला चुके कि गर्भाधानादिक क्रियाएँ तेतीस हैं और उनके नाम भी दे चुके, तब उसके विरुद्ध बीच बीच में दूसरी क्रियाओं का भी विधान करते जाना और इसतरह पर संख्या आदि के भी विरोध को उपस्थित करना चलचित्तता, असमीक्ष्यकारिता अथवा पागलपन नहीं तो और क्या है? इस तरह की प्रवृत्ति निःसन्देह आपकी ग्रन्थरचना-सम्बन्धी अयोग्यता को अच्छी तरह से स्थापित करती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि 'लिपि-संस्थानसंग्रह' (अक्षराभ्यास) नामक क्रिया के बाद भी एक क्रिया और बढ़ाई गई है और उसका नाम है 'पुस्तकग्रहण'। यह क्रिया भी आदिपुराण में नहीं है और न तेतीस क्रियाओं की सूची में ही इसका नाम है। लिपिसंस्थान क्रिया का विधान करते हुए, 'मौञ्जी-बंधनतः पश्चाच्छास्त्रारंभो विधीयते' इस वाक्य के द्वारा, यद्यपि, यह कहा गया था कि शास्त्राध्ययन का आरम्भ मौञ्जीबन्धन (उपनयन क्रिया) के पश्चात् होता है परन्तु यहाँ 'पुस्तकग्रहण' क्रिया को बढ़ा कर उसके द्वारा उपनयन संस्कार से पहले ही शास्त्र के पढ़ने का विधान कर दिया है और इस बात का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा कि पूर्व कथन के साथ इसका विरोध आता है। यथाः—

उपाध्यायेन तं शिष्यं पुस्तकं दीयते मुदा।
शिष्योऽपि च पठेच्छास्त्रं नान्दीपठनपूर्वकम् ॥१८१॥

(ज) भट्टारकजी ने 'लिपि-संस्थान-संग्रह' नामक क्रिया को देते हुए उसका मुहूर्त भी दिया है, जब कि दूसरी क्रियाओं में से गर्भाधान, उपनयन (यज्ञोपवीत) और विवाहसंस्कार जैसी बड़ी क्रियाओं तक का आपने कोई मुहूर्त नहीं दिया। नहीं मालूम इस क्रिया के साथ में मुहूर्त देने की आपको क्या सूझी और आपका यह कैसा रचना-क्रम है जिसका कोई एक तरीका, नियम अथवा ढंग नहीं!! अस्तु, इस मुहूर्त के दो पद्य इस प्रकार हैं:—

*मृगादिपंचस्वपि से [भे]षु मूले, हस्तादिके च त्रियते [त्रितये] ऽश्विनीषु

* इस पद्य में जो पाठ भेद ब्रैकिटों में दिया गया है वही मूलका शुद्ध पाठ है, सोनीजी की अनुवाद-पुस्तक में वह गलत रूप से दिया हुआ है। पद्य का अनुवाद भी कुछ गलत हुआ है। कमसे कम 'चित्रा' के बाद 'स्वाती' का और 'पूर्वाषाढ' से पहले 'पूर्वाफाल्गुनी' नक्षत्र का नाम और दिया जाना चाहिये था।

पु [प] र्वाश्रये च श्रवणत्रये च, विद्यासमारम्भमुशन्ति सिद्ध्यै ॥ १६५
उदग्गते भास्वति पंचमेऽब्दे, प्राप्तेऽक्षरस्वीकरणं शिशूनाम् ।
सरस्वतीं क्षेत्रसुपालकं च, गुडौदनाद्यैरभिपूज्य कुर्यात् ॥ १६६ ॥

इनमें से पहला पद्य 'श्रीपति' का और दूसरा 'वशिष्ठ' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की पीयूषधारा टीका में भी ये इन्हीं विद्वानों के नाम से उद्धृत पाये जाते हैं। दूसरे पद्य में 'विघ्नविनायकं' की जगह 'क्षेत्रसुपालकं' का परिवर्तन किया गया है और उसके द्वारा 'गणेशजी' के स्थान में 'क्षेत्रपाल' की गुड़ और चावल वगैरह से पूजा की व्यवस्था की गई है।

क्षेत्रपाल की यह पूजन-व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है। इसी तरह पर दूसरी क्रियाओं के वर्णन में जो यक्ष, यक्षी, दिक्पाल और जयादि देवताओं के पूजन का विधान किया गया है, अथवा 'पूर्ववत्पूजयेत्' 'पूर्ववद् होमं पूजां च कृत्वा' आदि वाक्यों के द्वारा इसीप्रकार के दूसरे देवताओं की भी पूजा का—जिसका वर्णन चौथे पाँचवें अध्यायों में है—जो इशारा किया गया है वह सब भी आदिपुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में भगवज्जिनसेन ने, गर्भाधानादिक क्रियाओं के अवसर पर, इसप्रकार के देवी देवताओं के पूजन की कोई व्यवस्था नहीं की। उन्होंने आमतौर पर सब क्रियाओं में 'सिद्धों' का पूजन रक्खा है, जो 'पीठिका' मन्त्रों द्वारा किया जाता है +। बहुतसी क्रियाओं में अर्हन्तों का, देवगुरु का और किसी में आचार्यों आदि का पूजन भी बतलाया है, जिसका विशेष-हाल-आदिपुराण के ३८ वें और ४० वें पर्वों को देखने से मालूम हो सकता है।

+ यथा:—

एतैः (पीठिकामन्त्रैः) सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।

यहाँ पर मैं त्रिवर्णाचार की एक दूसरी विलक्षण पूजा का भी उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ, और वह है 'योनिस्थ देवता' की पूजा। भट्टारकजी ने, गर्भाधान क्रिया का विधान करते हुए, इस अपूर्व अथवा अश्रुतपूर्व देवता की पूजा का जो मंत्र दिया है वह इस प्रकार है—

ॐ ह्रीं क्लीं ब्लूँ योनिस्थदेवते मम सत्पुत्रं जनयस्व असिआउसा स्वाहा।

इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि 'हे योनिस्थान में बैठे हुए देवता! मेरे सत्पुत्र पैदा करो।' भट्टारकजी लिखते हैं कि 'यह मंत्र पढ़कर गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी कुश (दर्भ) और जल से योनिका अच्छी तरह से प्रक्षालन करे और फिर उसके ऊपर चंदन, केसर तथा कस्तूरी आदि का लेप कर देवे। यथा—

'इति मंत्रेण गोमयगोमूत्रक्षीरदधिसर्पिःकुशोदकैर्योनिं सम्प्रक्षाल्य श्रीगंधकुंकुमकस्तूरिकाद्यनुलेपनं कुर्यात्।'

यही योनिस्थ देवता का सप्रक्षाल पूजन है। और इससे यह मालूम होता है कि भट्टारकजी ऐसा मानते थे कि स्त्री के योनि स्थान में किसी देवता का निवास है, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थी से अपनी पूजा लेकर उसके लिये पुत्र पैदा कर देता है। परन्तु जैनधर्म की ऐसी शिक्षा नहीं है और न जैनमतानुसार ऐसे किसी देवता का अस्तित्व या व्यक्तित्व ही माना जाता है। ये सब वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों जैसी बातें हैं। भट्टारकजी ने सम्भवतः उन्हीं का अनुकरण किया है, उन्हीं जैसी शिक्षा को समाज में प्रचारित करना चाहा है, और इसलिये 'गर्भाधान' क्रिया में आपका **यह पूजन-विधान महज़ प्रतिज्ञा-विरोध को ही लिये हुये नहीं है बल्कि जैनधर्म और जैननीति के भी विरुद्ध है,** और आपके इस क्रिया मंत्र को अधर्म्य मंत्र समझना चाहिये।

(ऋ) इस आठवें अध्याय में, और आगे भी, आदिपुराण वर्णित क्रियाओं के जो भी मंत्र दिये हैं वे प्रायः सभी आदिपुराण के विरुद्ध हैं। आदिपुराण में गर्भाधानादिक क्रियाओं के मंत्रों को दो भागों में विभाजित किया है—एक 'सामान्यविषय मंत्र' और दूसरे 'विशेषविषय मंत्र'। 'सामान्यविषय मंत्र' वे हैं जो सब क्रियाओं के लिये सामान्य रूप से निर्दिष्ट हुए हैं और 'विशेषविषय' उन्हें कहते हैं जो खास खास क्रियाओं में अतिरिक्त रूप से नियुक्त हुए हैं। सामान्यविषय मंत्र १ पीठिका, २ जाति, ३ निस्तारक, ४ ऋषि, ५ सुरेन्द्र, ६ परमराज और ७ परमेष्ठि मंत्र—भेद से सात प्रकार के हैं। इन सबों को एक नाम से **'पीठिका-मंत्र'** कहते हैं; **क्रिया-मंत्र, साधन-मंत्र** तथा **आहुति-मंत्र** भी इनका नाम है और ये **'उत्सर्गिक-मंत्र'** भी कहलाते हैं, जैसाकि आदिपुराण के निम्न वाक्यों से प्रकट है।

> एते तु पीठिका मंत्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः।
> एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ॥ ७७ ॥
> क्रियामंत्रास्त एतेस्युराधानादिक्रियाविधौ।
> सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमंत्रताम् ॥ ७८ ॥
> संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि।
> भवन्त्याहुतिमंत्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥ ७९ ॥
> साधारणास्त्विमे मंत्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ।
> यथासंभवमुन्नेष्ये विशेषविषयांश्च तान् ॥ ८१ ॥
> क्रियामंत्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः।
> सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामंत्ररूढयः ॥ २१५ ॥
> ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः।
> तत उत्सर्गिकानेताम्मंत्रान्मंत्रविदो विदुः ॥ २१६ ॥
> विशेषविषया मंत्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः।

इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमतंद्रैः ॥ २१७ ॥
मंत्रानिमान्यथा योग्यं यः क्रियासु विनियोजयेत् ।
स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥ २१८ ॥
—४० वाँ पर्व ।

इन वाक्यों से आदिपुराण-वर्णित मंत्रों का खास तौर से महत्व पाया जाता है और यह मालूम होता है कि वे जैन आम्नायानुसार खसूसियत के साथ इन क्रियाओं के मंत्र हैं। गणधर-रचित सूत्र (उपासकाध्ययन) अथवा परमागम में उन्हें 'साधनमंत्र' कहा है—क्रियाएँ उनके द्वारा सिद्ध होती हैं ऐसा प्रतिपादन किया है—और इसलिये सब क्रियाओं में उनका यथायोग्य विनियोग होना चाहिये। एक दूसरी जगह भी इस विनियोग की प्रेरणा करते हुए लिखा है कि 'जैनमत' में इन मंत्रों का सब क्रियाओं में विनियोग माना गया है, अतः श्रावकों को चाहिये कि वे व्यामोह अथवा भ्रम छोड़ कर—निःसंदेह रूप से—इन मंत्रों का सर्वत्र प्रयोग करें। यथाः—

विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः ।
अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥ ३८-७५ ॥

परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी, भट्टारकजी ने इन दोनों प्रकार के सनातन और यथाम्नाय + मंत्रों में से किसी भी प्रकार के मंत्र का यहाँ * प्रयोग

+ आदिपुराण में 'तन्मंत्रास्तु यथाम्नायं' आदि पद्य के द्वारा इन मंत्रों को जैन आम्नाय के मंत्र बतलाया है।

* पाँचवें अध्याय में, नित्यपूजन के मंत्रों का विधान करते हुए, सिर्फ एक प्रकार के पीठिका मंत्र दिये हैं परन्तु उन्हें भी उनके असली रूप में नहीं दिया—बदल कर रक्खा है—सब मंत्रों के शुरू में ॐ जोड़ा गया है और कितने ही मंत्रों में 'नमः' आदि शब्दों के द्वित्व प्रयोग की जगह एकत्व का प्रयोग किया गया है। इसी तरह और भी कुछ न्यूनाधिकता की गई है। आदिपुराण के मंत्र जँचे तुले श्लोकों में बद्ध हैं।

नहीं किया, बल्कि दूसरे ही मंत्रों का व्यवहार किया है जो आदिपुराण से बिलकुल ही विलक्षण अथवा भिन्न टाइप के मंत्र हैं* । इससे अधिक भगवज्जिनसेन का—और उनके वचनानुसार जैनागम का भी—विरोध और क्या हो सकता है ? मैं तो इसे भगवज्जिनसेनकी खासी अवहेलना और साथ ही जनसाधारण की अच्छी प्रतारणा (वंचना) समझता हूँ। अस्तु; भगवज्जिनसेनने '**मंत्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु विनियोजिताः**' इस ३९ वें पर्व के वाक्य द्वारा उन्हीं मंत्रों को 'धर्म्यमंत्र' प्रतिपादन किया है जो उक्तप्रकार से क्रियाओं में नियोजित हुए हैं, और इसलिये भट्टारकजी के मंत्रों को '**अधर्म्य मंत्र**' अथवा '**झूठेमंत्र**' कहना चाहिये । जब उनके द्वारा प्रयुक्त हुए मंत्र वास्तव में उन क्रियाओं के मंत्र ही नहीं, तब उन क्रियाओं से लाभ भी क्या हो सकता है ? बल्कि झूठे मंत्रों का प्रयोग साथ में होने की वजह से कुछ बिगाड़ हो जाय तो आश्चर्य नहीं ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि, त्रिवर्णाचार में जो क्रिया-मंत्र दिये हैं वे आदिपुराण से पहले के बने हुए

---

* उदाहरण के तौर पर 'निषद्या' क्रिया के मंत्र को लिजिये। आदिपुराण में '**सत्यजाताय नमः**' आदि पीठिका मंत्रों के अतिरिक्त इस क्रिया का जो विशेष मंत्र दिया वह है—"**दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव**" । और त्रिवर्णाचार में जो मंत्र दिया है वह है—"**ॐ ह्रीं अर्हं असि आ उ सा बालकमुपवेशयामि स्वाहा**" । दोनों में कितना अन्तर है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। एक उत्तम आशीर्वादात्मक अथवा भावनात्मक है तो दूसरा महज़ सूचनात्मक है कि मैं बालक को बिठलाता हूँ। प्रायः ऐसी ही हालत दूसरे मन्त्रों की समझनी चाहिये ।

किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाये जाते, और आदिपुराण से यह स्पष्ट मालूम हो रहा है कि उसमें जो क्रिया-मन्त्र दिये हैं वे ही इन क्रियाओं के असली, आगम-कथित, सनातन और जैनाम्नायी मंत्र हैं। ऐसी हालत में त्रिवर्णाचार वाले मंत्रों की बाबत यही नतीजा निकलता है कि वे आदिपुराण से बहुत पीछे के बने हुए हैं। उनकी अथवा उन जैसे मंत्रों की कल्पना भट्टारकी युग में--संभवतः १२ वीं से १५ वीं शताब्दी तक के मध्यवर्ती किसी समय में---हुई है, ऐसा जान पड़ता है।

(ञ) अध्याय के अन्त में, 'पुस्तकग्रहण' क्रिया के बाद, भट्टारकजी ने एक पद्य निम्नप्रकार से दिया है:-

* गर्भाधानसुमोदपुंसवनकाः सीमन्तजन्माभिधा
बाह्येसुयानभोजने च गमनं चौलाक्षराभ्यासनम्।
सुप्रीतिः प्रियसूद्भवो गुरुमुखाच्छास्त्रस्यसंग्राहणं
एताः पंचदश क्रियाः समुदिता अस्मिन् जिनेन्द्रागमे॥१८५॥

इसमें, अध्याय-वर्णित क्रियाओं की उनके नामके साथ गणना करते हुए, कहा गया है कि 'ये पंद्रह क्रियाएँ इस जिनेन्द्रागम में भलेप्रकार से कथन की गई हैं', परन्तु क्रियाओं के जो नाम यहाँ दिये हैं वे चौदह हैं—१ गर्भाधान, २ मोद, पुंसवन, ४ सीमन्त, ५ जन्म, ६ अभिधा ('नाम), ७ बहिर्यान, ८ भोजन, ९ गमन, १० चौल, ११ अक्षराभ्यास, १२ सुप्रीति, १३ प्रियोद्भव तथा १४ शास्त्रग्रहण—और अध्याय में जिन क्रियाओं का वर्णन किया गया है उनकी संख्या उनीस है। प्रीति, निषद्या (उपवेशन), व्युष्टि, कर्णवेधन और आन्दोलारोपण

---

* इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने जो व्यर्थ की खींचातानी की है वह सहृदय विद्वानों को अनुवाद के देखते ही मालूम पड़जाती है। उस पर यहाँ कुछ टीका टिप्पण करने की ज़रूरत नहीं है।

नामकी पाँच क्रियाओं का यहाँ तो वर्णन है, परन्तु यहाँ गणना के अवसर पर उन्हें बिलकुल ही भुला दिया है। इससे आपका महज़ वचन-विरोध ही नहीं पाया जाता, बल्कि यह भी आपकी ग्रन्थ रचना की विलक्षणता का एक अच्छा नमूना है और इस बात को ज़ाहिर करता है कि आपको अच्छी तरह से ग्रंथ रचना करना नहीं आता था। इतने पर भी, खेद है कि, आप अपने इस ग्रंथ को 'जिनेन्द्रागम' बतलाते हैं! जो ग्रंथ प्रतिज्ञाविरोध, आगमविरोध, आम्नायविरोध, ऋषि-वाक्यविरोध, सिद्धान्तविरोध, पूर्वापरविरोध, युक्तिविरोध और क्रमविरोध आदि दोषों को लिये हुए है, साथ ही चोरी के कलंक से कलंकित है, उसे 'जिनेंद्रागम' बतलाते हुए आपको ज़रा भी लज्जा तथा शर्म नहीं आई! ×इससे अधिक धृष्टता और धूर्तता और क्या हो सकती है? यदि ऐसे हीन ग्रन्थ भी 'जिनेन्द्रागम' कहलाने लगें तब तो जिनेन्द्रागम की अच्छी खासी मिट्टी पलीद हो जाय और उसका कुछ भी महत्व न रहे। इसीलिए ऐसे छद्मवेषधारी ग्रंथों के नग्न रूप को दिखला कर उनसे सावधान करने का यह प्रयत्न किया जा रहा है।

(८) त्रिवर्णाचार के ६ वें अध्याय में, 'यज्ञोपवीतसत्कर्म वक्ष्ये नत्वा गुरुक्रमात्' इस वाक्य के द्वारा गुरु-परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत (उपनीति) क्रिया के कथन की विशेष प्रतिज्ञा करते हुए, निम्न पद्य दिये हैं:—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३ ॥
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ४ ॥

×यहाँ सोनीजी को अनुवाद के समय कुछ झिझक ज़रूर पैदा हुई है और इस लिये उन्होंने "जिनेन्द्रागम" को "अध्याय" में बदल दिया है।

* आषोडशाच्च [द्वा] द्वाविंशाच्चतुर्विंशात्तु [च] वत्सरात् ।
ब्रह्मक्षत्रविशां कालो ह्युपनयनजः [च औपनायनिकः] परः॥५॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः ।
प्रतिष्ठादिषु कार्येषु न योज्या ब्राह्मणोत्तमैः ॥ ६ ॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में उपनयन के साधारण काल का, दूसरे में विशेष काल का, तीसरे में काल की उत्कृष्ट मर्यादा का और चौथे में उत्कृष्ट मर्यादा के भीतर भी यज्ञोपवीत संस्कार न होने के फल का उल्लेख किया गया है, और इस तरह पर चारों पद्यों में यह बतलाया गया है कि–'गर्भ से आठवें वर्ष ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष वैश्य का यज्ञोपवीत संस्कार होना चाहिये। परंतु जो ब्राह्मण (विद्याध्ययनादि द्वारा) ब्रह्मतेज का इच्छुक हो उसका गर्भ से पाँचवें वर्ष, राज्यबल के अर्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष और व्यापारादि द्वारा अपना उत्कर्ष चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष उक्त संस्कार किया जाना चाहिये। इस संस्कार की उत्कृष्ट मर्यादा ब्राह्मण के लिये १६ वर्ष तक, क्षत्रिय के लिये २२ वर्ष तक और वैश्य के लिये २४ वर्ष तक की है। इस मर्यादा तक भी जिन लोगों का उपनयन संस्कार न हो पाये, वे अपनी अपनी मर्यादा के बाद पतित हो जाते हैं, किसी भी धर्म कर्म के अधिकारी नहीं रहते—उन्हें सर्व धर्मकार्यों से बहिष्कृत समझना चाहिये—और इसलिये ब्राह्मणों को चाहिये कि वे प्रतिष्ठादि धर्मकार्यों में उनकी योजना न करें'।

यह सब कथन भी भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। आदिपुराण में वर्णभेद से उपनयनकाल में कोई भेद ही नहीं किया—सब के लिये गर्भ से आठवें वर्ष का एक ही उपनयन का साधारणकाल रक्खा गया है। यथाः—

---

* इस पद्य में ब्रैकिटों के भीतर जो पाठभेद दिया है वह पद्य का मूल पाठ है जो अनेक ग्रंथों में उल्लेखित मिलता है और जिसे संभवतः यहाँ बदल कर रक्खा है।

क्रियोपनीतिर्नामाऽस्य वर्षे गर्भाष्टमे मता ।
यथापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना ॥ ३८-१०४ ॥

और यह बात जैननीति के भी विरुद्ध है कि जिन लोगों का उक्त मर्यादा के भीतर उपनयन संस्कार न हुआ हो उन्हें सर्व धर्म-कृत्यों से बहिष्कृत और वंचित किया जाय अथवा धर्म-सेवन के उनके सभी अधिकारों को छीन लिया जाय। जैनधर्म का ऐसा न्याय नहीं है और न उसमें उपनयन संस्कार को इतना महत्व ही दिया गया है कि उसके बिना किसी भी धर्म कर्म के करने का कोई अधिकारी ही न रहे। उसमें धर्मसेवन के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें उपनयन-संस्कार भी एक मार्ग है अथवा एक मार्ग में दाखिल है। जैनी बिना यज्ञोपवीत संस्कार के भी पूजन, दान, स्वाध्याय, तप और संयम जैसे धर्मकृत्यों का आचरण कर सकते हैं, करते हैं और करते आए हैं; श्रावक के बारह व्रतों का भी वे खंडशः अथवा पूर्णरूप से पालन कर सकते हैं और अन्त में सल्लेखना व्रत का भी अनुष्ठान कर सकते हैं। प्रतिष्ठाकार्यों में भी बड़े बड़े प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा ऐसे लोगों की नियुक्ति देखी जाती है जिनका उक्त मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ होता। यदि उक्त मर्यादा से ऊपर का कोई भी अजैन जैनधर्म की शरण में आए तो जैनधर्म उसका यह कह कर कभी त्याग नहीं कर सकता कि 'मर्यादा के भीतर तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ इसलिये अब तुम इस धर्म को धारण तथा पालन करने के अधिकारी नहीं रहे'। ऐसा कहना और करना उसकी नीति तथा सिद्धान्त के विरुद्ध है। वह खुशी से उसे अपनाएगा, अपनी दीक्षा देगा और जरूरत समझेगा तो उसके लिये यज्ञोपवीत का भी विधान करेगा। इसी तरह पर एक जैनी, जो उक्त मर्यादा तक अव्रती अथवा धर्म कर्म से पराङ्मुख रहा हो, अपनी भूल को मालूम करके श्रावकादि के व्रत लेना चाहे तो जैनधर्म उसके लिये भी यथायोग्य व्यवस्था करेगा। उसका

मर्यादा के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कारित न होना, उसमें कुछ भी बाधक न होगा। और इन सब बातों को पुष्ट करने के लिये जैन शास्त्रों से सैंकड़ों कथन, उपकथन और उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनकी यहाँ पर कोई जरूरत मालूम नहीं होती। अतः भट्टारकजी का उक्त लिखना जैनधर्म की नीति और प्रकृति के विरुद्ध है। वह हिन्दूधर्म की शिक्षा को लिये हुए है। भट्टारकजी के उक्त पद्य भी हिन्दूधर्म की चीज़ हैं—पहले दोनों पद्य 'मनु' के वचन हैं और वे 'मनुस्मृति' के दूसरे अध्याय में क्रमशः नं० ३६, ३७ पर ज्यों के त्यों दर्ज हैं; तीसरा पद्य और चौथे पद्य का पूर्वार्ध दोनों 'याज्ञवल्क्य' ऋषि के वचन हैं और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के पहले अध्याय में क्रमशः न० ३७ तथा ३८ पर दर्ज हैं। रहा चौथे पद्य का उत्तरार्ध, वह भट्टारकजी की प्रायः अपनी रचना जान पड़ता है और याज्ञवल्क्य स्मृति के 'सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः' इस उत्तरार्ध के स्थान में बनाया गया है।

यहाँ पर पाठकों की समझ में यह बात सहज ही आजायगी कि कि जब भट्टारकजी ने गुरुपरम्परा के अनुसार कथन करने की प्रतिज्ञा की तब उसके अनन्तर ही आपका 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' के वाक्यों को उद्धृत करना इस बातको साफ़ सूचित करता है कि आपकी गुरु परम्परा में मनु और याज्ञवल्क्य जैसे हिन्दू ऋषियों का खास स्थान था। आप बज़ाहिर अपने भट्टारकी वेष में भले ही, जैनी तथा जैनगुरु बने हुए, अजैन-गुरुओं की निन्दा करते हों और उनकी कृतियों तथा विधियों को अच्छा न बतलाते हों परन्तु आपका अन्तरंग उनके प्रति झुका हुआ ज़रूर था, इसमें सन्देह नहीं; और यह आपका मानसिक दौर्बल्य था जो आपको उन अजैन-गुरुओं या हिन्दू ऋषियों के वाक्यों अथवा विधि-विधानों का प्रकट रूप से अभिनन्दन करने का

साहस नहीं होता था और इसीलिये आपको छल करना पड़ा। आपने, जैनी होने के कारण, 'गुरुक्रमात्' पद के प्रयोग द्वारा अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाया कि आप जैनगुरुओं की (जिनसेनादि की) कथन-परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीत क्रिया का कथन करते हैं परंतु कथन किया आपने 'मनु' और 'याज्ञवल्क्य' जैसे हिन्दू ऋषियों की परम्परा के अनुसार, उनके वचनों तक को उद्धृत करके। यही **आपका छल है, यही धोखा है और इसे आपकी ठग-विद्या का एक खासा नमूना समझना चाहिये।**

इस क्रिया के वर्णन में नान्दीश्राद्ध और पिप्पलपूजनादिक की और भी कितनी ही विरुद्ध बातें ऐसी हैं जो हिन्दूधर्म से ली गई हैं और जिनमें से कुछ का विचार आगे किया जायगा।

(ठ) 'व्रतचर्या' क्रिया का कथन, यद्यपि, भट्टारकजी ने आदिपुराण के पद्यों में ही दिया है परन्तु इस कथन के 'यावद्विद्यासमाप्तिः' (७७), तथा 'सूत्रमौपासिकं' (७८) नाम के दो पद्यों को आपने 'व्रतावतरण' क्रिया का कथन करते हुए उसके मध्य में दे दिया है, जहाँ वे असंगत जान पड़ते हैं। और इन पद्यों के अनन्तर के निम्न दो पद्यों को बिलकुल ही छोड़ दिया है—उनका आशय भी नहीं दिया—

> शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि चाध्येयं नाऽस्य दूष्यते।
> सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ ३८-११९ ॥
> ज्योतिर्ज्ञानमथ छन्दो ज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम्।
> संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥ १२० ॥

इन पद्यों को छोड़ देने अथवा इनका आशय भी न देने से प्रकृत क्रिया के अभ्यासी के लिये उपासकसूत्र और अध्यात्मशास्त्र के पढ़ने का ही विधान रह जाता है परंतु इन पद्यों द्वारा उसके लिये व्याकरण-शास्त्र, अर्थशास्त्रादिक, ज्योतिःशास्त्र, छन्दःशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणित

शास्त्र के अध्ययन का भी सविशेष रूप से विधान पाया जाता है, * जिसे भट्टारकजी ने शायद अनुपयोगी समझा हो। इसी तरह पर 'व्रतावतरण' क्रिया के कथन में, 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले के निम्न दो पद्यों को भी आपने छोड़ दिया है, जिनमें से दूसरा पद्य जो 'सार्वकालिक व्रत' का उल्लेख करने वाला है, खासतौर से ज़रूरी था—

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम्।
विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२१ ॥
मधुमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥

इन पद्यों के न होने से 'व्रतावतरणं चेदं' नाम का पद्य असम्बद्ध जान पड़ता है—'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि पूर्व पद्यों के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही ठीक नहीं बैठता। और 'वस्त्राभरण' नाम का उत्तर पद्य भी, आदिपुराण के पद्य नं० १२५ और १२६ के उत्तरार्ध तथा पूर्वार्ध को मिलाकर बनाए जाने से कुछ बेढंगा हो गया है जिसका उल्लेख ग्रंथ के संग्रहत्व का दिग्दर्शन कराते हुए किया जा चुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजी ने व्रतावतरण क्रिया का निम्न पद्य भी नहीं दिया और न उसके आशय का ही अपने शब्दों में उल्लेख किया है, जिसके अनुसार 'कामब्रह्मव्रत' का अवतार (त्याग) उस वक्त तक नहीं होता—वह बना रहता है—जब तक कि विवाह नाम की उत्तर क्रिया नहीं हो लेती:—

भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा।
कामब्रह्मव्रतं चास्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२७ ॥

* पं० पन्नालालजी सोनी ने भी इस विधान का अपने अनुवाद में उल्लेख किया है परन्तु आप से यह सख्त गलती हुई जो आपने 'यावद्विद्या समाप्तिः' आदि चारों ही पद्यों को व्रतावतरण क्रिया के पद्य बतला दिया है। आपके "इसी (व्रतावतरण) क्रिया में यह और भी बतलाया है" शब्द बहुत खटकते हैं।

यही सब इस ग्रंथ की दोनों (व्रतचर्या और व्रतावतरण) क्रियाओं का आदिपुराण के साथ विरोध है। मालूम नहीं जब इन क्रियाओं को प्रायः आदिपुराण के शब्दों में ही रखना था तो फिर यह व्यर्थ की गड़बड़ी क्यों की गई और क्यों दोनों क्रियाओं के कथन में यह असामंजस्य उत्पन्न किया गया !! भट्टारकी लीला के सिवाय इसे और क्या कहा जा सकता है ! भट्टारकजी ने तो अध्याय के अन्त में जा कर इन क्रियाओं के अस्तित्व तक को भुला दिया है और 'इत्थं मौंजी-बन्धनं पालनीयं' आदि पद्य के द्वारा इन क्रियाओं के कथन को भी मौंजीबन्धन का—यज्ञोपवीत क्रिया का—ही कथन बतला दिया है !! इसके सिवाय, एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि श्रावकाचार अथवा श्रावकीय व्रतों का जो उपदेश 'व्रतचर्या' क्रिया के अवसर पर होना चाहिये था * उसे भट्टारकजी ने 'व्रतावतरण' क्रिया के भी बाद, दसवें अध्याय में दिया है और व्रतचर्या के कथन में वैसा करने की कोई सूचना तक भी नहीं दी। ये सब बातें आपके रचना-विरोध और उसके बेढंगेपन को सूचित करती हैं। आपको कम से कम 'व्रतावतरण' क्रिया को दसवें अध्याय के अन्त में, अथवा ग्यारहवें के शुरू में—विवाह से पहले—देना चाहिये था। इस प्रकार का रचना-सम्बन्धी विरोध अथवा बेढंगापन और भी बहुत से स्थानों पर पाया जाता है, और वह सब मिलकर भट्टारकजी की ग्रंथरचना-संबंधी योग्यता को चौपट किये देता है।

---

*व्रतचर्या के अवसर पर उपासकाध्ययन के उपदेशों का संक्षेप में संग्रह होता है, यह बात आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी प्रकट है:-

अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात्।
स्यादत्रोपासकाध्यायः समासेनानुसंहृतः॥ ४०-१६५॥

(ङ) त्रिवर्णाचार के ग्यारहवें अध्याय में, तेतीस क्रियाओं में से सिर्फ 'विवाह' नामकी क्रिया का वर्णन है और, उसका प्रारम्भ करते हुए एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है:—

जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्तमम्।
वक्ष्ये पुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये॥ २॥

इस पद्य में जिनसेन मुनि को नमस्कार करके पुराण के अनुसार विवाह-विधि के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और इस तरह पर—पूर्वप्रतिज्ञाओं की मौजूदगी में आवश्यकता न होते हुए भी—इस प्रतिज्ञाद्वारा सविशेष रूप से यह घोषणा की गई है अथवा विश्वास दिलाया गया है कि इस क्रिया का सब कथन भगवज्जिनसेन के आदि-पुराणानुसार किया जाता है। परन्तु अध्याय के जब पत्र पलटते हैं तो नक्शा बिलकुल ही बदला हुआ नज़र आता है और यह मालूम होने लगता है कि अध्याय में वर्णित अधिकांश बातों का आदिपुराण के साथ प्रायः कोई सम्बन्धविशेष नहीं है। बहुतसी बातें हिन्दूधर्म के आचारविचार को लिये हुए हैं—हिन्दुओं की रीतियाँ, विधियाँ अथवा क्रियाएँ हैं—और कितनी ही लोक में इधर उधर प्रचलित अनावश्यक रूढियाँ हैं, जिन सब का एक बेढंगा संग्रह यहाँ पर किया गया है। इस संग्रह से भट्टारकजी का अभिप्राय उक्त प्रकार की सभी बातों को जैनियों के लिये शास्त्रसम्मत करार देने अथवा उन्हें जैनों की शास्त्राज्ञा प्राप्त करा देने का जान पड़ता है, और यह बात आपके 'लौकिकाचार-सिद्धये' पद से भी ध्वनित होती है। आप 'लौकिकाचार' के बड़े ही अन्ध भक्त थे ऐसा जान पड़ता है, बूढ़ी स्त्रियाँ जो कुछ बतलाएँ उन सब-क्रियाओं तक को बिना चूँ चरा करने की आपने परवानगी दी है और एक दूसरी जगह तो, जिसका विचार आगे किया

जायगा, आप यहाँ तक लिख गये हैं कि 'एवं कृते न मिथ्यात्वं लौकिकाचारवर्तनात् '—अर्थात्, ऐसा करने से मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता; क्योंकि यह तो लोकाचार का वर्तना है। आपकी इस अद्भुत तर्कणा और अन्धभक्ति का ही यह परिणाम है जो आप बिना विवेक के कितने ही विरुद्ध आचरणों तथा मिथ्या क्रियाओं को अपने ग्रंथ में स्थान दे गये हैं, और इसी तरह पर कितनी ही देश, काल, इच्छा तथा शक्ति आदि पर निर्भर रहने वाली वैकल्पिक या स्थानिकादि बातों को सबके लिये अवश्यकरणीयता का रूप प्रदान कर गये हैं। परन्तु इन बातों को छोड़िये, यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि आदिपुराण में विवाहक्रिया का कथन, यद्यपि, सूत्ररूप से बहुत ही संक्षेप में दिया है परन्तु जो कुछ दिया है वह सार कथन है और त्रिवर्णाचार का कथन उससे बहुत कुछ विरोध को लिये हुए है। नीचे इस विरोध का ही कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिसमें प्रसंगवश दो चार दूसरी बातें भी पाठकों के सामने आजाएँगी:—

(१—भट्टारकजी, सामुद्रकशास्त्रादि के अनुसार विवाहयोग्य कन्या का वर्णन * करते हुए, लिखते हैं—

इत्थं लक्षणसंयुक्तां षड्राशिवार्जिताम्।
वर्णविरुद्धसंत्यक्तां सुभगां कन्यकां वरेत् ॥ ३५ ॥

---

* इस वर्णन में 'सामुद्रक' के अनुसार कन्याओं अथवा स्त्रियोंके जो लक्षण फल सहित दिये हैं वे फल दृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य हैं—कितने ही प्रत्यक्षविरुद्ध हैं और कितने ही दूसरे सामुद्रक शास्त्रों के साथ विरोध को लिये हुए हैं—उन सब पर विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। इस लिये उनके विचार को छोड़ा जाता है।

इस पद्य में, अन्य बातों को छोड़कर, एक बात यह कही गई है कि जो कन्या विवाही जाय वह **वर्णविरोध से रहित** होनी चाहिये—अर्थात्, **असवर्णा न हो किन्तु सवर्णा** हो। परन्तु यह नियम आदिपुराण के विरुद्ध है। आदिपुराण में त्रैवर्णिक के लिये सवर्णा और असवर्णा दोनों ही प्रकार की कन्याएँ विवाह के योग्य बतलाई हैं। उसमें साफ़ लिखा है कि वैश्य अपने वर्ण की और शूद्र वर्ण की कन्या से, क्षत्रिय अपने वर्ण की और वैश्य तथा शूद्र वर्ण की कन्याओं से और ब्राह्मण चारों ही वर्ण की कन्याओं से विवाह कर सकता है। सिर्फ़ शूद्र के लिये ही यह विधान है कि वह शूद्रा अर्थात् सवर्णा से ही विवाह करे असवर्णा से नहीं। यथाः—

> शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
> वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥१६-४७॥

इस पूर्वविधान को ध्यान में रखकर ही आदिपुराण में विवाह-क्रिया के अवसर पर यह वाक्य कहा गया है कि '**वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यते**'—अर्थात् विवाहयोग्य कुल में से उचित कन्या का परिणयन करे। यहाँ कन्या का '**उचिता**' विशेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण, गम्भीर तथा व्यापक है और उन सब त्रुटियों को दूर करने वाला है जो त्रिवर्णाचार में प्रयुक्त हुए सुभगा, सुलक्षणा अन्यगोत्रभवा, अनातङ्का, आयुष्मती, गुणाढ्या, पितृदत्ता और रूपवती आदि विशेषणों में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये '**रूपवती**' विशेषण को ही लीजिये। यदि रूपवती कन्याएँ ही विवाह के योग्य हों तब '**कुरूपा**' सब ही विवाह के अयोग्य ठहरें। उनका तब क्या बनाया जाय? क्या उनसे जबरन ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाय अथवा उन्हें वैसे ही व्यभिचार के लिये छोड़ दिया जाय? दोनों ही बातें अनिष्ट तथा अन्यायमूलक हैं। परन्तु एक कुरूपा का उसके

अनुरूप कुरूप वर के साथ विवाह हो जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता—उस कुरूप के लिये वह कुरूपा 'उचिता' ही है। अतः विवाहयोग्य कन्या 'रूपवती' ही हो ऐसा व्यापक नियम कदापि आदरणीय तथा व्यवहरणीय नहीं हो सकता—वह व्यक्तिविशेष के लिये ही उपयोगी पड़ सकता है। इसी तरह पर '**पितृदत्ता**' आदि दूसरे विशेषणों की त्रुटियों का भी हाल जानना चाहिये।

भट्टारकजी उक्त पद्य के बाद एक दूसरा पद्य निम्न प्रकार से देते हैं:—

रूपवती स्वजातीया स्वतोलघ्वन्यगोत्रजा।
भोक्तुं भोजयितुं योग्या कन्या बहुकुटुम्बिनी॥ ३६॥

यहाँ विवाहयोग्य कन्या का एक विशेषण दिया है '**स्वजातीया**'—**अपनी जाति की**—और यह विशेषण '**सवर्णा**' का ही पर्यायनाम जान पड़ता है; क्योंकि 'जाति' शब्द 'वर्ण' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—आदिपुराण में भी वह बहुधा 'वर्ण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—मूल जातियाँ भी वर्ण ही हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि यह विशेषण-पद अग्रवाल, खंडेलवाल आदि उपजातियों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इसके द्वारा अपनी अपनी उपजाति की कन्या से ही विवाह करने को सीमित किया गया है। अपने इस कथन के समर्थन में उन लोगों के पास एक युक्ति भी है और वह यह कि 'यदि इस पद्यका आशय सवर्णा का ही होता तो उसे यहाँ देने की ज़रूरत ही न होती; क्योंकि भट्टारकजी पूर्वपद्य में इसी आशय को '**वर्णविरुद्ध संत्यक्ता**' पद के द्वारा व्यक्त कर चुके हैं, वे फिर दोबारा उसी बात को क्यों लिखते? परन्तु इस युक्ति में कुछ भी दम नहीं है। कहा जा सकता है कि एक पद्य में जो बात एक ढंग से कही गई है वही दूसरे पद्य में दूसरे ढंग से बतलाई गई है। इसके सिवाय, भट्टारकजी का सारा ग्रंथ पुनरुक्तियों से भरा हुआ है, वे इतने सावधान नहीं थे जो ऐसी बारी-

क्रियों पर ध्यान देते, उन्होंने इधर उधर से ग्रंथ का संग्रह किया है और इसलिये उसमें बहुतसी पुनरुक्तियाँ हो गई हैं। उदाहरण के लिये इसी अध्याय को लीजिये, इसके तीसरे पद्य में आप विवाहयोग्य कन्या का विशेषण 'अन्यगोत्रभवा' देते हैं और उक्त पद्य नं० ३६ में 'अन्यगोत्रजा' लिखते हैं, दोनों में कौनसा अर्थ-भेद है? फिर यह पुनरुक्ति क्यों की गई? इसी तरह पर १९०वें पद्य में 'ऊर्ध्वं विवाहात्तनयस्य नैव कार्यो विवाहो दुहितुः समार्धम्' इस वाक्य के द्वारा जो 'पुत्र विवाह से छह महीने बाद तक पुत्री का विवाह न करने की' बात कही गई है वही १९२वें पद्य में 'न पुंविवाहोर्ध्वमृतुत्रयेऽपि विवाहकार्यं दुहितुश्च कुर्यात्' इन शब्दों में दोहराई गई है। ऐसी हालत में उक्त हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है। फिर भी यदि वैसे ही यह मान लिया जाय कि भट्टारकजी का आशय इस पद्य के प्रयोग से अपनी अपनी उप-जाति की कन्या से ही था तो कहना होगा कि आपका यह कथन भी आदिपुराण के विरुद्ध है; क्योंकि आदिपुराण में विद्याधर जाति की कन्याओं से ही नहीं किन्तु म्लेच्छ जाति जैसी विजातीय कन्याओं से भी विवाह करने का विधान है— स्वयं भरतजी महाराज ने, जो आदिपुराण-वर्णित बहुत से विधि-विधानों के उपदेष्टा हुए हैं और एक प्रकार से 'कुलकर' माने गये हैं, ऐसी बहुतसी कन्याओं के साथ विवाह किया है; जैसाकि आदिपुराण के निम्न पद्यों से प्रकट है—

इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः ।
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥ २१-१४१ ॥

कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः ।
रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥ ३७-३४ ॥

म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावत्यो नृपवल्लभाः ।
अप्सरः संकथा क्षोणीं यकाभिरवतारिताः ॥ ३७-३५ ॥

इन पद्यों से यह भी प्रकट है कि सजातीय कन्याएँ ही भोगयोग्य नहीं होतीं बल्कि म्लेच्छ जाति तक की विजातीय कन्याएँ भी भोगयोग्य होती हैं; और इसलिये भट्टारकजी का सजातीय कन्याओं को ही **'भोक्तुं भोजयितुं योग्या'** लिखना ठीक नहीं है—वह आदिपुराण की नीति के विरुद्ध है।

२-एक स्थान पर भट्टारकजी, कन्या के स्वयंवराऽधिकार का नियंत्रण करते हुए लिखते हैं:—

पित्रादिदात्रभावे तु कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।
इत्येवं केचिदाचार्याः प्राहुर्महति संकटे ॥ ८३ ॥

इस पद्य में कन्या को **'स्वयंवर'** का अधिकार सिर्फ उस हालत में दिया गया है जबकि उसका पिता, पितामह, भाई आदि कोई भी बांधव कन्यादान करने वाला मौजूद न हो। और साथ ही यह भी कहा गया है कि स्वयंवर की यह विधि कुछ आचार्यों ने महासंकट के समय बतलाई है। परन्तु कौन से आचार्यों ने बतलाई है ऐसा कुछ लिखा नहीं—भगवज्जिनसेन ने तो बतलाई नहीं। आदिपुराण में स्वयंवर को संपूर्ण विवाहविधियों में **' श्रेष्ठ '** (वरिष्ठ) बतलाया है और उसे **'सनातनमार्ग'** लिखा है। उसमें राजा **अकम्पन** की पुत्री **'सुलोचना'**-सती के जिस स्वयंवर का उल्लेख है वह सुलोचना के पिता आदि की मौजूदगी में ही बड़ी खुशी के साथ सम्पादित हुआ था। साथ ही, **भरत** चक्रवर्ती ने उसका बड़ा अभिनंदन किया था और उन लोगों को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य ठहराया था जो ऐसे सनातन मार्गों का पुनरुद्धार करते हैं। यथा:—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२ ॥
तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः ।
कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ४५-४५ ॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ४५-५५

ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त व्यवस्था आदिपुराण के विरुद्ध है और इस बात को सूचित करती है कि आपने आदिपुराण की रीति, नीति अथवा मर्यादा का प्रायः कोई खयाल नहीं रक्खा।

३—एक दूसरे स्थान पर भट्टारकजी, विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ऐसे आठ भेद करके, उनके स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से देते हैं—

ब्राह्मो दैवस्तथा चा [चैवा] र्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ७० ॥
आच्छाद्य चार्ह [र्च] यित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ ७१ ॥
यज्ञे तु वितते सम्यक् जिनार्चा [ऋत्विजे] कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवो धर्मः प्रचक्ष्यते ॥ ७२ ॥
एकं वस्त्रयुगं [गोमिथुनं] द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ ७३ ॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति तं [वा] चानुभाष्य तु [च] ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ७४ ॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याऽऽदानं [प्रदानं] यत्क्रियते चा [स्वाच्छन्द्यादा] सुरोधर्म
उच्यते ॥ ७५ ॥

स्वे [इ] च्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ७६ ॥
हत्वा भित्वा च छित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ७७ ॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः कथितोऽष्टमः [चाष्टमोऽधमः] ॥७८॥

विवाहभेदों का यह सब वर्णन आदिपुराण सम्मत नहीं है—उससे नहीं लिया गया—किन्तु हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रंथ 'मनुस्मृति' से उठाकर रक्खा गया है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में ये सब श्लोक, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, क्रमशः नं० २१ तथा नं० २७ से ३४ तक दर्ज हैं *। और इनमें 'ऋत्विजे' की जगह 'जिनार्चा' तथा 'गोमिथुनं' की जगह 'वस्त्रयुग्मं' जैसे पाठभेद भट्टारकजी के किये हुए जान पड़ते हैं।

४-इस विवाहक्रिया में भट्टारकजी ने 'देवपूजन' का जो विधान किया है वह आदिपुराण से बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। आदिपुराण में इस अवसर के लिये खास तौर पर सिद्धों का पूजन रक्खा है—जो प्रायः गार्हपत्यादि अग्निकुण्डों में सप्त पीठिका मंत्रों द्वारा किया जाता है—और किसी पुण्याश्रम में सिद्ध प्रतिमा के सन्मुख वर और कन्या का पाणिग्रहणोत्सव करने की आज्ञा की है। यथा:—

सिद्धार्चनविधिं सम्यग्निर्वर्त्य द्विजसत्तमः ।
कृताग्नित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षि तां क्रियाम् ॥ ३८-१२९ ॥
पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः ।
दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥—१३० ॥

---

* देखो 'मनुस्मृति' निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा सन् १९०९ की छपी हुई। अन्यत्र भी इसी एडीशन का हवाला दिया गया है।

परंतु भट्टारकजी ने सिद्धपूजनादि की ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की। आपने व्यवस्था की है जलदेवताओं की गंध, अक्षत, पुष्प तथा फलों से पूजा करने की, घर में वेदी बना कर उसमें गृहदेवता + की स्थापना करके तथा दीपक जलाने आदि रूप से उसकी पूजा करने की, पंचमंडल और नवग्रह देवताओं के पूजन की, अघोर-मंत्र से होम करने की और नागदेवताओं को बलि देने आदि की; जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

" फलगन्धाक्षतैः पुष्पैः सम्पूज्य जलदेवताः।" (६१)

" वेद्यां गृहाधिदेवं संस्थाप्य दीपं प्रज्वालयेत्।" (६३)

" पुण्याहवाचनं पश्चात्पञ्चमण्डलपूजनम्।
नवानां देवतानां च पूजनं च यथाविधि ॥ १३३ ॥
तथैवाऽघोरमंत्रेण होमश्च समिधाहुतिम्।
लाजाहुतिं वधूहस्तद्वयेन च वरेण च " ॥ १३४ ॥

"शुभे मंडपे दक्षिणीकृत्य तं वै प्रदापयेद्ध नागस्य लाजाहुतिं च।" (१६४)

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि त्रिवर्णाचार का यह पूजन-विधान आदिपुराण-सम्मत नहीं किन्तु भगवज्जिनसेन के विरुद्ध है। रही मंत्रों की बात, उनका प्रायः वही हाल है जो पहले लिखा जा चुका है— आदिपुराण के अनुसार उनकी कोई व्यवस्था नहीं की गई। हाँ, पाठकों

+ सोनीजी ने 'गृहाधिदेव' को "कुल देवता" समझा है परन्तु यह उनकी भूल है; क्योंकि भट्टारकजी ने चौथे अध्याय में कुल देवता से गृहदेवता को अलग बतलाया है और उसके विश्वेश्वरी, धरणेन्द्र, श्रीदेवी तथा कुबेर ऐसे चार भेद किये हैं। यथा—

विश्वेश्वरीधराधीशश्रीदेवीधनदास्तथा।
गृहलक्ष्मीकरा ज्ञेयाश्चतुर्धा वेश्मदेवताः ॥ २०५ ॥

को यहाँ पर यह जानने की जरूर इच्छा होगी कि वह अघोरमंत्र कौनसा है जिससे भट्टारकजी ने विवाह के अवसर पर होम करने का विधान किया है और जिसे 'कुर्यात् होमं सन्मंत्रपूर्वकम्' वाक्य के द्वारा 'सन्मंत्र' तक लिखा है। भट्टारकजी ने इस मंत्र को नहीं दिया परंतु वह जैन का कोई मंत्र न हो कर वैदिक धर्म का एक प्रसिद्ध मंत्र जान पड़ता है जो हिन्दुओं की विवाह-पुस्तकों में निम्न प्रकार से पाया जाता है और जिसे 'नवरत्नविवाह पद्धति' के छठे संस्करण में अथर्वन् वेद के १४ वें काण्ड के ६ वें अनु० का १८ वाँ मंत्र लिखा है—

"ॐ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चा
वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।"

इस सब विधिविधान से पाठक सहज ही में समझ सकते हैं कि भट्टारकजी हिन्दू धर्म की तरफ कितने झुके हुए थे अथवा उनके संस्कार कितने अधिक हिन्दू धर्म के आचार विचारों को लिये हुए थे और वे किस ढंग से जैनसमाज को भी उसी रास्ते पर अथवा एक तीसरे ही विलक्षण मार्ग पर चलाना चाहते थे। उन्होंने इस अध्याय में वर का मधुपर्क*

---

* यह मधु (शहद) का एक मिक्सचर (सम्पर्क) होता है, जिसमें दही और घी भी मिला रहता है। हिन्दुओं के यहाँ दान-पूजनादि के अवसरों पर इसकी बड़ी महिमा है। भट्टारकजी ने मधुपर्क के लिये (मधुपर्कार्थं) एक जगह वर को महज़ दही चटाई है परंतु सोनीजी को आपकी यह फीकी दही पसन्द नहीं आई और इसलिये उन्होंने पीछे से उसमें 'शक्कर' और मिलादी है और इस तरह पर मधु के स्थान की पूर्ति की है जिसका खाना जैनियों के लिये वर्जित है। यहाँ मधुपर्क के लिये दही का चटाया जाना हिन्दुओं की एक प्रकार की नक़ल को साफ़ ज़ाहिर करता है।

से पूजन, वर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अपने लिये कन्या-वरण की प्रार्थना करना, वधू के गले में वर की दी हुई ताली बाँधना, सुवर्णदान और देवोत्थापन आदि की बहुत सी बातें हिन्दू धर्म से लेकर अथवा इधर उधर से उठाकर रक्खी हैं और उनमें से कितनी ही बातें प्रायः हिन्दूग्रंथों के शब्दों में उल्लेखित हुई हैं, जिसका एक उदाहरण 'देवोत्थापन-विधि' का निम्न पद्य है—

> समे च दिवसे कुर्याद्देवतोत्थापनं बुधः ।
> षष्ठे च विषमे नेष्टं त्यक्त्वा पंचमसप्तमौ ॥ १८०॥

यह 'नारद' ऋषि का वचन है। मुहूर्त चिन्तामणि की 'पीयूषधारा' टीका में भी इसे 'नारद' का वचन लिखा है। इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने '**विवाहात्प्रथमे पौषे**' नाम का एक पद्य और भी दिया है जो '**ज्योतिर्निबन्ध**' ग्रंथ का पद्य है। परंतु उसका इस 'देवोत्थापन' प्रकरण से कोई सम्बंध नहीं, उसे इससे पहले 'वधू-गृह-प्रवेश' प्रकरण में देना चाहिये था, जहाँ '**वधूप्रवेशनं कार्यं**' नाम का एक दूसरा पद्य भी 'ज्योतिर्निबन्ध' ग्रंथ से बिना नाम धाम के उद्धृत किया गया है। मालूम होता है भट्टारकजी को नक़ल करते हुए इसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा! और न सोनीजी को ही अनुवाद के समय इस गड़बड़ी की कुछ खबर पड़ी है!!

५—आदिपुराण में लिखा है कि पाणिग्रहण दीक्षा के अवसर पर वर और वधू दोनों को सात दिन का ब्रह्मचर्य लेना चाहिये और पहले तीर्थभूमियों आदि में विहार करके तब अपने घर पर जाना चाहिये। घर पर पहुँच कर कङ्कण खोलना चाहिये और तत्पश्चात् अपने घर पर ही शयन करना चाहिये—श्वशुर के घर पर नहीं। यथाः—

> पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ।
> आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥ १३२ ॥

क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च ।
स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥ १३३ ॥
विमुक्तकङ्कणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकम् ।
अधिशय्य तथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥ १३४ ॥
—३८वाँ पर्व ।

परंतु भट्टारकजी ने उन दोनों के ब्रह्मचर्य की अवधि तीन रात की रक्खी है, गृहप्रवेश से पहले तीर्थयात्रा को जाने की कोई व्यवस्था नहीं की, बल्कि सीधा अपने घर को जाने की बात कही है और यहाँ तक बन्ध लगाया है कि एक वर्ष तक किसी भी अपूर्व तीर्थ अथवा देवता के दर्शन को न जाना चाहिये; कङ्कण को प्रस्थान से पहले श्वसुरगृह पर ही खोल देना लिखा है और वहीं पर चौथे दिन दोनों के शयन करने अथवा एक शय्यासन होने की भी व्यवस्था की है। जैसा कि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"तदनन्तरं कङ्कणमोचनं कृत्वा महाशोभया ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य पयःपाननिधुवनादिकं सुखेन कुर्यात् । स्वग्रामं गच्छेत् * ।

" विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशनौ ॥ १७२ ॥

---

*इस वाक्य में ग्राम की प्रदक्षिणा के अनन्तर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा स्त्रीसंभोगादिक (निधुवनादिक) करने का साफ़ विधान है और उसके बाद स्वग्राम को जाना लिखा है। परंतु सोनीजी ने अनुवाद में इसके विरुद्ध पहले अपने ग्राम को जाना और फिर वहाँ संभोगादिक करना बतलाया है, जो अगले पद्यों के कथन से भी विरुद्ध पड़ता है। कहीं आदिपुराण के साथ संगति मिलाने के लिये तो ऐसा नहीं किया गया ? तब तो कङ्कण भी वहीं स्वग्राम को आकर खुलवाना था।

अथवा सहैव कुर्वीत निवासं श्वशुरालये।
चतुर्थदिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥ १७३ ॥
" विवाहानन्तरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मन्दिरम्।
यदि ग्रामान्तरे तत्स्यात्तत्र यानेन गम्यते ॥ १७८ ॥
× स्नानं सतैलं तिलमिश्रकर्म, प्रेतानुयानं करकप्रदानम्।
अपूर्वतीर्थामरदर्शनं च विवर्जयेन्मङ्गलतोऽब्दमेकम् ॥१८६॥

इससे स्पष्ट है कि भट्टारकजी का यह सब कथन आदिपुराण के बिलकुल विरुद्ध है और उनकी पूरी निरंकुशता को सूचित करता है। साथ ही इस सत्य को और भी उजाल देता है कि श्री जिनसेनाचार्य के वचनानुसार कथन करने की आपकी सब प्रतिज्ञाएँ ढोंग मात्र हैं। आपने उनके सहारे अथवा छल से लोगों को ठगना चाहा है और इस तरह पर धोखे से उन हिन्दू संस्कारों—क्रियाकाण्डों—तथा आचार विचारों को समाज में फैलाना चाहा है जिनसे आप स्वयं संस्कृत थे अथवा जिनको आप पसंद करते थे और जो जैन आचार-विचारों आदि

× इस पद्य में, विवाह के बाद अपूर्व तीर्थ तथा देवदर्शन के निषेध के साथ एक साल तक तेल मलकर स्नान करने, तिलों के उपयोग वाला कोई कर्म करने, मृतक के पीछे जाने और करक (कमण्डलु आदि) के दान करने का भी निषेध किया है। मालूम नहीं इन सबका क्या हेतु है? तेल मलकर नहा लेने आदि से कौनसा पाप चढ़ता है? शरीर में कौनसी विकृति आजाती है? तीर्थयात्रा अथवा देवदर्शन से कौनसी हानि पहुँचती है? आत्मा को उससे क्या अलाभ होता है? और अपने किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर उसके शव के पीछे न जाना भी कौनसा शिष्टाचार है? जैनधर्म की शिक्षाओं से इन सब बातों का कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता। ये सब प्रायः हिन्दू धर्म की शिक्षाएँ जान पड़ती हैं।

के बहुत कुछ विरुद्ध हैं। इससे अधिक धूर्तता, उत्सूत्रवादिता और ठगविद्या दूसरी और क्या हो सकती है ! इतने पर भी जो लोग, साम्प्रदायिक मोहवश, भट्टारकजी को ऊँचे चरित्र का व्यक्ति समझते हैं, संयम के कुछ उपदेशों का इधर उधर से संग्रह कर देने मात्र से उन्हें 'अद्वितीय संयमी' प्रतिपादन करते हैं, उनके इस त्रिवर्णाचार की दीवार को आदिपुराण के ऊपर—उसके आधारपर—खड़ी हुई बतलाते हैं और 'इसमें कोई भी बात ऐसी नहीं जो किसी आर्ष ग्रंथ अथवा जैनागम के विरुद्ध हो' ऐसा कहने तक का दुःसाहस करते हैं, उन लोगों की स्थिति, निःसंदेह, बड़ी ही शोचनीय तथा करुणाजनक है। मालूम होता है वे भोले हैं या दुराग्रही हैं, उनका अध्ययन स्वल्प तथा अनुभव अल्प है, पर—साहित्य को उन्होंने नहीं देखा और न तुलनात्मक पद्धति से कभी इस ग्रंथ का अध्ययन ही किया है। अस्तु।

इस ग्रंथ में आदिपुराण के विरुद्ध और भी कितनी ही बातें हैं जिन्हें लेख बढ़ जाने के भय से यहीं छोड़ा जाता है।

(२) आदिपुराण के विरुद्ध अथवा आदिपुराण से विरोध रखने वाले कथनों का दिग्दर्शन कराने के बाद, अब मैं एक दूसरे ग्रंथ को और लेता हूँ जिसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञाविरोध पाया जाता है और वह ग्रंथ है 'ज्ञानार्णव', जो श्री शुभचन्द्राचार्य का बनाया हुआ है। इसी ग्रंथ के अनुसार ध्यान का कथन करने की एक प्रतिज्ञा भट्टारकजी ने, ग्रंथ के पहले ही 'सामायिक' अध्याय में, निम्न प्रकार से की है:—

ध्यानं तावदहं वदामि विदुषां ज्ञानार्णवे यन्मत-
मार्त्तं रौद्रसधर्म्यशुक्ल चरमं दुःखादिसौख्यप्रदम्।
पिण्डस्थं च पदस्थरूपरहितं रूपस्थनामा परं।
तेषां भिन्न चतुश्चतुर्विषयजा भेदाः परे सन्ति वै ॥२८॥

इस प्रतिज्ञावाक्य-द्वारा यह विश्वास दिलाया गया है कि इस अध्याय में ध्यान का—उसके आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल भेदों का, उपभेदों का और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नाम के दूसरे भेदों का—जो कुछ कथन किया गया है वह सब 'ज्ञानार्णव' के मतानुसार किया गया है, ज्ञानार्णव से भिन्न अथवा विरुद्ध इसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु जाँचने से ऐसा मालूम नहीं होता—ग्रंथ में कितनी ही बातें ऐसी देखने में आती हैं जो ज्ञानार्णव-सम्मत नहीं हैं अथवा ज्ञानार्णव से नहीं ली गईं। उदाहरण के तौर पर यहाँ उनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(अ) 'अपायविचय' धर्मध्यान का लक्षण बतलाते हुए भट्टारकजी लिखते हैं—

* येन केन प्रकारेण जैनो धर्मो प्रवर्धते।
तदेव क्रियते पुम्भिरपायविचयं मतम् ॥ ३५ ॥

अर्थात्—'जिस तिस प्रकार से जैन धर्म बढ़े वही करना अपायविचय माना गया है।' परन्तु ज्ञानार्णव में तो ऐसा कहीं कुछ माना नहीं गया। उसमें तो साफ़ लिखा है कि 'जिस ध्यान में कर्मों के अपाय (नाश) का उपाय सहित चिन्तवन किया जाता है उसे अपायविचय कहते हैं। यथा:—

---

* इस पद्य पर से 'अपायविचय' का जब कुछ ठीक लक्षण निकलता हुआ नहीं देखा तब सोनीजी ने वैसे ही खींचखाँच कर आचार्य आदि के द्वारा उसे अपनी तरफ़ से समझाने की कुछ चेष्टा की है, जिसका अनुभव विज्ञ पाठकों को अनुवाद पर से सहज ही में हो जाता है।

'अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥३९—१॥

इस लक्षण के सामने भट्टारकजी का उक्त लक्षण कितना विलक्षण जान पड़ता है उसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। वास्तव में, वह बहुत कुछ सदोष तथा त्रुटिपूर्ण है और ज्ञानार्णव के साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती।

(आ) इसी तरह पर पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान के जो लक्षण भट्टारकजी ने दिये हैं उनकी संगति भी ज्ञानार्णव के साथ ठीक नहीं बैठती। भट्टारकजी लिखते हैं—'लोक में जो कुछ विद्यमान है उस सबको देह के मध्यगत चिन्तवन करना पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है' और 'जिस ध्यान में शरीर तथा जीव का भेद चिन्तवन किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं'। यथा—

" यत्किंचिद्विद्यते लोके तत्सर्वं देहमध्यगम्।
इति चिन्तयते यत्तु पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते ॥४६॥
" शरीरजीवयोर्भेदो यत्र रूपस्थमस्तु तत् ॥ ४८ ॥

परन्तु ज्ञानार्णव में ऐसा कुछ भी नहीं लिखा। उसमें पिण्डस्थ ध्यान का जो पंचधारणात्मक स्वरूप दिया है उससे भट्टारकजी का यह लक्षण लाज़िमी नहीं आता। इसी तरह पर समवसरण विभूति सहित देवाधिदेव श्री अर्हंतपरमेष्ठी के स्वरूप चिन्तवन को जो उसमें रूपस्थ ध्यान बतलाया है उससे यह 'शरीरजीवयोर्भेदः' नाम का लक्षण कोई मेल नहीं खाता *।

* शायद इसीलिये सोनीजी को भावार्थ द्वारा यह लिखना पड़ा हो कि "विभूतियुक्त अर्हन्तदेव के गुणों का चिन्तवन करना रूपस्थ ध्यान है।" परन्तु उक्त लक्षण का यह भावार्थ नहीं हो सकता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने रूपस्थ ध्यान के अनन्तर 'रूपातीत' ध्यान का लक्षण एक पद्य में देने के बाद 'प्रातश्चोत्थाय' से लेकर 'षडावश्यकसत्कर्म' तक १७ पद्य दिये हैं, जो ग्रंथ में 'प्रातःकाल सम्बंधी क्रियाएँ' और 'सामायिक' शीर्षकों के साथ नं० ५० से ६६ तक पाये जाते हैं। इन पद्यों में प्रातःकाल सम्बन्धी विचारों का कुछ उल्लेख करके सामायिक करने की प्रेरणा की गई है और सामायिक का स्वरूप आदि भी बतलाया गया है। सामायिक के लक्षण का प्रसिद्ध श्लोक **'समता सर्वभूतेषु'** इनमें शामिल है, **'योग्य कालासन'** तथा **'जीविते मरणे'** नाम के दो पद्य अनगारधर्मामृत के भी उद्धृत हैं और **'पापिष्ठेन दुरात्मना'** नाम का एक प्रसिद्ध पद्य प्रतिक्रमण पाठ का भी यहाँ शामिल किया गया है। और इन सब पद्यों के बाद 'पदस्थ ध्यान' का कुछ विशेष कथन आरम्भ किया गया है। ग्रंथ की इस स्थिति में उक्त १७ पद्य यहाँ पर बहुत कुछ असम्बद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं—पूर्वापर पद्यों अथवा कथनों के साथ उनका सम्बंध ठीक नहीं बैठता। इनमें से कितने ही पद्यों को इस सामायिक प्रकरण के शुरू में—**'ध्यानं तावदहं वदामि'** से भी पहले—देना चाहिये था। परंतु भट्टारकजी को इसकी कुछ भी सूझ नहीं पड़ी, और इसलिये उनकी रचना क्रमभंगादि दोषों से दूषित हो गई, जो पढ़ते समय बहुत ही खटकती है। और भी कितने ही स्थानों पर ऐसे रचनादोष पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

(६) पदस्थ ध्यान के वर्णन में, एक स्थान पर भट्टारकजी, **'ह्रीं'** मंत्र के जप का विधान करते हुए, लिखते हैं—

हवर्णान्तः पार्श्वजिनोऽधोरेफस्तलगतः सधरेन्द्रः
तुर्यस्वरः सबिन्दुः स भवेत्पद्मावतीसंज्ञः ॥ ७२ ॥

त्रिभुवनजनमोहकरी विद्येयं प्रणवपूर्वनमनान्ता ।

एकाक्षरीति संज्ञा जपतः फलदायिनी नित्यम् ॥ ७९ ॥

यहाँ 'ह्रीं' पद में हकार को पार्श्वनाथ भगवान का, नीचे के रकार को तद्गत धरणेन्द्र का और बिन्दुसहित ईकार को पद्मावती का वाचक बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि यह 'ह्रीं' मंत्र धरणेंद्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ जिनेंद्र का द्योतक है। साथ ही, इसके पूर्व में 'ॐ' और अंत में 'नमः' पद लगा कर 'ॐ ह्रीं नमः' ऐसा जप करने की व्यवस्था की गई है, और उसे त्रिभुवन के लोगों को मोहित करने वाली 'एकाक्षरी विद्या' लिखा है। परंतु ज्ञानार्णव में इस मंत्र का ऐसा कोई विधान नहीं है—उसमें कहीं भी नहीं लिखा कि 'ह्रीं' पद धरणेंद्रपद्मावतीसहित पार्श्व जिन का वाचक है अथवा 'ॐ ह्रीं नमः' यह एकाक्षरी विद्या है—और इसलिये भट्टारकजी का यह सब कथन ज्ञानार्णव-सम्मत न होने से उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

(ई) इसी तरह पर भट्टारकजी ने एक दूसरे मंत्र का विधान भी निम्न प्रकार से किया है:—

ॐनमः सिद्धमित्येतन्मंत्रं सर्वसुखप्रदम् ।

जपतां फलतीहेष्टं स्वयं स्वगुणजृंभितम् ॥ ८२ ॥

इसमें 'ॐनमः सिद्धं' मंत्र के जाप की व्यवस्था की गई है और उसे सर्व सुखों का देने वाला तथा इष्ट फल का दाता लिखा है। यह मंत्र भी ज्ञानार्णव में नहीं है। अतः इसके सम्बन्ध में भी भट्टारकजी का प्रतिज्ञाविरोध पाया जाता है।

इस पद्य के बाद ग्रंथ में, 'इत्थं मंत्रं स्मरति सुगुणं यो नरः सर्वकालं' (८३) नामक पद्य के द्वारा आम तौर पर मंत्र स्मरण के फल का उल्लेख करके, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है:—

> अयं मंत्रो महामंत्रः सर्वपापविनाशकः ।
> अष्टोत्तरशतं जप्तो धत्ते कार्याणि सर्वशः ॥ ८४ ॥

इस पद्य में जिस मंत्र को सर्वपापविनाशक महामंत्र बतलाया है और जिसके १०८ बार जपने से सर्व प्रकार के कार्यों की सिद्धि होना लिखा है वह मंत्र कौनसा है उसका इस पद्य से अथवा इसके पूर्ववर्ती पद्य से कुछ भी पता नहीं चलता । '**ॐनमः सिद्धं**' नाम का वह मंत्र तो हो नहीं सकता जो ८२ वें पद्य में वर्णित है; क्योंकि उसके सम्बन्ध का ८३ वें पद्य द्वारा विच्छेद हो गया है। यदि उस से अभिप्राय होता तो यह पद्य '**इत्थं मंत्रं**' नामक ८३ वें पद्य से पहले दिया जाता । अतः यह पद्य यहाँ पर असम्बद्ध है । सोनीजी कहते हैं इसमें 'अपराजित मंत्र' का उल्लेख है। पैंतीस अक्षरों का अपराजित मंत्र ('णमो अरहंताणं' आदि) बेशक महामंत्र है और वह उन सब गुणों से विशिष्ट भी है जिनका इसमें उल्लेख किया गया है परन्तु उससे यदि अभिप्राय था तो यह पद्य '**अपराजित मंत्रोऽयं**' नामक ८० वें पद्य के ठीक बाद दिया जाना चाहिये था । उसके बाद '**षोडशाक्षरविद्या**' तथा '**ॐनमः सिद्धं**' नामक दो मंत्रों का और विधान बीच में हो चुका है, जिससे इस पद्य में प्रयुक्त हुए '**अयं**' (यह) पद का वाच्य अपराजित मंत्र नहीं रहा । और इस लिये अपराजितमंत्र की दृष्टि से यह पद्य यहाँ और भी असम्बद्ध है और वह भट्टारकजी की रचनाचातुरी का भण्डाफोड़ करता है ।

इस पद्य के बाद पाँच पद्य और हैं जो इससे भी ज्यादा असम्बद्ध हैं और वे इस प्रकार हैं:—

> हिंसानृतान्यदारेच्छा चुरा चातिपरिग्रहः ।
> अमूनि पंच पापानि दुःखदायीनि संसृतौ ॥ ८५ ॥
> अष्टोत्तरशतं भेदास्तेषां पृथगुदाहृताः ।
> हिंसा तत्र कृता पूर्वं करोति च करिष्यति ॥ ८६ ॥

मनोवचनकायैश्च ते तु त्रिगुणिता नव ।
पुनः स्वयं कृतकारितानुमोदैर्गुणाहतिः ॥ ८७ ॥
सप्तविंशतिस्ते भेदाः कषायैर्गुणयेच्चताम् ।
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयमसत्यादिषु तादृशम् ॥ ८८ ॥
पृथ्वीपानीयतेजःपवनसुतरवः स्थावराः पंचकायाः ।
नित्यानित्यौ निगोदौ युगलत्रिचतुः संज्ञ्यसंज्ञित्रसाः स्युः ।
एते प्रोक्ता जिनैर्द्वादश परिगुणिता वाङ्मनः कायभेदै-
स्ते चान्यैः कारिताद्यैस्त्रिभिरपि गुणिताश्चाष्टशून्यैकसंख्याः ॥८९॥

इन पद्यों में से पहले पद्य में हिंसादिक पंच पापों के नाम देकर लिखा है कि 'ये पाँचों पाप संसार में दुःखदायी हैं' और इसके बाद तीन पद्यों में यह बतलाया है कि इन में से प्रत्येक पाप के १०८ भेद हैं। जैसे हिंसा पहले की, अब करता है, आगे करेगा ऐसे तीन भेद हुए; इनको मन–वचन–काय से गुणाने पर ९ भेद; कृत–कारित–अनुमोदना से गुणाने पर २७ भेद और फिर चार कषायों से गुणाने पर १०८ भेद हिंसा के हो जाते हैं। इसी तरह पर असत्यादिक के भेद जानने। और पाँचवे पद्य में हिंसादिक का कोई विकल्प उठाए बिना ही दूसरे प्रकार से १०८ भेदों को सूचित किया है—लिखा है 'पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वृक्ष, (वनस्पति) ऐसे पाँच स्थावर काय, नित्य निगोद, अनित्य निगोद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय, और असंज्ञिपंचेन्द्रिय ऐसे बारह भेद* जिनेंद्र भगवान ने कहे हैं। इनको मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना, से गुणाने पर १०८ भेद हो जाते हैं'।

*ये बारह भेद भगवान ने किसके कहे हैं—जीवों के, जीवहिंसा के या असत्यादिक के, ऐसा यहाँ पर कुछ भी नहीं लिखा। और न यही बतलाया कि ये पिछले भेद यदि जिनेंद्र भगवान के कहे हुए हैं तो पहले भेद किसके कहे हुए हैं अथवा दोनों का ही कथन विकल्प रूपसे भगवान का किया हुआ है।

यही उक्त पद्यों का परिचय है। इस परिचय पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि ये सब पद्य यहाँ पर पदस्थ ध्यान के वर्णन में, पूर्वापर सम्बंध अथवा कथनक्रम को देखते हुए, कितने असंबद्ध तथा बेढंगे मालूम होते हैं और इनके यहाँ दिये जाने का उद्देश्य तथा आशय कितना अस्पष्ट है। एकसौ आठ भेदों की यह गणना भी कुछ विलक्षण जान पड़ती है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके भेद से भी हिंसादिक में कोई प्रकार-भेद होता है यह बात इस ग्रंथसे ही पहले पहल जानने को मिली। परंतु यह बात चाहे ठीक हो या न हो किन्तु ज्ञानार्णव के विरुद्ध जरूर है; क्योंकि ज्ञानार्णव में हिंसाके भूत, भविष्यत और वर्तमान ऐसे कोई भेद न करके उनकी जगह पर संरंभ, समारंभ, और आरंभ, नाम के उन भेदों का ही उल्लेख किया है जो दूसरे तत्वार्थ ग्रंथों में पाये जाते हैं; जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

> संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात्।
> शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसा भेदैस्तु पिण्डितम्॥८-१०॥

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनीजी ने अपनी अनुवाद पुस्तक में पद्य नं० ८८ और ८९ के मध्य में 'उक्तं च तत्त्वार्थे' वाक्य के साथ संरंभसमारंभारंभ-योग' नाम के तत्वार्थ सूत्र का भी अनुवादसहित इस ढंग से उल्लेख किया है जिससे वह भट्टारकजी के द्वारा ही उद्धृत जान पड़ता है। परंतु मराठी अनुवाद वाली प्रति में वैसा नहीं है। हो सकता है कि यह सोनीजी की ही अपनी कर्तूत हो। परंतु यदि ऐसा नहीं है किन्तु भट्टारकजी ने ही इस सूत्र को अपने पूर्व कथन के समर्थन में उद्धृत किया है और वह ग्रंथ की कुछ प्राचीन प्रतियों में इसी प्रकार से उद्धृत पाया जाता है तो कहना होगा कि भट्टारकजी ने इसे देकर अपनी रचना

को और भी बेढंगा किया है—क्योंकि इससे पूर्व कथन का पूरीतरह पर समर्थन नहीं होता—अथवा यों कहिये कि सर्व साधारण पर यह प्रकट किया है कि उन्होंने संरंभ, समारंभ तथा आरंभ का अभिप्राय क्रमशः भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल समझा है। परंतु ऐसा समझना भूल है; क्योंकि पूज्यपाद जैसे आचार्यों ने सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में प्रयत्नावेश को 'संरंभ' साधनसमभ्यासीकरण को 'समारंभ' और प्रक्रम या प्रथमप्रवृत्ति को 'आरंभ' बतलाया है।

(ठ) उक्त पाँचों पद्यों के अनन्तर ग्रंथ में वशीकरण, आकर्षण स्तंभन, मारण, विद्वेषण, उच्चाटन, शांतिकरण और पौष्टिक कर्म नाम के आठ कर्मों के सम्बन्ध में जप की विधि बतलाई गई है—अर्थात् यह प्रकट किया गया है कि किस कर्मविषयक मंत्र को किस समय, किस आसन तथा मुद्रा से, कौनसी दिशा की ओर मुख करके, कैसी माला लेकर और मंत्र में कौनसा पल्लव लगाकर जपना चाहिये। साथ ही, कुछ कर्मों के सम्बन्ध में जप के समय माला का दाना पकड़ने के लिये जो जो अँगुली अँगूठे के साथ काम में लाई जावे उसका भी विधान किया है। यह सब प्रकार का विधि-विधान भी ज्ञानार्णव से बाहर की चीज़ है—उससे नहीं लिया गया है। साथ ही, इस विधान में मालाओं का कथन दो बार किया गया है, जो दो जगहों से उठाकर रक्खा गया मालूम होता है और उससे कथन में कितना ही पूर्वापर विरोध आगया है। यथाः—

* स्तंभकर्मणि·········माला सर्वमणिभिता ॥ ९४ ॥

---

* अर्थात्-एक जगह स्तंभ कर्म में स्वर्णमणि की माला का और निषेध (मारण) कर्म में जीयापूते की मालाका (जिसे लोनीजीने पुत्र जीव नामक किसी मणि की—रत्न की—माला समझा है।) विधान किया है तब दूसरी जगह स्तंभन तथा दुष्टों के सचाटन दोनों

निषेधकर्मणि ....पुत्रजीवकृतामाला ॥ ९६ ॥
स्तंभने दुष्टसाशे अपेत् प्रस्तरकर्कराम् ॥ १०८ ॥

× × × ×

विद्वेषकर्मणि ....पुत्रजीवकृता माला ॥ ९८॥
विद्वेषेऽरिष्टबीजजा ॥ १०८ ॥

× × × ×

शांतिकर्मणि ......मौक्तिकानां माला ॥ १०१ ॥
शान्त्यये ....जपेदुत्पलमालिकाम् ॥ ११० ॥

मालूम होता है भट्टारकजी को इस विरोध की कुछ भी खबर नहीं पड़ी और वे वैसे ही बिना सोचे समझे इधर उधर से पद्यों का संग्रह कर गये हैं। ११० वें पद्य के उत्तरार्ध में आप लिखते हैं—'षट्-कर्माणि तु प्रोक्तानि पल्लवा अत्र उच्यते'—अर्थात् छह कर्म तो कहे गये अब पल्लवों का कथन किया जाता है। परन्तु कथन तो आपने इससे पहले वशीकरण आदि आठ कर्मों का किया है फिर यह छहकी संख्या कैसी? और पल्लवों का विधान भी आप प्रत्येक कर्म के साथ में कर चुके हैं, फिर उनके कथन की यह नई प्रतिज्ञा कैसी? और उस प्रतिज्ञा का पालन भी क्या किया गया? पल्लवों की कोई खास व्यवस्था नहीं बतलाई गई, महज कुछ मंत्र दिये हैं जिनके साथ में पल्लव भी लगे हुए हैं और वे पल्लव भी कई स्थानों पर पूर्व कथन के विरुद्ध हैं। मालूम नहीं यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी क्या किसी नशे

कर्मों के लिये पत्थर के टुकड़ों की माला बतलाई गई है। विद्वेष कर्म में एक जगह जीयापूते की और दूसरी जगह रीठे के बीज की माला लिखी है और शांतिकर्म में एक जगह मोतियों की तो दूसरी जगह कमलगट्टों की माला की व्यवस्था की गई है। इस तरह पर यह कथन परस्परविरोध को लिये हुए है।

की हालत में थे, उन्मत्त थे अथवा उन्हें इतनी भी सूझ बूझ नहीं थी जो अपने सामने स्थित एक ही पत्र पर के पूर्वापर विरोधों को भी समझ सकें ! और क्या इसी बिरते अथवा बूते पर आप ग्रंथरचना करने बैठ गये ! संभव है भट्टारकजी को घर की ऐसी कुछ ज्यादा अकल न हो और उन्होंने किराये के साधारण आदमियों से रचना का काम लिया हो और उसी की वजह से यह सब गड़बड़ी फैली हो । परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ का निर्माण किसी अच्छे हाथ से नहीं हुआ और इसीलिये वह पद पद पर अनेक प्रकार के विरोधों से भरा हुआ है तथा बहुत ही बेढंगेपन को लिये हुए है।

यहाँ पर पाठकों को यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य तथा कौतूहल होगा कि भट्टारकजी ने 'सामायिक' के इस अध्याय में विद्वेषण तथा मारण मंत्रों तक के जप का विधान किया है* और ऐसे दुष्ट कार्यार्थी मंत्रों के जप का स्थान श्मशान भूमि+ बतलाया है !! खेद है जिस सामायिक की बाबत आपने स्वयं यह प्रतिपादन किया है कि "उसमें सब जीवों पर समता भाव रक्खा जाता है, संयम में शुभ भावना रहती है तथा आर्त-रौद्र नाम के अशुभ ध्यानों का त्याग होता है' और जिसके विषय में आप यहाँ तक शिक्षा दे आए हैं कि ' उसके अभ्यासी को जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, योग वियोग, बन्धु शत्रु तथा सुख-दुःख में सदा समता भाव रखना चाहिये—रागद्वेष नहीं करना चाहिये' उसी सामायिक के प्रकरण में आप विद्वेष फैलाने तथा किसी को मारने तक के मंत्रों का विधान करते हैं !! यह कितना भारी विरोध तथा

---

*यथाः—ॐ ह्रां, अर्हद्भ्यो हूं फट्, ॐ ह्रीं सिद्धेभ्यो हूं फट्,
इत्यादि-विद्वेषमंत्रः।
ॐ ह्रां अर्हद्भ्यो घे घे इति (इत्यादि ?) मारणमंत्रः।

+यथाः-श्मशाने दुष्टकार्यार्थं शान्त्यार्थं जिनालये ॥१११॥

अन्याय है। क्या ऐसे पाप मंत्रों का जपना भी 'सामायिक' हो सकता है? कदापि नहीं। ऐसे मारणादि-विषयक मंत्रों का आराधन प्रायः हिंसानन्दी रौद्र ध्यान का विषय है और वह कभी 'सामायिक' नहीं कहला सकता। भगवज्जिनसेन ने भी ऐसे मंत्रों को 'दुर्मंत्र' बतलाया है जो प्राणियों के मारण में प्रयुक्त होते हैं* भले ही उनके साथ में अर्हन्तादिक का नाम भी क्यों न लगा हो। और इसलिये यहाँ पर ऐसे मंत्रों का विधान करके सामायिक के प्रकरण का बहुत ही बड़ा दुरुपयोग किया गया है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। और इससे भट्टारकजी के विवेक का और भी अच्छा खासा पता चल जाता है अथवा यह मालूम हो जाता है कि उनमें हेयादेय के विचार अथवा समझ बूझ का माद्दा बहुत ही कम था। फिर वे बेचारे अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन भी कहाँ तक कर सकते थे, कहाँ तक वैदिक तथा लौकिक व्यामोह को छोड़ सकते थे और उनमें चारित्रबल भी कितना हो सकता था, जिससे वे अपनी अशुभ प्रवृत्तियों पर विजय पाते और मायाचार अथवा छलकपट न करते। अस्तु।

यह तो हुआ प्रतिज्ञादि के विरोधों का दिग्दर्शन। अब मैं दूसरे प्रकार के विरुद्ध कथनों की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ, जो इस विषय में और भी ज़्यादा महत्व को लिये हुए हैं और ग्रंथ को सविशेष रूपसे अमान्य, अश्रद्धेय तथा त्याज्य ठहराने के लिये समर्थ हैं।

दूसरे विरुद्ध कथन।

लेख के इस विभाग में प्रायः उन कथनों का दिग्दर्शन कराया जायगा जो जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति, जैनआदर्श, जैन आचार-विचार अथवा जैनशिष्टाचार आदि के विरुद्ध हैं और जैनशासन के

---

* यथा:- दुर्मंत्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥ ३९-२६ ॥ —आदिपुराण।

साथ जिनका प्रायः कोई मेल नहीं। इससे पाठकों पर ग्रंथ की असलियत और भी अच्छी तरह से खुल जायगी और उन्हें ग्रंथकर्ता की मनोदशा का भी कितना ही विशेष अनुभव हो जायगा अथवा यों कहिये कि भट्टारकजी की श्रद्धा आदि का उन्हें बहुतसा पता चल जायगाः—

देव, पितर और ऋषियों का घेरा।

(१) 'शौच' नाम के दूसरे अध्याय में, कुरला करने का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने लिखा है—

* पुरतः सर्वदेवाश्च दक्षिणे व्यन्तराः [पितरः] स्थिताः [तथा]।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमुत्सृजेत् [माचरेत्] ॥ ६० ॥

---

* इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने बड़ा तमाशा किया है। आपने 'पुरतः' का अर्थ 'पूर्व की तरफ़', 'पृष्ठतः' का अर्थ 'पश्चिम की ओर' और 'वामे' पद के साथ में मौजूद होते हुए भी 'दक्षिणे' का अर्थ दाहिनी ओर न करके, 'दक्षिण दिशा की तरफ़' ग़लत किया है और इस सख्त ग़लती के कारण ही पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं में क्रमशः सर्व देवों, व्यन्तरों तथा सर्व ऋषियों का निवास बतला दिया है! परन्तु 'वामे' का अर्थ आप 'उत्तर दिशा' न कर सके और इसलिये आपको "इन तीन दिशाओं में कुरला न फेंके" के साथ साथ यह भी लिखना पड़ा—"किन्तु अपनी बाँई ओर फेंके"। परन्तु बाँई ओर यदि पूर्व दिशा हो, दक्षिण दिशा हो, अथवा पश्चिम दिशा हो तब क्या बने और कैसे बाँई ओर कुरला करने का नियम क़ायम रहे? इसकी आपको कुछ भी ख़बर नहीं पड़ी! और न यही ख़याल आया कि जैनागम में कहाँ पर ये दिशाएँ इन देवादिकों के लिये मख़सूस अथवा निर्धारित की गई हैं!! वैसे ही बिना सोचे समझे जो जी में आया लिख मारा!! यह भी नहीं सोचा कि यदि

अर्थात्—सामने सर्व देव, दाहिनी ओर व्यंतर (पितर) और पीठ पिछाड़ी सर्व ऋषि खड़े हैं अतः बाँई तरफ़ कुरला करना चाहिये। और इस तरह पर यह सूचित किया है कि मनुष्य को तीन तरफ़ से देव, पितर तथा ऋषिगण घेरे रहते हैं, कुरला कहीं उनके ऊपर न पड़जाय उसीके लिये यह अहतियात की गई है। परंतु उन लोगों का यह घेरा कुरले के वक़्त ही होता है या स्वाभाविक रूप से हरवक़्त रहता है, ऐसा कुछ सूचित नहीं किया। यदि कुरले के वक्त ही होता है तो उसका कोई कारणविशेष होना चाहिये। क्या कुरले का तमाशा देखने के लिये ही ये सब लोग उसके इरादे की खबर पाकर जमा हो जाते हैं? यदि ऐसा है तब तो वे लोग आकाश में कुरला करने वाले के सिर पर खड़े होकर भी तमाशा देख सकते हैं और छींटों से बच सकते हैं। उनके लिये ऐसी व्यवस्था करने की ज़रूरत ही नहीं—यह निरर्थक जान पड़ती है। और यदि उनका घेरा बराबर में हरवक्त बना रहता है तब तो बड़ी मुशकिल का सामना है—इधर तो उन बेचारों को बड़ी ही कवाइद सी करनी पड़ती होगी, क्योंकि मनुष्य जल्दी २ अपने मुख तथा आसन को इधर से उधर बदलता रहता है, उसके साथ में उन्हें भी जल्दी से पैंतरा बदल कर बिना इच्छा भी घूमना पड़ता होगा!! और उधर मनुष्यों का थूकना तथा नाक साफ़ करना भी तब इधर उधर नहीं बन सकेगा, जिसके लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई। यह मल भी तो कुरले के जल से कुछ कम अपवित्र नहीं है। खैर, इसकी व्यवस्था भी हो सकेगी और यह मल भी बाँई ओर फेंका जा सकेगा, पर मूत्रोत्सर्ग के समय—जो उत्सर्ग के सामने की ओर

पूर्व की ओर सारे देव रहते हैं तो फिर इस ग्रंथ में ही पूर्व की ओर मुँह करके मलत्याग करने को क्यों कहा गया है? क्या कुरला मूत्र की धार से भी गया बीता है?

ही होता है—देवताओं की क्या व्यवस्था बनेगी, यह कुछ समझ में नहीं आता!! परंतु समझ में कुछ आओ या न आओ, कोई व्यवस्था बनो या न बनो, बड़ी मुशकिल का सामना करना पड़ो या छोटी मुशकिल का और कुरले के वक्त पर उन देवादिकों के उपस्थित होने का भी कोई कारण हो या न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्म के साथ इस सब कथन का कुछ भी सम्बंध नहीं है—उसकी कोई संगति ठीक नहीं बैठती। जैनधर्म में देवों, पितरों तथा ऋषियों का जो स्वरूप दिया है अथवा जीवों की गति-स्थिति आदि का जो निरूपण किया है उसे देखते हुए भट्टारकजी का उक्त कथन उसके बिलकुल विरुद्ध जान पड़ता है और उस अतत्व श्रद्धान को पुष्ट करता है जिसका नाम मिथ्यात्व है। मालूम नहीं उन्होंने एक जैनी के रूप में उसे किस तरह अपनाया है! वास्तव में यह सब कथन हिन्दू-धर्म का कथन है। उक्त श्लोक भी हिन्दुओं के 'प्रयोगपारिजात' ग्रंथ का श्लोक है; और वह 'आन्हिक-सूत्रावलि' में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ, प्रयोगपारिजात से उद्धृत पाया जाता है। पाठभेद में 'पितरः' की जगह 'व्यन्तराः' पद का जो विशेष परिवर्तन नज़र आता है वह अधिकांश में लेखकों की लीला का ही एक नमूना जान पड़ता है। अन्यथा, उसका कुछ भी महत्व नहीं है, और सर्व देवों में व्यन्तर भी शामिल हैं।

दन्तधावन करने वाला पापी।

(२) *त्रिवर्णाचार के दूसरे अध्याय में, दन्तधावन का वर्णन* करते हुए, एक पद्य निम्न प्रकार से दिया है—

सहस्रांशावनुदिते यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
स पापी मरणं याति सर्वजीवदयातिगः ॥ ७१ ॥

इसमें लिखा है कि 'सूर्योदय से पहले जो मनुष्य दन्तधावन करता है वह पापी है, सर्व जीवों के प्रति निर्दयी है और (जल्दी) मर जाता

है। परंतु उसने पाप का कौनसा विशेष कार्य किया ? कैसे सर्व जीवों के प्रति उसका निर्दयत्व प्रमाणित हुआ ? और शरीर में कौनसा विकार उपस्थित हो जाने से वह जल्दी मर जायगा ? इन सब बातों का उक्त पद्य से कुछ भी बोध नहीं होता। आगे पीछे के पद्य भी इस विषय में मौन हैं और कुछ उत्तर नहीं देते। लोकव्यवहार भी ऐसा नहीं पाया जाता और न प्रत्यक्ष में ही किसी को उस तरह से जल्दी मरता हुआ देखा जाता है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने कहाँ से ये निर्मूल आज्ञाएँ जारी की हैं, जिनका जैननीति अथवा जैनागम से कोई समर्थन नहीं होता। प्राचीन जैनशास्त्रों में ऐसी कोई भी बात नहीं देखी जाती जिससे बेचारे प्रातःकाल उठ कर दन्तधावन करने वाले एक साधारण गृहस्थ को पापी ही नहीं किन्तु सर्व जीवों के प्रति निर्दयी तक ठहराया जाय। और न शरीरशास्त्र का ही ऐसा कोई विधान जान पड़ता है जिससे उस वक्त का दन्तधावन करना मरण का साधन हो सके। वाग्भट जैसे शरीरशास्त्र के आचार्यों ने ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर शौच के अनंतर प्रातःकाल ही दन्तधावन का साफ़ तौर से विधान किया है। वह स्वास्थ्य के लिये कोई हानिकर नहीं हो सकता। और इसलिये यह सब कथन भट्टारकजी की प्रायः अपनी कल्पना जान पड़ता है। जैनधर्म की शिक्षा से इसका कोई ख़ास सम्बंध नहीं है। खेद है कि भट्टारकजी को इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि क्या प्रातःसंध्या बिना दन्तधावन के ही हो जाती है* जिसको आप स्वयं ही '**सूर्योदयात्त प्रागेव प्रातःसंध्या समापयेत्** (३-१३५)' वाक्य के द्वारा सूर्योदय से पहले ही समाप्त कर देने को लिखते हैं!! यदि खबर पड़ती तो आप व्यर्थ ही ऐसे

---

*नहीं होती। भट्टारकजी ने खुद संध्या समय के स्नान को ज़रूरी बतलाते हुए उसे दन्तधावनपूर्वक करना लिखा है। यथा—
सन्ध्याकाले.. कुर्यात्स्नानत्रयं जिह्वादन्तधावनपूर्वकम् ॥१०७-१११॥

निःसार वाक्य द्वारा अपने कथन में विरोध उपस्थित न करते। अस्तु; इसी प्रकरण में भट्टारकजी ने दो पद्य निम्न प्रकार से भी दिये हैं—

गुवा [का] कतालहिन्तालकेतक्य [का] श्च महा [बृहद्] वटः।
खर्जूरी नालिकेरश्च सप्तैते तृणराजकाः ॥ ६६ ॥
तृणराजसमोपेतो [तं] यः कुर्याद्दन्तधावनम्।
निर्दयः पापभागी स्यादनन्तकायिकं त्यजेत् ॥ ६७ ॥

इनमें से पहले पद्य में सात वृक्षों के नाम दिये हैं, जिनकी 'तृणराज' संज्ञा है और जिनमें बड़ तथा खजूर भी शामिल हैं। और दूसरे पद्य में यह बतलाते हुए कि 'तृणराज की जो दाँतन करता है वह निर्दयी तथा पाप का भागी होता है,' परिणाम रूप से यह उपदेश भी दिया है कि '(अतः) अनन्तकायिक को छोड़ देना चाहिये'। इस तरह पर भट्टारकजी ने इन वृक्षों की दाँतन को अनन्तकायिक बतलाया है और शायद इसीलिये ऐसी दाँतन करने वाले को निर्दयी तथा पाप का भागी ठहराया हो! सोनीजी ने भी अनुवाद में लिख दिया है—"क्योंकि इनकी दतौन के भीतर अनन्त जीव रहते हैं।" परंतु जैनसिद्धान्त में 'अनंतकायिक' अथवा 'साधारण' वनस्पति का जो स्वरूप दिया है—जो पहिचान बतलाई है—उससे उक्त बड़ तथा खजूर आदि की दाँतन का अनंतकायिक होना लाजिमी नहीं आता। और न किसी माननीय जैनाचार्य ने इन सब वृक्षों की दाँतन में अनंत जीवों का होना ही बतलाया है। प्राचीन जैनशास्त्रों में तो 'सप्त तृणराज' का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। भट्टारकजी ने उनका यह कथन हिन्दू-धर्म के ग्रंथों से उठा कर रक्खा है। उक्त पद्यों में से पहला पद्य और दूसरे पद्य का पूर्वार्ध दोनों 'गोभिल' ऋषि के वचन हैं और वे ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ 'स्मृतिरत्नाकर' में भी 'गोभिल' के नाम से उल्लेखित मिलते हैं। गोभिल ने दूसरे पद्य का उत्तरार्ध 'नरश्चाण्डाल-

योनिः स्याद्यावद् गंगां न पश्यति' दिया था जिसको भट्टारकजी ने '**निर्दयः पापभागी स्यादनंतकायिकं त्यजेत्**' के रूप में बदल दिया है। और इस तरह पर ऐसी दाँतन करने वाले को पापी आदि सिद्ध करने के लिये उन दाँतनों में ही अनंत जीवों की कल्पना कर डाली है!! जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं। और न उसके आधार पर ऐसी दाँतन करने वाले को पापी तथा निर्दयी ही ठहराया जा सकता है। खेद है कि भट्टारकजी ने स्वयं ही दो पद्य पहले—६३ वें पद्य में—'**वटस्तथा**' पद के द्वारा, वाग्भट आदि की तरह, बड़ की दाँतन का विधान किया और ६४ वें पद्य में '**एताः प्रशस्ताः कथिता दन्तधावनकर्मणि**' वाक्य के द्वारा उसे दन्तधावन कर्म में श्रेष्ठ भी बतलाया परंतु बाद को गोभिल के वचन सामने आते ही आप, उनके कथन की दृष्टि और अपनी स्थिति का विचार भूल कर, एक दम बदल गये और आपको इस बात का भान भी न रहा कि जिस बड़की दाँतन का हम अभी विधान कर आए हैं उसीका अब निषेध करने जारहे हैं!! इससे कथन की विरुद्धता ही नहीं किंतु भट्टारकजी की खासी असमीक्ष्यकारिता भी पाई जाती है।

तेल मलने की विलक्षण फलघोषणा।

(३) दूसरे अध्याय में, तेलमर्दन का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने उसके फल का जो बखान किया है वह बड़ा ही विलक्षण है। आप लिखते हैं—

> सोमे कीर्तिः प्रसरति वरा रोहिणेये हिरण्यं
> देवाचार्ये सरसिजनये वर्धते नित्यमायुः।
> तैलाभ्यङ्गात्तनुजमरणं दृश्यते सूर्यवारे
> भौमे मृत्युर्भवति च नितरां भार्गवे वित्तनाशः॥ ८४॥

अर्थात्—सोमवार के दिन तेल मलने से उत्तम कीर्ति फैलती है,

बुध के दिन तेल मलने से सुवर्ण की वृद्धि होती है—लक्ष्मी बढ़ती है—गुरुवार तथा शनिवार के दिन मलने से सदा आयु बढ़ती है, रविवार के दिन मलने से पुत्र का मरण होता है, मंगल के दिन की मालिश से अपना ही मरण हो जाता है और शुक्रवार के दिन की मालिश सदा धन का क्षय किया करती है।

तेल की मालिश का यह फल कितना प्रत्यक्षविरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं। सहृदय पाठक अपने नित्य के अनुभव तथा व्यवहार से उसकी सहज ही में जाँच कर सकते हैं। इस विषय की और भी गहरी जाँच के लिये जैनसिद्धान्तों को बहुत कुछ टटोला गया और कर्म फिलॉसॉफी का भी बहुतेरा मथन किया गया परंतु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे प्रत्येक दिन के तेल मर्दन का उसके उक्त फल के साथ अविनाभावी सम्बन्ध (व्याप्ति) स्थापित हो सके। वैद्यक शास्त्र के प्रधान ग्रंथ भी इस विषय में मौन मालूम होते हैं। वाग्भट आचार्य अपने 'अष्टांगहृदय' में नित्य तेल मर्दन का विधान करते हैं और उसका फल बतलाते हैं—'जरा, श्रम तथा वात विकार की हानि, दृष्टि की प्रसन्नता, शरीर की पुष्टि, आयु की स्थिरता, सुनिद्रा की प्राप्ति और त्वचा की दृढ़ता।' और यह फल बहुत कुछ समीचीन जान पड़ता है। यथा—

अभ्यंगमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥ ८ ॥

हाँ, इस ढूँढ खोज में, शब्दकल्पद्रुम कोश से, हिन्दू शास्त्रों के दो पद्य जरूर मिले हैं जिनका विषय भट्टारकजी के पद्य के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता है, और वे इस प्रकार हैं—

१—अर्केऽनूनं वहति हृदयं कीर्तिलाभश्च सोमे
भौमे मृत्युर्भवति नियतं चन्द्रजे पुत्रलाभः ।

१—अर्थग्लानिर्मवति च गुरौ भार्गवे शोकयुक्तं
स्तैलाभ्यंगात्सनमरणं सूर्यजे दीर्घमायुः॥
२—सन्तापः कीर्तिरल्पायुर्धनं निधनमेव च ।
आरोग्यं सर्वकामाप्तिरभ्यंगाद्भास्करादिषु॥

इनमें से पहला पद्य 'ज्योतिःसारसंग्रह' का और दूसरा 'गारुड' के ११४ वें अध्याय का पद्य है। दोनों में परस्पर कुछ अन्तर भी है—पहले पद्य में बुध के दिन तेल मलने से पुत्र लाभ का होना बतलाया है तो दूसरे में धनका होना लिखा है और यह धनका होना भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है; दूसरे में शनिवार के दिन सर्वकामाप्ति (इच्छाओं की पूर्ति) का विधान किया है तो पहले में दीर्घायु होना लिखा है और यह दीर्घायु होना भी भट्टारकजी के पद्य के साथ साम्य रखता है। इसीतरह शुक्रवार के दिन तेलमर्दन का फल एक में 'आरोग्य' तो दूसरे में 'शोकयुक्त' बतलाया है और भट्टारकजी उसे 'वित्तनाश' लिखते हैं जो शोक का कारण हो सकता है; रविवार और गुरुवार का फल दोनों में समान है परन्तु भट्टारकजी के पद्य में वह कुछ भिन्न है और सोमवार तथा मंगल को तेल लगाने का फल तीनों में ही समान है। अस्तु; इन पद्यों के सामने आने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इस तेलमर्दन के फल का कोई एक नियम नहीं पाया जाता—वैसे ही जिसकी जो जी में आया उसने वह फल, अपनी रचना में कुछ विशेषता अथवा रंग लाने के लिये, एक दूसरे की देखा देखी घड़ डाला है। बहुत संभव है भट्टारकजी ने हिन्दू ग्रंथों के किसी ऐसे ही पद्य का यह अनुसरण किया हो अथवा जरूरत बिना जरूरत उसे कुछ बदल कर या ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त पद्य सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनधर्म के विरुद्ध है, और जैनाचार-विचार के साथ कुछ सम्बंध नहीं रखता।

रविवार के दिन स्नानादिक का निषेध

(४) भट्टारकजी दूसरे अध्याय में यह भी लिखते हैं कि रविवार (इतवार) के दिन दन्तधावन नहीं करना चाहिये; तैल नहीं मलना चाहिये और न स्नान ही करना चाहिये। यथा—

> अर्कवारे व्यतीपाते संक्रान्तौ जन्मवासरे।
> वर्जयेद्दन्तकाष्ठं तु व्रतादीनां दिनेषु च ॥ ६६ ॥
> अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पंचम्यामर्कवासरे।
> व्रतादीनां दिनेष्वेव न कुर्यात्तैलमर्दनम् ॥ ८१ ॥
> तस्मात्स्नानं प्रकर्तव्यं रविवारे तु वर्जयेत् ॥ ९७ ॥

तैलमर्दन की बाबत तो खैर आपने लिख दिया कि उससे पुत्र का मरण हो जाता है परन्तु दन्तधावन और स्नान की बाबत कुछ भी नहीं लिखा कि उन्हें क्यों न करना चाहिये? क्या उनके करने से रवि महाराज (सूर्यदेवता) नाराज हो जाते हैं? यदि ऐसा है तब तो लोगों को बहुत कुछ विपत्ति में पड़ना पड़ेगा; क्योंकि अधिकांश जनता रविवार के दिन सविशेष रूप से स्नान करती है—छुट्टी का दिन होने से उस दिन बहुतों को अच्छी तरह से तैलादिक मलकर स्नान करने का अवसर मिलता है। इसके सिवाय, उस दिन भगवान का पूजनादिक भी न हो सकेगा, जो भट्टारकजी के कथनानुसार दन्तधावनपूर्वक स्नान की अपेक्षा रखता है; उन देवपितरों को भी उस दिन प्यासे रहना होगा जिनके लिये स्नान के अवसर पर भट्टारकजी ने तर्पण के जल की व्यवस्था की है और जिसका विचार आगे किया जायगा; और भी लोक में कितनी ही अशुचिता छा जायगी और बहुत से धर्मकार्यों को हानि पहुँचेगी; बल्कि त्रिवर्णाचार की स्नानविषयक आवश्यकताओं को देखते हुए तो यह कहना भी कुछ अत्युक्ति में दाखिल न होगा कि धर्मकार्यों में एक प्रकार का प्रलयसा उपस्थित हो जायगा। मालूम नहीं भट्टारकजीने फिर

कैसा सोचकर रविवार के दिन स्नान का निषेध किया है ! ! जैन सिद्धान्तों से तो इसका कुछ सम्बंध है नहीं और न जैनियों के आचार-विचार के ही यह अनुकूल पाया जाता है, प्रत्युत उसके विरुद्ध है। शायद भट्टारकजी को हिन्दूधर्म के किसी ग्रंथ से रविवार के दिन स्नान के निषेध का भी कोई वाक्य मिल गया हो और उसी के भरोसे पर आप ने वैसी आज्ञा जारी करदी हो। परन्तु मुझे तो मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रंथों से यह मालूम हुआ है कि 'रोगनिर्मुक्त स्नान' तक के लिये रविवार का दिन प्रशस्त माना गया है। इसीसे श्रीपतिजी लिखते हैं—"खाद्ये चरे सूर्यकुजेज्यवारे......स्नानं हितं रोगविमुक्तकानाम्"। हाँ, दन्तधावन का निषेध तो उनके यहाँ व्यासजी के निम्न वाक्य से पाया जाता है जिसमें कुछ तिथियों तथा रविवार के दिन दाँतों से काष्ठ के संयोग करने की बाबत लिखा है कि वह सातवें कुल तक को दहन करता है, और जो आन्हिकसूत्रावलि में इस प्रकार से उद्धृत है—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्यां रविवासरे।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥

परंतु जैनशासन की ऐसी शिक्षाएँ नहीं हैं, और इसलिये भट्टारकजी का उक्त कथन भी जैनमत के विरुद्ध है।

घर पर ठंडे जल से स्नान न करने की आज्ञा।

(५)-भट्टारकजी ने एक खास आज्ञा और भी जारी की है और वह यह है कि 'घर पर कभी ठंडे जल से स्नान न करना चाहिये।' आप लिखते हैं—

अभ्यङ्गे चैव मांगल्ये गृहे चैव तु सर्वदा।
शीतोदकेन न स्नायान्न धार्यं तिलकं तथा ॥ ३-२५ ॥

अर्थात्—तेल मला हो या कोई मांगलिक कार्य करना हो उस

पक्ष, और घर पर हमेशा ही ठंडे जल से स्नान न करना चाहिये और न वैसे स्नान किये बिना तिलक ही धारण करना चाहिये।

यहाँ लेखकी मालिश के अवसर पर गर्म जल से स्नान की बात तो किसी तरह पर समझ में आ सकती है परन्तु घर पर सदा ही गर्म जल से स्नान करने की अथवा ठंडे जल से कभी भी स्नान न करने की बात कुछ समझ में नहीं आती। मालूम नहीं उसका क्या कारण है और वह किस आधार पर अवलम्बित है! क्या ठंडे जल से स्नान नदी-सरोवरादिक तीर्थों पर ही होता है अन्यत्र नहीं? और घर पर उसके कर लेने से जलदेवता रुष्ट हो जाते हैं! यदि ऐसा कुछ नहीं तो फिर घर पर ठंडे जल से स्नान करने में कौन बाधक है! ठंडा जल स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है और गर्म जल प्रायः रोगी तथा अशक्त गृहस्थों के लिये बतलाया गया है। ऐसी हालत में भट्टारकजी की उक्त आज्ञा समीचीन मालूम नहीं होती---वह जैनशासन के विरुद्ध जँचती है। लोकव्यवहार भी प्रायः उसके विरुद्ध है। लौकिक जन, ऋतु आदि के अनुकूल, घर पर स्नान के लिये ठंडे तथा गर्म दोनों प्रकार के जलका व्यवहार करते हैं।

हाँ, हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों से एक बात का पता चलता है और वह यह कि उनके यहाँ नदी आदि तीर्थों पर ही स्नान करने का विशेष माहात्म्य है, उसीसे स्नान का फल माना गया है, अन्यत्र के स्नान से महज शरीर की शुद्धि होती है, स्नान का जो पुण्यफल है वह नहीं मिलता और इसलिये उनके यहाँ तीर्थाभाव में अथवा तीर्थ से बाहर (घर पर) उष्ण जल से स्नान करलेने की भी व्यवस्था की गई है। सम्भव है उसका एकान्त लेकर ही भट्टारकजी को यह आज्ञा जारी करने की सूझी हो, जो मान्य किये जाने के योग्य नहीं। अन्यथा, हिन्दुओं के यहाँ भी दोनों प्रकार के स्नान का विधान पाया जाता है। यथा:---

नित्यं नैमित्तिकं स्नानं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।
तीर्थाभावे तु कर्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ॥ यमः ॥
कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।
नित्यं याहच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥ चंद्रिका ॥

—इति स्मृतिरत्नाकरे ।

भट्टारकजी ने अपने उक्त पद्य से पहले 'आपः स्वभावतः शुद्धाः' नाम का जो पद्य गर्म जल से स्नान की प्रशंसा में दिया है वह भी हिन्दू ग्रंथों से उठाकर रक्खा है। स्मृतिरत्नाकर में, यह साधारण से पाठभेद* के साथ, आयः ज्यों का त्यों पाया जाता है और उसे आतुरविषयक—रोगी तथा अशक्तों के स्नान सम्बंधी—सूचित किया है, जिसे भट्टारकजी ने शायद नहीं समझा और वैसे ही अगले पद्य में समूचे गृहस्नान के लिये सदा को ठंडे जल का निषेध कर दिया !!

शूद्रत्व का अद्भुत योग ।

(६) दूसरे अध्याय में, स्नान का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि 'जो गृहस्थ सात दिन तक जल से स्नान नहीं करता वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है—शूद्र बन जाता है' । यथाः—

सप्ताहाम्यम्भसाऽस्नायी गृही शूद्रत्वमाप्नुयात् ॥ ६७ ॥

शूद्रत्व के इस अद्भुत योग अथवा नूतन विधान को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है और समझ में नहीं आता कि एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य महज़ सात दिन के स्नान न करने से कैसे शूद्र बन जाता है !

---

* यह पाठभेद 'शुद्धाः' की जगह 'मेध्याः' 'वन्हितप्ताः' की जगह 'वन्हिसंयुताः' और 'अतः' की जगह 'तेन' इतना ही है जो कुछ अर्थ-भेद नहीं रखता ।

कहाँ से शूद्रत्व उसके भीतर घुस जाता है ? क्या शूद्र का कर्म स्नान न करना है ? अथवा शूद्र स्नान नहीं किया करते ? शूद्रों को बराबर स्नान करते हुए देखा जाता है, और उनका कर्म स्नान न करना कहीं भी नहीं लिखा। स्वयं भट्टारकजी ने सातवें अध्याय में शूद्रों का कर्म त्रिवर्णों की सेवा तथा शिल्प कर्म बतलाया है और यहाँ तक लिखा है कि ये चारों वर्ण अपने अपने नियत कर्म के विशेष से कहे गये हैं, जैनधर्म को पालन करने में इन चारों वर्णों के मनुष्य परम समर्थ हैं और उसे पालन करते हुए वे सब परस्पर में भाई भाई के समान हैं। यथा:—

> विप्रक्षत्रियवैश्यानां शूद्रास्तु सेवका मता ॥ १४० ॥
> तेषु नाना विधं शिल्पं कर्म प्रोक्तं विशेषतः ॥ १४१ ॥
> विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
> जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ १४२ ॥

फिर आपका यह लिखना कि सात दिन तक स्नान न करने से कोई शूद्र हो जाता है, कितना असंगत है और शूद्रों के प्रति कितना तिरस्कार का द्योतक तथा अन्यायमय है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, यदि कोई द्विज अर्से तक शिल्पादि कर्म करता रहे तो उसे भट्टारकजी अपने लक्षण के अनुसार शूद्र कह सकते थे परन्तु स्नान न करना कोई शूद्र कर्म नहीं है—उसके लिये रोगादिक के अनेक कारण सभी के लिये हो सकते हैं—और इसलिये महज उसकी वजह से किसी में शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। मालूम नहीं सात दिन के बाद यदि वह गृहस्थ फिर नहाना शुरू कर देवे तो भट्टारकजी की दृष्टि में उसका वह शूद्रत्व दूर होता है या कि नहीं ? ग्रंथ में इसकी बाबत कुछ लिखा नहीं !!

(७) तीसरे अध्याय में, भट्टारकजी, इस मनुष्य को जीवन भर के लिये शूद्र ठहराते हैं और मरने पर कुत्ते की योनि में जाना बतलाते हैं

है जो संध्याकाल प्राप्त होने पर भी संध्या नहीं करता है !! यथा:—

सन्ध्याकाले तु सम्प्राप्ते सन्ध्यां नैवमुपासते ।
जीवमानो भवेच्छूद्रः मृतः श्वा चैव जायते ॥ १४१ ॥

यहाँ भी पूर्ववत् शूद्रत्व का अद्भुत योग किया गया है और इस से यह भी ध्वनित होता है कि शूद्र को संध्योपासन का अधिकारी नहीं समझा गया। परन्तु यह हिन्दूधर्म की शिक्षा है जैनधर्म की शिक्षा नहीं। जैनधर्म के अनुसार शूद्र संध्योपासन के अधिकार से वंचित नहीं रक्खा जा सकता। जैनधर्म में उसे नित्य पूजन का अधिकार दिया गया है * वह त्रिसंध्या-सेवा का अधिकारी है और ऊँचे दर्जे का श्रावक हो सकता है। इसीसे सोमदेवसूरि तथा पं० आशाधरजी ने भी आचारादि की शुद्धि को प्राप्त हुए शूद्र को ब्राह्मणादिक की तरह से धर्मक्रियाओं के करने का अधिकारी बतलाया है; जैसाकि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

" आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातिपरिकर्मसु योग्यान् ।" —नीतिवाक्यामृत ।

" अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्यास्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥"

—सागारधर्मामृत सटीक ।

इसके सिवाय, भट्टारकजी ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य नं० १९२ में जब स्वयं यह बतला चुके हैं कि शूद्र भी जैन धर्म का पालन करने में "परम समर्थ" हैं तो फिर वे संध्योपासन कैसे नहीं कर सकते ?

---

* शूद्रों के इस सब अधिकार को अच्छी तरह से जानने के लिये लेखक की लिखी हुई 'जिनपूजाऽधिकार-मीमांसा' नामक पुस्तक को देखना चाहिये।

और कैसे यह कहा जा सकता है कि जो संध्यासमय संध्योपासन नहीं करता वह जीवित शूद्र होता है ? मालूम होता है यह सब कुछ लिखते हुए भट्टारकजी जैनत्व को अथवा जैन धर्म के स्वरूप को बिलकुल ही भूल गये हैं और उन्होंने बहुधा आँख मींच कर हिन्दू धर्म का अनुसरण किया है। हिन्दुओं के यहाँ शूद्रों को संध्योपासन का अधिकार नहीं— वे बेचारे वेदमन्त्रों का उच्चारण तक नहीं कर सकते—इसलिये उनके यहाँ ऐसे वाक्य बन सकते हैं। यह वाक्य भी उन्हीं के वाक्यों पर से बनाया गया अथवा उन्हीं के ग्रंथों पर से उठा कर रक्खा गया है। इस वाक्य से मिलता जुलता 'मरीचि' ऋषि का एक वाक्य इस प्रकार है:—

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता।
जीवमानो भवेच्छूद्रः मृतः श्वा चाभिजायते॥

—आन्हिकसूत्रावलि।

इस पद्य का उत्तरार्ध और भट्टारकजी के पद्य का उत्तरार्ध दोनों एक हैं और यही उत्तरार्ध जैनदृष्टि से आपत्ति के योग्य है। इसमें मर कर कुत्ता होने का जो विधान है वह भी जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध है। संध्या के इस प्रकरण में और भी कितने ही पद्य ऐसे हैं जो हिन्दू धर्म के ग्रंथों से ज्यों के त्यों उठा कर अथवा कुछ बदल कर रक्खे गये हैं; जैसे "उत्तमा तारकोपेता", "अन्होरात्रेश्च यः सन्धिः" और "राष्ट्रभंगे नृपक्षोभे" आदि पद्य। और इस तरह पर बहुधा हिन्दू धर्म की औंधी सीधी नक़ल की गई है।

(८) ग्यारहवें अध्याय में शूद्रत्व का एक और भी विचित्र योग किया गया है और वह यह कि 'जो कन्या विवाह संस्कार से पहले पिता के घर पर ही रजस्वला हो जाय' उसे 'शूद्रा (वृषली)' बतलाया गया है और उससे जो विवाह करे उसे शूद्रापति (वृषलीपति) की संज्ञा दी गई है। यथा—

पितुर्गृहे तु या कन्या रजः पश्येदसंस्कृता।
सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः॥ १६६ ॥

मालूम नहीं इसमें कन्या का क्या अपराध समझा गया और उसके स्त्री-धर्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति में शूद्र की वृत्ति का कौनसा संयोग हो गया जिसकी वजह से वह बेचारी 'शूद्रा' करार दी गई!! इस प्रकार की व्यवस्था से जैनधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। यह भी उसके विरुद्ध हिन्दूधर्म की ही शिक्षा है और उक्त श्लोक भी हिन्दूधर्म की चीज़ है— हिन्दुओं की विष्णुसंहिता * के २४ वें अध्याय में वह नं० ४१ पर दर्ज है, सिर्फ़ उसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है और 'पितृवेश्मनि' की जगह 'पितुर्गृहे तु' बनाया गया अथवा पाठान्तर जान पड़ता है। प्रायः इसी आशय के दो पद्य 'उद्वाहतत्व' में भी पाये जाते हैं, जिन्हें शब्दकल्पद्रुमकोश में निम्नप्रकार से उद्धृत किया है—

"पितुर्गेहे च या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता॥"
"यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अश्राद्धेयमपांक्तेयं तं विद्याद् वृषलीपतिम्॥"

इसके सिवाय, ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी 'यदि शूद्रां व्रजेद्विप्रो वृषलीपतिरेव सः' वाक्य के द्वारा शूद्रागामी ब्राह्मण को वृषली-पति ठहराया है। इस तरह पर यह सब हिन्दू धर्म की शिक्षा है, जिसको भट्टारकजी ने जैन धर्म के विरुद्ध अपनाया है। जैन धर्म के अनुसार किसी व्यक्ति में इस तरह पर शूद्रत्व का योग नहीं किया जा सकता। यदि ऐसे भी शूद्रत्व का योग होने लगे तब तो शूद्र स्त्रियों की ही नहीं किन्तु पुरुषों की भी संख्या बहुत बढ़ जाय और लाखों कुटुम्बों को शूद्र-सन्तति में परिगणित करना पड़े!!

---

*देखो बंगवासी प्रेस कलकत्ता का सं० १९६४ का छपा हुआ संस्करण।

नरकालय में वास !

(६) शायद पाठक यह सोचते हों कि कन्या यदि विवाह से पहले रजस्वला हो जाती है तो उसमें कन्या का कोई अपराध नहीं--वह अपराध तो उस समय से पहले उसका विवाह न करने वालों का है जिन्हें कोई सज़ा नहीं दी गई और बेचारी कन्या को नाहक शूद्रा (वृषली) करार दे दिया गया ! परंतु इस चिंता की ज़रूरत नहीं, भट्टारकजी ने पहले ही उनके लिये कड़े दण्ड की व्यवस्था की है और पीछे कन्या को शूद्रा ठहराया है । आप उक्त पद्य से पूर्ववर्ती पद्य में ही लिखते हैं कि यदि कोई अविवाहिता कन्या रजस्वला हो जाय तो समझ लीजिये कि उसके माता पिता और भाई सब नरकालय में पड़े---अर्थात्, उसके रजस्वला होते ही उन सब के नरकवास की रजिस्ट्री हो जाती है---शायद नरकायु बँध जाती है---और उन्हें नरक में जाना पड़ता है * । यथाः-

> असंस्कृता तु या कन्या रजसा चेत्परिप्लुता ।
> भ्रातरः पितरस्तस्याः पतिता नरकालये ॥ ११५ ॥

पाठकगण ! देखा, कितना विलक्षण, भयंकर और कठोर ऑर्डर है ! क्या कोई शास्त्री पंडित जैन सिद्धान्तों से---जैनियों की कर्म फ़िलॉसॉफ़ी से---इस ऑर्डर अथवा विधान की संगति ठीक बिठला सकता है ! अथवा यह सिद्ध कर सकता है कि ऐसी कन्याओं के माता पिता और भाई अवश्य नरक जाते हैं ! कदापि नहीं । इसके विरुद्ध में असंख्य प्रमाण जैनशास्त्रों से ही उपस्थित किये जा सकते हैं । उदाहरण के लिये, यदि भट्टारकजी की इस व्यवस्था को ठीक माना जाय तो कहना होगा कि ब्राह्मी और सुन्दरी कन्याओं के पिता भगवान ऋषभदेव, माताएँ यशस्वती (नंदा) तथा सुनंदा और भाई बाहुबलि तथा भरत चक्र-

* यदि उनमें से पहिले कोई स्वर्ग चले गये हों तो क्या उन्हें भी खिंच कर पीछे से नरक में आना होगा ? कुछ समझ में नहीं आता !

वर्ती आदिक सब नरक गये ; क्योंकि ये दोनों कन्याएँ युवावस्था में घर पर अविवाहिता रहीं और तब वे रजस्वला भी हुई, यह स्वाभाविक है। परंतु ऐसा कोई भी जैनी नहीं कह सकता। सब जानते हैं कि भगवान ऋषभदेव और उनके सब पुत्र निर्वाण को प्राप्त हुए और उक्त दोनों माताएँ भी ऊँची देवगति को प्राप्त हुईं। इसी तरह सुलोचना आदि हजारों ऐसी कन्याओं के उदाहरण भी सामने रक्खे जा सकते हैं जिनके विवाह युवावस्था में हुए जब कि वे रजोधर्म से युक्त होचुकी थीं और उनके कारण उनके माता पिता तथा भाइयों को कहीं भी नरक जाना नहीं पड़ा। अतः भट्टारकजी का यह सब कथन जैन धर्म के अत्यंत विरुद्ध है और हिंदूधर्म की उसी शिक्षा से सम्बंध रखता है जो एक अविवाहिता कन्या को पिता के घर पर रजस्वला हो जाने पर शूद्रा ठहराता है। इस प्रकार के विधिवाक्यों तथा उपदेशों ने ही समाज में बाल-विवाह का प्रचार किया है और उसके द्वारा समाज तथा धर्म को भारी, निःसीम, अनिवर्चनीय तथा कल्पनातीत हानि पहुँचाई है। ऐसे ज़हरीले उपदेश जबतक समाज में क़ायम रहेंगे, और उनपर अमल होता रहेगा तबतक समाज का कभी उत्थान नहीं हो सकता, वह पनप नहीं सकता और न उसमें धार्मिक जीवन ही आ सकता है। ऐसी छोटी उम्र में कन्या का विवाह महज़ उसी के लिये घातक नहीं है बल्कि देश, धर्म और समाज तीनों के लिये घातक है। वास्तव में माता पिता का यह कोई ख़ास फ़र्ज़ अथवा कर्तव्य नहीं है कि वे अपनी संतान का विवाह करें ही करें और वह भी छोटी उम्र में। उनका मुख्य कर्तव्य तथा धर्म है संतान को सुशिक्षित करना, अनेक प्रकार की उत्तम विद्याएँ तथा कलाएँ सिखलाना, खोटे संस्कारों से उसे अलग रखना, उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को विकसित करके उनमें दृढ़ता लाना, उसे जीवनयुद्ध में स्थिर रहने तथा विजयी

होने के योग्य बनाना अथवा अपनी संसार यात्रा का सुख पूर्वक निर्वाह करने की क्षमता पैदा कराना और साथ ही उसमें सत्य, प्रेम, धैर्य, उदारता, सहनशीलता तथा परोपकारता आदि मनुष्योचित गुणों का संचार कराके उसे देश, धर्म तथा समाज के लिये उपयोगी बनाना। और यह, सब तभी हो सकता है जबकि ब्रह्मचर्याश्रम के काल को गृहस्थाश्रम का काल न बनाया जावे अथवा विवाह जैसे महत्व तथा ज़िम्मेदारी के कार्य को एक खेल या तमाशे का रूप न दिया जाय, जिसका दियाजाना नाबालिगों का विवाह रचाने की हालत में जरूर समझा जायगा। खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही दूसरों की देखादेखी ऊटपटाँग लिख मारा जो किसी तरह भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

नग्न की विचित्र परिभाषा।

(१०) तीसरे अध्याय में, बिना किसी पूर्वापर सम्बन्ध अथवा जरूरत के, 'नग्न' की परिभाषा बतलाने को ढाई श्लोक निम्न प्रकार से दिये हैं—

> अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपटः स्मृतः।
> नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ॥२१॥
> कषायवाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्।
> अन्तःकच्छो बहिःकच्छो मुक्तकच्छस्तथैव च ॥२२॥
> साक्षान्नग्नः स विज्ञेयो दश नग्नाः प्रकीर्तिताः।

इन श्लोकों में भट्टारकजी ने दस प्रकार के मनुष्यों को 'नग्न' बतलाया है—अर्थात्, जो लोग अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों, आधा वस्त्र पहने हों, मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए हों, लँगोटी लगाए हुए हों, भगवे वस्त्र पहने हुए हों, महज़ धोती पहने हुए हों, भीतर कच्छ लगाए हुए हों, बाहर कच्छ लगाए हुए हों, कच्छ बिलकुल न लगाए हुए हों, और वस्त्र से बिलकुल रहित हों, उन सब को 'नग्न' ठहराया

है। मालूम नहीं भट्टारकजी ने नग्न की यह परिभाषा कहाँ से की है! प्राचीन जैन शास्त्रों में तो खोजने पर भी इसका कहीं कुछ पता चलता नहीं!! आम तौर पर जैनियों में 'जातरूपधरो नग्नः' की प्रसिद्धि है। भट्टाकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में 'जातरूपधारणं नाग्न्यं' ऐसा लिखा है। और यह अवस्था सर्व प्रकार के वस्त्रों से रहित होती है। इसीसे अमरकोश में भी 'नग्नोऽवासा दिगम्बरे' वाक्य के द्वारा वस्त्ररहित, दिगम्बर और नग्न तीनों को एकार्थवाचक बतलाया है। इससे भट्टारकजी की उक्त दशभेदात्मक परिभाषा बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। उनके दस भेदों में से अर्धवस्त्रधारी और कौपीनवान् आदि को तो किसी तरह पर 'एकदेशनग्न' कहा भी जासकता है परन्तु जो लोग बहुत से मैले कुचैले या अपवित्र वस्त्र पहने हुए हों अथवा इससे भी बढ़कर सर से पैर तक पवित्र भगवे वस्त्र धारण किये हुए हों उन्हें किस तरह पर 'नग्न' कहा जाय, यह कुछ समझ में नहीं आता!! जरूर, इसमें कुछ रहस्य है। भट्टारक लोग वस्त्र पहनते हैं, बहुधा भगवे (कषाय) वस्त्र धारण करते हैं और अपने को 'दिगम्बर मुनि' कहते हैं। संभव है, उन्हें नग्न दिगम्बर मुनियों की कोटि में लाने के लिये ही यह नग्न की परिभाषा गढ़ी गई हो। अन्यथा, भगवे वस्त्र वालों को तो हिन्दू ग्रन्थों में भी नग्न लिखा हुआ नहीं मिलता। हिन्दुओं के यहाँ पंच प्रकार के नग्न बतलाये गये हैं और वह पंच प्रकार की संख्या भी विभिन्न रूप से पाई जाती है। यथाः—

"द्विकच्छः कच्छशेषश्च मुक्तकच्छस्तथैव च।
एकवासा अवासाश्च नग्नः पंचविधः स्मृतः॥

—आन्हिक तत्व।

"नग्नो मलिनवस्त्रः स्यान्नग्नो नीलपटस्तथा।
विकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नश्चावस्त्र एवच॥

"अकच्छः पुच्छकच्छो वाऽद्रिकच्छः कटिवेष्टिनः ।
कौपीनकधरश्चैव नग्नः पंचविधः स्मृतः ॥
-स्मृतिरत्नाकर ।

जान पड़ता है हिन्दू ग्रंथों के कुछ ऐसे श्लोकों पर से ही भट्टारकजी ने अपने श्लोकों की रचना की है और उनमें 'कषायवाससा नग्नः' जैसी कुछ बातें अपने मतलब के लिये और शामिल करली हैं।

अधौत का अद्भुत लक्षण।

(११) तीसरे अध्याय में ही भट्टारकजी, 'अधौत' का लक्षण बतलाते हुए, लिखते हैं—

ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं च चेटकैः।
बालकैर्धौतमज्ञानैरधौतमिति भाष्यते ॥ ३२ ॥

अर्थात्—जो (वस्त्र) कम धुला हुआ हो, किसी स्त्री का धोया हुआ हो, शूद्रों का धोया हुआ, हो, नौकरों का धोया हुआ हो, या अज्ञानी बालकों का धोया हुआ हो उसे 'अधौत'—बिना धुला हुआ—कहते हैं।

इस लक्षण में कम धुले हुए और अज्ञानी बालकों के धोये हुए वस्त्रों को अधौत कहना तो कुछ समझ में आता है, परन्तु स्त्रियों, शूद्रों और नौकरों के धोये हुए वस्त्रों को भी जो अधौत बतलाया गया है वह किस आधार पर अवलम्बित है, यह कुछ समझ में नहीं आता ! क्या ये लोग वस्त्र धोना नहीं जानते अथवा नहीं जान सकते? जरूर जानते हैं और थोड़े से ही अभ्यास से बहुत अच्छा कपड़ा धो सकते हैं। शूद्रों में धोबी (रजक) तो अपनी स्त्रीसहित वस्त्र धोने का ही काम करता है और उसके धोये हुए वस्त्रों को सभी लोग पहनते हैं। इसके सिवाय, लाखों स्त्रियाँ तथा नौकर वस्त्र धोते हैं और उनके धोए हुए वस्त्र लोक में अधौत नहीं समझे जाते। फिर नहीं मालूम भट्टारकजी किस न्याय अथवा सिद्धान्त से ऐसे लोगों के द्वारा धुले हुए अच्छे से अच्छे वस्त्र को भी अधौत कहने का साहस करते हैं !! क्या आप निर्णिक्त

स्त्रियों तथा नौकरों को मलिनता का पुंज समझते हैं जो उनके स्पर्श से धौत वस्त्र भी अधौत हो जाते हैं ! यदि ऐसा है तब तो बड़ी गड़बड़ी मचेगी और घर का कोई भी सामान पवित्र नहीं रह सकेगा—सभी को उनके स्पर्श से अपवित्र होना पड़ेगा। और यदि वैसा नहीं है तो फिर दूसरी कोई भी ऐसी वजह नहीं हो सकती जिससे उनके द्वारा अच्छी तरह से धौत वस्त्र को भी अधौत क़रार दिया जाय। वास्तव में इस प्रकार का विधान स्त्री जाति आदि का स्पष्ट अपमान है, और वह जैननीति अथवा जैनशासन के भी विरुद्ध है। जैनशासन का स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति ऐसा घृणात्मक व्यवहार नहीं है, वह इस विषय में बहुत कुछ उदार है। हाँ, हिन्दू-धर्म की ऐसी शिक्षा ज़रूर पाई जाती है। उसके 'दक्ष' ऋषि स्त्रियों तथा शूद्रों के धोए हुये वस्त्र को सब कामों में गर्हित बतलाते हैं। यथा—

> ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं शूद्रधौतं तथैव च।
> अधारितं यमदिशि गर्हितं सर्वकर्मसु॥
>
> —आन्हिक सूत्रावलि

इस श्लोक का पूर्वार्ध और भट्टारकजी के श्लोक का पूर्वार्ध दोनों प्रायः एक हैं, सिर्फ़ 'तथैव' को भट्टारकजी ने 'चेटकैः' में बदला है और इस परिवर्तन के द्वारा उन नौकरों के धोए हुये वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है जो शूद्रों से भिन्न 'त्रैवर्णिक' ही हो सकते हैं!

इसीतरह हिन्दुओं के *'कर्मलोचन' ग्रंथ में स्त्री तथा धोबी के धोए* हुये वस्त्र को 'अधौत' क़रार दिया गया है; जैसा कि 'शब्दकल्पद्रुम' में उद्धृत उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

> ईषद्धौतं स्त्रिया धौतं यद्धौतं रजकेन च।
> अधौतं तद्विजानीयाद्दृशा दक्षिणपश्चिमे॥

ऐसे ही हिन्दू-वाक्यों पर से भट्टारकजी के उक्त वाक्य की सृष्टि हुई जान पड़ती है। परन्तु इस घृणा तथा वहम के व्यापार में भट्टारकजी

हिन्दुओं से एक कदम और भी आगे बढ़े हुए मालूम होते हैं—उन्होंने त्रैवर्णिक सेवकों के धोए हुये वस्त्रों को ही तिरस्कृत नहीं किया, बल्कि पहले दिनके खुद के धोए हुये वस्त्रों को भी तिरस्कृत किया है। आप लिखते हैं 'अधौत (बिना धोया हुआ), कारु-धौत (शिल्पि शूद्रों का धोया हुआ) और पूर्वेद्युर्धौत (पहले दिन का धोया हुआ) ये तीनों प्रकार के वस्त्र सर्व कार्यों के अयोग्य हैं—किसी भी काम को करते हुये इनका व्यवहार नहीं करना चाहिये।' यथा—

अधौतं कारुधौतं वा पूर्वेद्युर्धौतमेव च।
त्रयमेतदसम्बंधं सर्वकर्मसु वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

पाठकगण ! देखा, इस वहम का भी कहीं कुछ ठिकाना है !! मालूम नहीं पहले दिन धोकर अहतियात से रक्खे हुए कपड़े भी अगले दिन कैसे बिगड़ जाते हैं ! क्या हवा लगकर खराब हो जाते हैं या धरे धरे घुस जाते हैं ? और जब यह पहले दिन का धोया हुआ वस्त्र अगले दिन काम नहीं आ सकता तो फिर प्रातः संध्या भी कैसे हो सकेगी, जिसे भट्टारकजी ने इसी अध्याय में सूर्योदय से पहले समाप्त कर देना लिखा है ? क्या प्रातःकाल उठकर धोये हुए वस्त्र उसी वक्त सूख सकेंगे, या गीले वस्त्रों में ही संध्या करनी होगी ? खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों को कुछ भी नहीं सोचा और न यही खयाल किया कि ऐसे नियम से साग्य का कितना दुरुपयोग होगा ! सच है वहम की गति बड़ी ही विचित्र है—उसमें मनुष्य का विवेक बेकार सा होजाता है। इसी वहम का यह भी एक परिणाम है जो भट्टारकजी ने अधौत के लक्षण में शूद्रधौत आदि को शामिल करते हुये भी यहाँ 'कारुधौत' का एक तीसरा भेद अलग वर्णन किया है। अन्यथा, शूद्रधौत और चेटकधौत से भिन्न 'कारुधौत' कुछ भी नहीं रहता। अधौत के लक्षण की मौजूदगी में उसका प्रयोग बिलकुल व्यर्थ और खालिस वहम जान पड़ता है। इस प्रकार के वहमों से यह ग्रंथ बहुत कुछ भरा पड़ा है।

पति के विलक्षण धर्म ।

(१२) आठवें अध्याय में, गर्भिणी स्त्री के पति-धर्मों का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं—

पुंसो भार्या गर्भिणी यस्य चासौ सूनोश्चौलं क्षौरकर्मात्मनश्च।
गेहारंभं स्तंभसंस्थापनं च वृद्धिस्थानं दूरयात्रां न कुर्यात् ॥८६॥
शवस्य वाहनं तस्य दहनं सिन्धुदर्शनम्।
पर्वतारोहणं चैव न कुर्याद्गर्भिणीपतिः ॥ ८७ ॥

अर्थात्—जिस पुरुष की स्त्री गर्भवती हो उसे (उस स्त्री से उत्पन्न) पुत्र का चौलकर्म नहीं करना चाहिये, स्वयं हजामत नहीं बनवानी चाहिये, नये मकान की तामीर न करनी चाहिये, कोई खंभा खड़ा न करना चाहिये, न वृद्धिस्थान बनाना चाहिये और न कहीं दूर यात्रा को ही जाना चाहिये। इसके सिवाय, वह मुर्दे को न उठाए, न उसे जलाए, न समुद्र को देखे और न पर्वत पर चढ़े ।

पाठकगण ! देखा कैसे विलक्षण धर्म हैं !! इनमें से दूरयात्रा को न जाने जैसी बात तो कुछ समझ में आ भी सकती है परन्तु गर्भावस्था पर्यंत पति का हजामत न बनवाना, कहीं पर भी किसी नये मकान की रचना अथवा वृद्धिस्थान की स्थापना न करना, समुद्र को न देखना और पर्वत पर न चढ़ना जैसे धर्मों का गर्भ से क्या सम्बन्ध है और उनका पालन न करने से गर्भ, गर्भिणी अथवा गर्भिणी के पति को क्या हानि पहुँचती है, यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता। इन धर्मों के अनुसार गर्भिणी के पति को आठ नौ महीने तक नख-केश बढ़ाकर रहना होगा, किसी कुटुम्बी अथवा निकट सम्बन्धी के मरजाने पर आवश्यकता होते हुए भी उसकी अरथी को कन्धा तक न लगाना होगा, वह यदि बम्बई जैसे शहर में समुद्र के किनारे-तट पर-रहता है तो उसे वहाँ का अपना वासस्थान छोड़ कर अन्यत्र जाना होगा अथवा

आँखों पर पट्टी बाँध कर रहना होगा जिससे समुद्र दिखाई न पड़े, वह निकट की ऐसी तीर्थयात्रा भी नहीं कर सकेगा जिसका पर्वत-कूटों से सम्बंध हो, और अगर वह मंसूरी-शिमला जैसे पार्वतीय प्रदेशों का रहने वाला है तो उसे उस वक्त उन पर्वतों से नीचे उतर आना होगा, क्योंकि वहाँ रहते तथा कारोबार करते वह पर्वतारोहण के दोष से बच नहीं सकता। परन्तु ऐसा करना कराना, अथवा इस रूप से प्रवर्तना कुछ भी इष्ट तथा युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जैनसिद्धान्तों तथा जैनों के आचार-विचार से इन धर्मों की कोई संगति ठीक नहीं बैठती और न ये सब धर्म, जैनदृष्टि से, गर्भिणीपति के कर्तव्य का कोई आवश्यक अंग जान पड़ते हैं। इन्हें भी भट्टारकजी ने प्रायः हिन्दू-धर्म से लिया है। हिन्दुओं के यहाँ इस प्रकार के कितने ही श्लोक पाये जाते हैं, जिनमें से दो श्लोक शब्दकल्पद्रुमकोश से नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"क्षौरं शवानुगमनं नखकृन्तनं च युद्धादिवास्तुकरणं त्वतिदूरयानं।
उद्वाहमौपनयनं जलधेश्च गाहमायुः क्षयार्थमिति गर्भिणिकापतीनाम् ॥"

—मुहूर्तदीपिका।

"वहनं वपनं चैव चौलं वै गिरिरोहणम्।
नाव आरोहणं चैव वर्जयेद्गर्भिणीपतिः ॥"

—रत्नसंग्रहे, माधवः।

इनमें से पहले श्लोक में क्षौर (हजामत) आदि कर्मों को जो गर्भिणी के पति की आयु के क्षय का कारण बतलाया है वह जैनसिद्धांत के विरुद्ध है। और इसलिये हिंदू-धर्म के ऐसे कृत्यों का अनुकरण करना जैनियों के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता जिनका उद्देश्य तथा शिक्षा जैन-तत्वज्ञान के विरुद्ध है। उसी उद्देश्य तथा शिक्षा को लेकर उनका अनुष्ठान करना, निःसंदेह, मिथ्यात्व का वर्धक है। खेद है भट्टारकजी ने इन सब बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वैसे ही बिना सोचे समझे अथवा हानि-लाभ का विचार किये दूसरों की नकल कर बैठे!!

आसन की अनोखी फलकल्पना ।

(१२) तीसरे अध्याय में, संध्योपासन के समय चारों ही आश्रम वालों के लिये पंचपरमेष्ठी के जप का विधान करते हुए, भट्टारकजी ने कुछ आसनों का जो फल वर्णन किया है उसका एक श्लोक इस प्रकार है:—

वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडितः ।
धरण्यां दुःखसंभूतिर्दौर्भाग्यं दारुकासने ॥ १०७ ॥

इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि '(जप के समय) बाँस के आसन पर बैठने से मनुष्य दरिद्री, पाषाण के आसन पर बैठने से व्याधि से पीड़ित, पृथ्वी पर ही आसन लगाने से दुःखों का उत्पन्न-कर्ता और काष्ठ के आसन पर बैठने से दुर्भाग्य से युक्त होता है।'

आसन की यह फलकल्पना बड़ी ही अनोखी जान पड़ती है ! मालूम नहीं, भट्टारकजी ने इसका कहाँ से अवतार किया है !! प्राचीन ऋषिप्रणीत किसी भी जैनागम में तो ऐसी फल-व्यवस्था देखने में आती नहीं !! प्रत्युत इसके, '**ज्ञानार्णव**' में योगिराज श्रीशुभचंद्राचार्य ने यह स्पष्ट विधान किया है कि 'समाधि (उत्तम ध्यान) की सिद्धि के लिये काष्ठ के पट्ट पर, शिलापट्ट पर, भूमि पर अथवा रेत के स्थल पर सुदृढ़ आसन लगाना चाहिये।' यथा:—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥ २८-९ ॥

पाठकगण ! देखा, जिन काष्ठ, पाषाण तथा भूमि के आसनों को योगीश्वर महोदय ने समाधि जैसे महान कार्य के लिये अत्यंत उपयोगी—उसकी सिद्धि में खास तौर से सहायक—बतलाया है उन्हें ही भट्टारकजी क्रमशः दौर्भाग्य, व्याधि और दुःख के कारण ठहराते हैं ! यह कितना विपर्यास अथवा आगम के विरुद्ध कथन है। उन्हें ऐसा प्रतिपादन करते हुए इतना भी स्मरण न हुआ कि इन आसनों पर बैठकर असंख्य योगीजन सद्गति अथवा कल्याण-परम्परा को प्राप्त हुए हैं। अस्तु; हिन्दूधर्म में भी इन आसनों

को बुरा अथवा इस प्रकार के दुष्परिणामों का कारण नहीं बतलाया है बल्कि 'उत्तम' तथा 'प्रशस्त' आसन लिखा है। और इसलिये आसन की वह फल-कल्पना अधिकांश में भट्टारकजी की प्रायः अपनी ही कल्पना जान पड़ती है, जो निराधार तथा निःसार होने से कदापि मान्य किये जाने के योग्य नहीं। और भी कुछ आसनों का फल भट्टारकजी की निजी कल्पना द्वारा प्रसूत हुआ जान पड़ता है, जिसके विचार को यहाँ छोड़ा जाता है।

जूठन न छोड़ने का भयंकर परिणाम।

(१४) बहुत से लोग, जिनमें त्यागी और ब्रह्मचारी भी शामिल हैं, यह समझे हुए हैं कि जूठन नहीं छोड़ना चाहिये—कुत्ते को भी अपना जूठा भोजन नहीं देना चाहिये—और इसलिये वे कभी जूठन नहीं छोड़ते। उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि भट्टारकजी ने ऐसे लोगों के लिये जो खा पीकर बरतन खाली छोड़ देते हैं—उनमें कुछ जूठा भोजन तथा पानी रहने नहीं देते—यह व्यवस्था दी है कि 'वे जन्म जन्म में भूख प्यास से पीड़ित होंगे;' जैसा कि उनके निम्न व्यवस्था-पद्य से प्रकट है:—

> भुक्त्वा पीत्वा तु तत्पात्रं रिक्तं त्यजति यो नरः।
> स नरः क्षुत्पिपासार्तो भवेज्जन्मनि जन्मनि॥६-२२५॥

मालूम नहीं भट्टारकजी ने जूठन न छोड़ने का यह भयंकर परिणाम कहाँ से निकाला है! अथवा किस आधार पर उसके लिये ऐसी दण्ड-व्यवस्था की घोषणा की है!! जैन सिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का कोई समर्थन नहीं होता—कोई भी ऐसा व्यापक नियम नहीं पाया जाता जो ऐसे निरपराधियों को जन्म जन्म में भूख प्यास की वेदना से पीड़ित रखने के लिये समर्थ हो सके। हाँ, हिन्दू धर्म की ऐसी कुछ कल्पना जरूर है और उक्त पद्य भी प्रायः हिन्दू धर्म की ही सम्पत्ति जान पड़ता है। वह साधारण से पाठ-भेद के साथ उनके स्मृतिरत्नाकर में उद्धृत मिलता है। वहाँ इस पद्य का पूर्वार्ध 'भुक्त्वा पीत्वा च यो मर्त्यः शून्यं

पात्रं परित्यजेत्' ऐसा दिया है और उत्तरार्ध ज्यों का त्यों पाया जाता है-सिर्फ 'नरः' के स्थान पर 'भूयः' पद का उसमें भेद है। और इस सब पाठ-भेद से कोई वास्तविक अर्थ-भेद उत्पन्न नहीं होता। मालूम होता है भट्टारकजी ने हिन्दुओं के प्रायः उक्त पद्य पर से ही अपना यह पद्य बनाया है अथवा किसी दूसरे ही हिंदू ग्रंथ पर से उसे ज्यों त्यों उठाकर रक्खा है। और इसतरह पर दूसरों द्वारा कल्पित हुई एक व्यवस्था का अन्धाऽनुसरण किया है। भोजनप्रकरण का और भी बहुतसा कथन अथवा क्रियाकांड इस अध्याय में हिन्दू ग्रंथों से उठाकर रक्खा गया है और उसमें कितनी ही बातें निरर्थक तथा खाली वहम को लिये हुए हैं।

देवताओं की रोकथाम।

(१५) हिन्दुओं का विश्वास है कि इधर उधर विचरते हुये राक्षसादिक देवता भोजन के सत्व अथवा अन्नबल को हर लेते हैं—खा जाते हैं—और इसलिये उनके इस उपद्रव की रोकथाम के वास्ते उन्होंने मंडल बनाकर भोजन करने की व्यवस्था की है*। वे समझते हैं कि इस तरह गोल, त्रिकोण अथवा चतुष्कोणादि मंडलों के भीतर भोजन रख कर खाने से उन देवताओं की ग्रहण-शक्ति रुक जाती है और उससे भोजन की पूर्णशक्ति बनी रहती है। भट्टारकजी ने उनकी इस व्यवस्था को भी उन्हीं के विश्वास अथवा उद्देश्य के साथ अपनाया है। इसी से आप छठे अध्याय में लिखते हैं—

चतुरस्रं त्रिकोणं च वर्तुलं चार्धचन्द्रकम्।
कर्तव्यमानुपूर्व्येण मंडलं ब्राह्मणादिषु ॥ १६४ ॥

---

* गोमयं मंडलं कृत्वा भोक्तव्यमिति निश्चितम्।
पिशाचा यातुधानाद्या ग्रसन्त्यः स्युरमंडले ॥

—स्मृतिरत्नाकर।

यातुधानाः पिशाचाश्च त्वसुरा राक्षसास्तथा ।

घ्नन्ति ते [वै] बलमन्नस्य मण्डलेन विवर्जितम् ॥ १६५ ॥'

अर्थात्—ब्राह्मणादिक को क्रमशः चतुष्कोण, त्रिकोण, गोल और अर्धचन्द्राकार मंडल बनाने चाहिये । मंडल के बिना भोजन की शक्ति को यातुधान, पिशाच, असुर और राक्षस देवता नष्ट कर डालते हैं ।

ये दोनों श्लोक भी हिन्दू-धर्म से लिये गये हैं । पहले श्लोक को आन्हिकसूत्रावलि में 'ब्रह्मपुराण' का वाक्य लिखा है और दूसरे को 'स्मृतिरत्नाकर' में 'आत्रेय' ऋषि का वचन सूचित किया है और उसका दूसरा चरण 'ह्यसुराश्चाथ राक्षसाः' दिया है, जो बहुत ही साधारण पाठभेद को लिये हुए है × ।

इस तरह भट्टारकजी ने हिन्दू-धर्म की एक व्यवस्था को उन्हीं के शब्दों में अपनाया है और उसे जैनव्यवस्था प्रकट किया है, यह बड़े ही खेद का विषय है । जैनसिद्धान्तों से उनकी इस व्यवस्था का भी कोई समर्थन नहीं होता । प्रत्युत इसके, जैनदृष्टि से, इस प्रकार के कथन देवताओं का अवर्णवाद करने वाले हैं—उन पर झूठा दोषारोपण करते हैं । जैनमतानुसार व्यन्तरादिक देवों का भोजन भी मानसिक है, वे इस तरह पर दूसरों के भोजन को चुराकर खाते नहीं फिरते और न उनकी शक्ति ही ऐसे निःसत्व काल्पनिक मंडलों के द्वारा रोकी जा सकती है । अतः ऐसे मिथ्यात्ववर्धक कथन दूर से ही त्याग किये जाने के योग्य हैं ।

× दूसरे श्लोक का एक रूपान्तर भी 'मार्कण्डेयपुराण' में पाया जाता है और वह इस प्रकार है—

यातुधानाः पिशाचाश्च क्रूराश्चैव तु राक्षसाः

हरन्ति रसमन्नं च मंडलेन विवर्जितम् ॥

—आन्हिकसूत्रावलि ।

एक वस्त्र में भोजन-भजनादिक पर आपत्ति।

(१६) एक स्थान पर भट्टारकजी लिखते हैं कि 'एक वस्त्र पहन कर भोजन, देवपूजन, पितृकर्म, दान, होम, और जप आदिक (स्नान, स्वाध्यायादिक*) कार्य नहीं करने चाहिये। खंड वस्त्र पहन कर तथा वस्त्रार्ध पहन कर भी ये सब काम न करने चाहियें। यथा—

> एकवस्त्रो न भुंजीत न कुर्याद्देवपूज [तार्च] नम् ॥ ३-३६ ॥
> न कुर्यात्पितृकर्मा [कार्या] णि दानं होमं जपादिकम् [पं तथा]
> खण्डवस्त्रावृतश्चैव वस्त्रार्धप्रावृतस्तथा ॥ ३७ ॥

परन्तु क्यों नहीं करने चाहियें? करने से क्या हानि होती है अथवा कौनसा अनिष्ट संघटित होता है? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा! क्या एक वस्त्र में भोजन करने से वह भोजन पचता नहीं? पूजन या भजन करने से वीतराग भगवान भी रुष्ट हो जाते हैं अथवा भक्तिरस उत्पन्न नहीं हो सकता? आहारादिक का दान करने से पात्र की तृप्ति नहीं होती या उसकी क्षुधा आदि को शांति नहीं मिल सकती? स्वाध्याय करने से ज्ञान की संप्राप्ति नहीं होती? और परमात्मा का ध्यान करने से कुशल परिणामों का उद्भव तथा आत्मानुभवन का लाभ नहीं हो सकता? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर एक वस्त्र में इन भोजनभजनादिक पर आपत्ति कैसी? यह कुछ समझ में नहीं आता!! जैनमत में उत्कृष्ट श्रावक का रूप एक वस्त्रधारी माना गया है–इसीसे 'चेलखण्डधरः' 'वस्त्रैकधरः', 'एकशाटकधरः', 'कौपीनमात्रतंत्रः' आदि नामों या पदों से उसका उल्लेख किया जाता है—और वह अपने उस एक वस्त्र

---

*आदिक शब्द का यह आशय ग्रंथ के अगले 'स्नानं दानं जपं होमं' नाम के पद्य पर से ग्रहण किया गया है जो 'उक्तंच' रूप से दिया है और संभवतः किसी हिन्दू-ग्रंथ का ही पद्य मालूम होता है।

में ही भोजन के अतिरिक्त देवपूजन, स्वाध्याय, दान और जप ध्यानादिक सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करता है। यदि एक वस्त्र में इन सब कृत्यों का किया जाना निषिद्ध हो तो श्रावक का उत्कृष्ट लिंग ही नहीं बन सकता, अथवा यों कहना होगा कि उसका जीवन धार्मिक नहीं हो सकता। इससे जैनशासन के साथ इस सब कथन का कोई संबंध ठीक नहीं बैठता—वह जैनियों की सैद्धान्तिक दृष्टि से निरा सारहीन प्रतीत होता है। वास्तव में यह कथन भी हिन्दू-धर्म से लिया गया है। इसके प्रतिपादक वे दोनों वाक्य भी जो ३६ वें पद्य का उत्तरार्ध और ३७ वें पद्य का पूर्वार्ध बनाते हैं हिन्दू-धर्म की चीज़ हैं—हिन्दुओं के 'चंद्रिका' ग्रंथ का एक श्लोक हैं—और स्मृतिरत्नाकर में भी, ब्रैकिटों में दिये हुए साधारण से पाठभेद के साथ, उद्धृत पाये जाते हैं।

सुपारी खाने की सज़ा।

(१७) भोजनाध्याय * में, ताम्बूलविधि का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं—

> अनिधाय मुखे पर्णं पूगं खादति यो नरः।
> सप्तजन्मदरिद्रः स्याद्न्ते नैव स्मरेज्जिनम् ॥ २३३ ॥

---

* छठे अध्याय का नाम 'भोजन' अध्याय है परन्तु इसके शुरू के १४८ श्लोकों में जिनमंदिर के निर्माण तथा पूजनादि-सम्बन्धी कितना ही कथन ऐसा दिया हुआ है जो अध्याय के नामके साथ संगत मालूम नहीं होता—और भी कुछ अध्यायों में ऐसी गड़बड़ी पाई जाती है—और इससे यह स्पष्ट है कि अध्यायों के विषय-विभाग में भी विचार से ठीक काम नहीं लिया गया।

अर्थात्—जो मनुष्य मुख में पान न रखकर—बिना पान के ही—सुपारी खाता है वह सात जन्म तक दरिद्री होता है और अन्त में—मरते समय—उसे जिनेन्द्र भगवान का स्मरण नहीं होता।

पाठकगण! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था और कैसा अद्भुत न्याय है! कहाँ तो अपराध और कहाँ इतनी सख्त सजा!! इस धार्मिक दण्डविधान ने तो बड़े बड़े अन्यायी राजाओं के भी कान काट लिये!!! क्या जैनियों की कर्म फ़िलॉसॉफ़ी और जैनधर्म से इसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। सुपारी के साथ दरिद्र की इस विलक्षण व्याप्ति को मालूम करने के लिये जैनधर्म के बहुत से सिद्धान्त-ग्रन्थों को टटोला गया परंतु कहीं से भी ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह लाज़िमी आता हो कि सुपारी पान की संगति में रहकर तो दरिद्र नहीं करेगी परंतु अलग सेवन किये जाने पर वह सात जन्म तक दरिद्र को खींच लाने अथवा उत्पन्न करने में अनिवार्य रूप से प्रवृत्त होगी, और अन्त को भगवान का स्मरण नहीं होने देगी सो जुदा रहा। कितने ही जैनी, जिन्हें पान में साधारण वनस्पति का दोष मालूम होता है, पान नहीं खाते किन्तु सुपारी खाते हैं; अनेक पण्डितों और पंडितों के गुरु माननीय पं० गोपालदासजी बरैया को भी पान से अलग सुपारी खाते हुये देखा गया परंतु उनकी बाबत यह नहीं सुना गया कि उन्हें मरते समय भगवान् का स्मरण नहीं हुआ। इससे इस कथन का वह अंश जो प्रत्यक्ष से सम्बंध रखता है प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है। और यदि उसी जन्म में भी दरिद्र का विधान इस पद्य के द्वारा इष्ट है तो वह भी प्रत्यक्ष के विरुद्ध है; क्योंकि बहुत से सेठसाहूकार भी बिना पान के सुपारी खाते हैं और उनके पास दरिद्र नहीं फटकता।

मालूम होता है यह कथन भी हिन्दू धर्म के किसी ग्रंथ से लिया

गया है। हिंदुओं के 'स्मृतिरत्नाकर' ग्रंथ में यह श्लोक बिलकुल ज्यों का त्यों पाया जाता है, सिर्फ़ अन्तिम चरण का भेद है। अंतिमचरण वहाँ 'नरकेषु निमज्जति' (नरकों में पड़ता है) दिया है। बहुत सम्भव है भट्टारकजी ने इसी अंतिमचरण को बदल कर उसके स्थान में 'अन्ते नैव स्मरेज्जिनम्' बनाया हो। यदि ऐसा है तब तो इस परिवर्तन से इतना ज़रूर हुआ है कि कुछ सज़ा कम हो गई है। नहीं तो बेचारे को, सात जन्म तक दरिद्री रहने के सिवाय, नरकों में और जाना पड़ता!! परंतु इस पद्य का एक दूसरा रूप भी है जो मुहूर्त *चिंतामणि की 'पीयूषधारा' टीका में पाया जाता है।* उसमें और सब बातें तो ज्यों की त्यों हैं, सिर्फ़ 'अनिधाय मुखे' की जगह 'अशा-स्त्रविधिना' (शास्त्रविधि का उल्लंघन करके) पद का प्रयोग किया गया है और अंतिम चरण का रूप 'अन्ते विष्णुं न संस्मरेत्' (अंत में उसे विष्णु भगवान् का स्मरण नहीं होता) ऐसा दिया है। इस अंतिमचरण पर से भट्टारकजी के उक्त चरण का रचा जाना और भी ज़्यादा स्वाभाविक तथा संभावित है। हो सकता है भट्टारकजी के *सामने हिन्दू-ग्रंथों के ये दोनों ही पद्य रहे हों और उन्होंने उन्हीं पर* से अपने पद्य का रूप गढ़ा हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि जैनसिद्धान्तों के विरुद्ध होने से उनका यह सब कथन जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

जनेऊ की अजीब करामात।

(१८) 'यज्ञोपवीत' नामक अध्याय में, भट्टारकजी ने जनेऊ की करामात का जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि 'यदि किसी को अपनी आयु बढ़ाने की—अधिक जीने की—इच्छा हो तो उसे दो या तीन जनेऊ अपने गले में डाल लेने चाहियें—आयु बढ़ जायगी

(अकाल मृत्यु तो तब शायद पास भी न फटकेगी !), पुत्रप्राप्ति की इच्छा हो तो पाँच जनेऊ डाल लेने चाहियें–पुत्र की प्राप्ति हो जायगी—और धर्म लाभ की इच्छा हो तोभी पाँच ही जनेऊ कण्ठ में धारण करने चाहियें, तभी धर्म का लाभ हो सकेगा अथवा उसका होना अनिवार्य होगा। एक जनेऊ पहन कर यदि कोई धर्म कार्य—जप, तप, होम, दान, पूजा, स्वाध्याय, स्तुति पाठादिक—किया जायगा तो वह सब निष्फल होगा, एक जनेऊ में किसी भी धर्म कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।' यथा:—

> आयुःकामः सदा कुर्यात् त्रिभिर्यज्ञोपवीतकम्।
> पंचभिः पुत्रकामः स्याद् धर्मकामस्तथैव च ॥ ४७ ॥
> यज्ञोपवीतेनैकेन जपहोमादिकं कृतम्।
> तत्सर्वं विलयं याति धर्मकार्यं न सिद्ध्यति ॥ ४८ ॥

पाठकजन ! देखा, जनेऊ की कैसी अजीब करामात का उल्लेख किया गया है और उसकी संख्यावृद्धि के द्वारा आयु की वृद्धि आदि का कैसा सुगम तथा सस्ता उपाय बतलाया गया है !! * मुझे इस

---

* और भी कुछ स्थानों पर ऐसे ही विलक्षण उपायों का—करामाती नुसखों का—विधान किया गया है; जैसे (१) पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करने से आयु के बढ़ने का, पश्चिम की तरफ़ मुँह करके खाने से धन की प्राप्ति होने का और (२) काँसी के बरतन में भोजन करने से आयुर्बलादिक की वृद्धि का विधान ! इसी तरह (३) दीपक का मुख पूर्व की ओर कर देने से आयु के बढ़ने का, उत्तर की ओर कर देने से धन की बढ़वारी का, पश्चिम की ओर कर देने से दुःखों की उत्पत्ति का तथा दक्षिण की ओर कर देने से हानि के पहुँचने का; और सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त घर में दीपक के जलते रहने

उपाय की विलक्षणता अथवा निःसारता आदि के विषय में कुछ विशेष, कहने की ज़रूरत नहीं है, सहृदय पाठक सहज ही में अपने अनुभव, से उसे जान सकते हैं अथवा उसकी जाँच कर सकते हैं। मैं यहाँ पर सिर्फ़ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने जो यह प्रति-पादन किया है कि '**एक जनेऊ पहन कर कोई भी धर्मकार्य, सिद्ध नहीं हो सकता—उसका करना ही निष्फल होता है'**

से दरिद्र के भाग जाने अथवा पास न फटकने का विधान! यथाः—

(१) आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते... .श्रीकामः पश्चिमे [श्रियं प्रत्यङ्मुखो] भुंक्ते ॥ ६-१६३ ॥

(२) एक एव तु यो भुंक्ते विमले [गृहस्थः] कांस्यभाजने।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशोबलम् ॥ ६-१६७ ॥

(३) आयुष्ये [दं:] प्राङ्मुखो दीपो धनायोदङ्मुखोमतः
[धनदः स्यादुदङ्मुखः]।
प्रत्यङ्मुखोऽपि दुःखाय [दुःखदोऽसौ] हानये [निंदो] दक्षिणामुखः॥
रवेरस्तं समारभ्य यावत्सूर्योदयो भवेत्।
यस्य तिष्ठेद्गृहे दीपस्तस्य नास्ति दरिद्रता ॥
—अध्याय, ७ वाँ।

और ये सब कथन हिन्दू धर्म के ग्रन्थों से लिये गये हैं—हिन्दुओं के (१) मनु (२) व्यास तथा (३) मरीचि नामक ऋषियों के क्रमशः वचन हैं, जो प्रायः ज्यों के त्यों अथवा कहीं कहीं साधारण से परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। आन्हिकसूत्रावलि में भी ये वाक्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठभेद के साथ इन्हीं ऋषियों के नाम से उल्लेखित मिलते हैं। जैनधर्म की शिक्षा अथवा उसके तत्त्व-ज्ञान से इन कथनों का कोई खास सम्बन्ध नहीं है।

यह जैनसिद्धान्त तथा जैननीति के बिल्कुल विरुद्ध है और किसी भी माननीय प्राचीन जैनाचार्य के वाक्य से उसका समर्थन नहीं होता। एक जनेऊ पहन कर तो क्या, यदि कोई बिना जनेऊ पहने भी सच्चे हृदय से भगवान की पूजा—भक्ति में लीन हो जाय, मन लगाकर स्वाध्याय करे, किसी के प्राण बचा कर उसे अभयदान देवे, सदुपदेश देकर दूसरों को सन्मार्ग में लगाए अथवा सत्संयम का अभ्यास करे तो यह नहीं हो सकता कि उसे सत्फल की प्राप्ति न हो। ऐसा न मानना जैनियों की कर्मफ़िलॉसॉफ़ी अथवा जैनधर्म से ही इनकार करना है। जैनधर्मानुसार मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ प्रवृत्ति पाप का कारण होती है—वह अपने उस फल के लिये यज्ञोपवीत के धागों की साथ में कुछ अपेक्षा नहीं रखती किन्तु परिणामों से खास सम्बन्ध रखती है। सैकड़ों यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारी महापातकी देखे जाते हैं और बिना यज्ञोपवीत के भी हज़ारों व्यक्ति उत्तर भारतादिक में धर्मकृत्यों का अच्छा अनुष्ठान करते हुए पाये जाते हैं—स्त्रियाँ तो बिना यज्ञोपवीत के ही बहुत कुछ धर्मसाधन करती हैं। अतः धर्म का यज्ञोपवीत के साथ अथवा उसकी पंचसंख्या के साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। और इस लिये भट्टारकजी का उक्त कथन मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

तिलक और दर्भ के बँधुए।

(१९) चौथे अध्याय में, ' तिलक ' का विस्तृत विधान और उसकी अपूर्व महिमा का गान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं:—

जपो होमस्तथा दानं स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
जिनपूजा श्रुताख्यानं न कुर्यात्तिलकं विना ॥ ८५ ॥

अर्थात्—तिलक के बिना जप, होम, दान, स्वाध्याय, पितृतर्पण जिनपूजा और शास्त्र का व्याख्यान नहीं करना चाहिये।

परन्तु क्यों नहीं करना चाहिये ? करने से क्या खराबी पैदा हो जाती है अथवा कौनसा उपद्रव खड़ा हो जाता है ? ऐसा कुछ भी नहीं लिखा। क्या तिलक छाप लगाए बिना इनको करने से ये कार्य अधूरे रह जाते हैं ? इनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता ? अथवा इनका करना ही निष्फल होता है ? कुछ समझ में नहीं आता !! हाँ, इतना स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने जप-तप, दान, स्वाध्याय, पूजा-भक्ति और शास्त्रोपदेश तक को तिलक के साथ बँधे हुए समझा है, तिलक के अनुचर माना है और उनकी दृष्टि में इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं—इनका स्वतंत्रता पूर्वक अनुष्ठान नहीं हो सकता अथवा वैसा करना हितकर नहीं हो सकता। और यह सब जैन शासन के विरुद्ध है। एक वस्त्र में तथा एक जनेऊ पहन कर इन कार्यों के किये जाने का विरोध जैसे युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता उसी तरह पर तिलक के बिना भी इन कार्यों का किया जाना, जैन सिद्धांतों की दृष्टि से कोई खास आपत्ति के योग्य नहीं जँचता। इस विषय में ऊपर (नं० १६ तथा १८ में) जो तर्कणा की गई है उसे यथायोग्य यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

इसी तरह पर तीसरे अध्याय में दर्भ * का माहात्म्य गाया गया है और उसके बिना भी पूजन, होम तथा जप आदिक के करने का निषेध किया है और लिखा है कि पूजन, जप तथा होम के अवसर पर दर्भ में ब्रह्मगाँठ लगानी होती है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि नित्य कर्म करते हुए हमेशा दो दर्भों को दक्षिण हाथ में धारण करना चाहिये

---

* कुश, काँस, दूब और मूँज वगैरह घास, जिसमें गेहूँ, जौ तथा धान्य की नालियाँ भी शामिल हैं और जिसके इन भेदों का प्रतिपादक श्लोक "अजैन ग्रन्थों से संग्रह" नामक प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है।

और स्नान, दान, जप, यज्ञ तथा स्वाध्याय करते हुए "दोनों हाथों में या तो दर्भ के नाल रखने चाहियें और या पवित्रक (दर्भ के बने छल्ले) पहनने चाहियें। यथा—

द्वौ दर्भौ दक्षिणे हस्ते सर्वदा नित्यकर्मणि ॥ ६२ ॥
स्नाने दाने जपे यज्ञे स्वाध्याये नित्यकर्मणि ।
सपवित्रौ सदर्भौ वा करौ कुर्वीत नान्यथा ॥ ६४ ॥
दर्भं विना न कुर्वीत चाचमं जिनपूजनम् ।
जिनयज्ञ जपे होमे ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ॥ ६७ ॥

इससे जाहिर है कि भट्टारकजी ने जिनपूजनादिक को तिलक के ही नहीं किन्तु दर्भ के भी बँधुए माना है! आपकी यह मान्यता भी, तिलक सम्बंधी उक्त मान्यता की तरह, जैन शासन के विरुद्ध है। जैनों का आचार विचार भी आम तौर पर इसके अनुकूल नहीं पाया जाता अथवा यों कहिये कि 'दर्भ हाथ में लेकर ही पूजनादिक धर्मकृत्य किये जायँ अन्यथा न किये जायँ' ऐसी जैनाम्नाय नहीं है। लाखों जैनी बिना दर्भ के ही पूजनादिक धर्मकृत्य करते आए हैं और करते हैं। नित्य की 'देवपूजा' तथा यशोनन्दि आचार्य कृत 'पंचपरमेष्ठि पूजापाठ' आदिक ग्रंथों में भी दर्भ की इस आवश्यकता का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ, हिन्दुओं के यहाँ दर्भादिक के माहात्म्य का ऐसा वर्णन जरूर है—वे तिलक और दर्भ के बिना स्नान, पूजन तथा सन्ध्योपासनादि धर्मकृत्यों का करना ही निष्फल समझते हैं; जैसा कि उनके पद्मपुराण (उत्तर खण्ड) के निम्न वाक्य से प्रकट है—

'स्नानं संध्यां पंच यज्ञान् पैत्रं होमादिकर्म यः ।
विना तिलकदर्भाभ्यां कुर्यात्तन्निष्फलं भवेत् ॥

—शब्दकल्पद्रुम ।

इसी तरह उनके ब्रह्माण्डपुराण में तिलक को वैष्णव का रूप बतलाया है और उसके बिना दान, जप, होम तथा स्वाध्यायादिक का करना निरर्थक ठहराया हैं। यथा—

कर्मादौ तिलकं कुर्यात्रूपं तद्वैष्णवं परं ॥
यो मदानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
भस्मीभवति तत्सर्वं मूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ॥

—शब्दकल्पद्रुम ।

हिन्दूग्रंथों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने अपने कथन की सृष्टि की है जो जैनियों के लिये उपादेय नहीं है।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने तिलक करने का जो विधान किया है वह उसी * चंदन से किया है जो भगवान के चरणों को लगाया जावे—अर्थात्, भगवान के चरणों पर लेप किये हुऐ चंदन को उतार कर उससे तिलक करने की व्यवस्था की है। साथ हीं, यह भी लिखा है कि 'अँगूठे से किया हुआ तिलक पुष्टि को देता हैं, मध्यमा अँगुली से किया हुआ यश को फैलाता है, अनामिका (कनिष्ठा के पास की अँगुली) से किया गया तिलक धन का देने वाला है और वही प्रदेशिनी (अँगूठे के पास की अँगुली) से किये जाने पर मुक्ति का दाता है'। ×यह सब व्यवस्था भी कैसी विलक्षण है, इसे पाठक स्वयं समझ

---

* यथा:—

"जिनांघ्रिचन्दनैः स्वस्य शरीरं लेपमाचरेत् । ...... ॥६१॥
"ललाटे तिलकं कार्यं तेनैव चन्दनेन च ॥ ६३ ॥

× यथा:—

अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो यशसे मध्यमा [मध्यमायुष्करी] भवेत् ।
अनामिका श्रियं [ऽर्थदा] दद्यात् [नित्यं] मुक्तिं ददात्
[मुक्तिदा च] प्रदेशिनी ॥ ८९ ॥

सकते हैं। इसमें और सब बातें तो हैं ही परन्तु 'मुक्ति' इसके द्वारा अच्छी सस्ती बनादी गई है ! मुक्ति के इच्छुकों को चाहिये कि वे इसे अच्छी तरह से नोट कर लेवें !!

सूतक की विडम्बना।

(२०) जन्म-मरण के समय अशुचिता का कुछ सम्बंध होने से लोक में जननाशौच तथा मरणाशौच (सूतक पातक) की कल्पना की गई है, और इन दोनों को शास्त्रीय भाषा में एक नाम से 'सूतक' कहते हैं। स्त्रियों का रजस्वलाशौच भी इसी के अन्तर्गत है। इस सूतक के मूल में लोकव्यवहार की शुद्धि का जो तत्व अथवा जो उद्देश्य जिस हद तक संनिहित था, भट्टारकजी के इस ग्रंथ में उसकी बहुत कुछ मिट्टी पलीद पाई जाती है। वह कितने ही अंशों में लक्ष्य-भ्रष्ट होकर अपनी सीमा से निकल गया है—कहीं ऊपर चढा दिया गया तो कहीं नीचे गिरा दिया गया—उसकी कोई एक स्थिर तथा निर्दोष नीति नहीं, और इससे सूतक को एक अच्छी खासी विडम्बना का रूप प्राप्त होगया है। इसी विडम्बना का कुछ दिग्दर्शन कराने के लिये पाठकों के सामने उसके दो चार नमूने रक्खे जाते हैं:—

(क) वर्णक्रम से सूतक (जननाशौच) की मर्यादा का विधान करते हुए, आठवें अध्याय में, ब्राह्मणों के लिये १०, क्षत्रियों के लिये १२, और वैश्यों के लिये १४ दिनकी मर्यादा बतलाई गई है। परंतु तेरहवें अध्याय में क्षत्रियों तथा शूद्रों को छोड़कर, जिनके लिये क्रमशः १२ तथा १५ दिन की मर्यादा दी है, औरों के लिये

यह पद्य, ब्रैकिटों में दिये हुए पाठ भेद के साथ, हिन्दुओं के ब्रह्मपुराण में पाया जाता है (श० क०) और सम्भवतः वहीं से लिया गया जान पड़ता है।

१० दिनकी मर्यादा का उल्लेख किया है और इस तरह पर ब्राह्मण, वैश्य दोनों ही के लिये १० दिनकी मर्यादा बतलाई गई है। इसके सिवाय, एक श्लोक में वर्णों की मर्यादा-विषयक पारस्परिक अपेक्षा (निस्बत, Ratio) का नियम भी दिया है और उसमें बतलाया है कि जहाँ ब्राह्मणों के लिये तीन दिन का सूतक, वहाँ वैश्यों के लिये चार दिन का, क्षत्रियों के लिये पाँच दिन का और शूद्रों के लिये आठ दिन का समझना चाहिये। यथाः—

प्रसूतेर्दशमे चाह्नि द्वादशे वा चतुर्दशे।
सूतकाशौचशुद्धिः स्याद्विप्रादीनां यथाक्रमम् ॥ ८—१०५ ॥
प्रसूतौ चैव निर्दोषं दशाहं सूतकं भवेत्।
क्षत्रस्य द्वादशाहं सच्छूद्रस्य पक्षमात्रकम् ॥ १३-४६ ॥
* त्रिदिनं यत्र विप्राणां वैश्यानां स्याच्चतुर्दिनम्।
क्षत्रियाणां पंचदिनं शूद्राणां च दिनाष्टकम् ॥-४७ ॥

इन तीनों श्लोकों का कथन, एक विषय से सम्बन्ध रखते हुए भी, परस्पर में कितना विरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं; और यह तो स्पष्ट ही है कि तीसरे श्लोक में दिये हुए अपेक्षा-नियम का पहले दो श्लोकों में कोई पालन नहीं किया गया। उसके अनुसार

---

* इस श्लोक का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने जो भावार्थ दिया है वह उनका निजी कल्पित जान पड़ता है—मूल से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल के अनुसार इस श्लोक का सम्बन्ध आगे पीछे दोनों ओर के कथनों से है। आगे भी ६२ वें श्लोक में अननाशौच की मर्यादा का उल्लेख किया गया है। उस पर भी इस श्लोक की व्यवस्था लगाने से बड़ी विडम्बना खड़ी हो जाती है। इसी तरह ४६ वें श्लोक के अनुवाद में जो उन्होंने लिखा है कि 'राजा के लिये सूतक नहीं' वह भी मूल से बाहर की चीज़ है।

ब्राह्मणों के लिये यदि दस दिन का सूतक था तो वैश्यों के लिये प्रायः १३ दिन का, क्षत्रियों के लिये १६ दिन का और शूद्रों के लिये २६ दिन का सूतक-विधान होना चाहिये था। परन्तु वैसा नहीं किया गया। इससे सूतक-विषयक मर्यादा की अच्छी खासी विडम्बना पाई जाती है, और वह पूर्वाचार्यों के कथन के भी विरुद्ध है, क्योंकि प्रायश्चित्तसमुच्चय और छेदशास्त्रादि ग्रन्थों में क्षत्रियों के लिये ५ दिन की, ब्राह्मणों के लिये १० दिन की, वैश्यों के लिये १२ दिन की और शूद्रों के लिये १५ दिन की सूतक-व्यवस्था की गई है और उसमें जन्म तथा मरण के सूतक का कोई अलग भेद न होने से वह, आम तौर पर, दोनों के ही लिये समान जान पड़ती है। यथाः—

क्षत्रब्राह्मणविट्शूद्रा दिनैः शुद्ध्यन्ति पंचभिः।
दशद्वादशभिः पक्षाद्यथासंख्यप्रयोगतः ॥ १५३ ॥

—प्रायश्चित्तस०, चूलिका।

पण दस बारस णियमा पण्णरसेहिं तत्थ दिवसेहिं।
खत्तियबंभणवइसा सुद्दाइ कमेण सुज्झंति ॥ ८७ ॥

—छेदशास्त्र।

(ख) आठवें अध्याय में भट्टारकजी लिखते हैं कि 'पुत्र पैदा होने पर पिता को चाहिये कि वह पूजा की सामग्री तथा मंगल कलश को लेकर गाने बाजे के साथ श्रीजिनमंदिर में जावे और वहाँ, बच्चे की नाल कटने तक प्रति दिन पूजा के लिये ब्राह्मणों की योजना करे तथा दान से संपूर्ण भट्ट-भिक्षुकादिकों को तृप्त करे'। और फिर तेरहवें अध्याय में यह व्यवस्था करते हैं कि 'नाल कटने तक और सबको तो सूतक लगता है परन्तु पिता और भाई को नहीं लगता। इसीसे वे दान देते हैं और उस दान को लेने वाले अपवित्र नहीं होते हैं। यदि उन्हें भी उसी वक्त से सूतकी मान लिया जाय तो दान ही नहीं बन सकता'। यथाः—

" पुत्रे जाते पिता तस्य कुर्यादाचमनं मुदा।
प्राणायामं विधायोच्चैराचमं पुनराचरेत् ॥ ६३ ॥
पूजावस्तूनि चादाय मंगलं कलशं तथा।
महावाद्यस्य निर्घोषं व्रजेद्धर्मजिनालये ॥ ६४ ॥
ततः प्रारभ्य सद्विप्रान् जिनालये नियोजयेत्।
प्रतिदिनं स पूजार्थं यावन्नालं प्रच्छेदयेत् ॥ ६५ ॥
दानेन तर्पयेत् सर्वान् भट्टान् भिक्षुजनान् पिता।"
" जननेऽप्येवमेवाऽघं मात्रादीनां तु सूतकम् ॥
तद्दानाऽर्घं पितुर्भ्रातुर्नाभिकर्तनतः पुरा ॥ ६२ ॥
पिता दद्यात्तदा स्वर्णताम्बूलवसनादिकम्।
अशुचिनस्तु नैव स्युर्जनास्तत्र परिग्रहे ॥ ६३ ॥
तद्दात्त एव दानस्यानुत्पत्तिर्भवेद्यदि।"

पाठक जन! देखा, सूतक की यह कैसी विडम्बना है!! घर में मल, दुर्गन्धि तथा रुधिर का प्रवाह बह जाय और उसके प्रभाव से कई कई पीढी तक के कुटुम्बी जन भी अपवित्र हो जाँय—उन्हें सूतक का पाप लग जाय—परन्तु पिता और भाई जैसे निकट सम्बन्धी दोनों उस पाप से अछूते ही रहें!!! वे खुशी से, पूजन की सामग्री लेकर मंदिर जा सकें और पूजनादिक धर्मकृत्यों का अनुष्ठान कर सकें परन्तु दूसरे कुटुम्बी जन नहीं!! और दो एक दिन के बाद जब यथारुचि नाल काट दी जाय तो वह पाप फिर उन्हें भी आ चिपटे—वे भी अपवित्र हो जायँ—और तब से पूजन दानादि जैसे किसी भी अच्छे काम को करने के वे योग्य न रहें!!! इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है!!! मालूम नहीं भट्टारकजी ने जैन धर्म के कौन से गूढ तत्व के आधार पर यह सब व्यवस्था की है!! जैन सिद्धान्तों से तो ऐसी हास्यास्पद बातों का कोई समर्थन नहीं होता। इस व्यवस्था के

अनुसार पिता भाई के लिये सूतक की वह कोई मर्यादा भी क़ायम नहीं रहती जो ऊपर बतलाई गई है। युक्ति-वाद भी भट्टारकजी का बड़ा ही विलक्षण जान पड़ता है। समझ में नहीं आता एक सूतकी मनुष्य दान क्यों नहीं कर सकता? उसमें क्या दोष है? और उसके द्वारा दान किये हुए द्रव्य तथा सूखे अन्नादिक से भी उनका लेने वाला कोई कैसे अपवित्र हो जाता है? यदि अपवित्र हो ही जाता है तो फिर इस कल्पना मात्र से उसका उद्धार अथवा रक्षा कैसे हो सकती है कि दातार दो दिन के लिये सूतकी नहीं रहा? तब तो सूतक के बाद ही दानादिक किया जाना चाहिये। और यदि जरूरत के वक़्त ऐसी कल्पनाएँ कर-लेना भी जायज़ (विधेय) है तो फिर एक श्रावक के लिये, जिसे नित्य पूजन-दान तथा स्वाध्यायादिक का नियम है, यही कल्पना क्यों न करली जाय कि उसे अपनी उन नित्यावश्यक क्रियाओं के करने में कोई सूतक नहीं लगता? इस कल्पना का उस कल्पना के साथ मेल भी है जो व्रतियों, दीक्षितों तथा ब्रह्मचारियों आदि को पिता के मरण के सिवाय और किसी का सूतक न लगने की बाबत की गई है *। अतः भट्टारकजी का उक्त हेतुवाद कुछ भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वास्तव में उनका यह सब कथन प्रायः ब्राह्मणिक मन्तव्यों को लिये हुए है और कहीं कहीं हिन्दू धर्म से भी एक क़दम आगे बढ़ा हुआ जान पड़ता है +। जैन धर्म से उसका कोई खास

---

* यथा:—

व्रतिनां दीक्षितानां च याज्ञिकब्रह्मचारिणाम्।
नैवाशौचं भवेत्तेषां पितुश्च मरणं विना॥ १२२॥

+ हिन्दू धर्म में नाल कटने के बाद जन्म से पाँचवें छठे दिन भी पिता को दान देने तथा पूजन करने का अधिकारी बतलाया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि ब्राह्मणों को उस दान के लेने में कोई दोष नहीं। यथा:—

सम्बन्ध नहीं है और न जैनियों में, आमतौर पर, नाल का काटना दो एक दिन के लिये रोका ही जाता है, बल्कि वह उसी दिन, जितना शीघ्र होता है, काटदी जाती है और उसको काट देने के बाद ही दानादिक पुण्य कार्य किया जाता है।

(ग) तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक व्यवस्था यह भी करते हैं कि यदि कोई पुत्र दूर देशान्तर में स्थित हो और उसे अपने पिता या माता के मरण का समाचार मिले तो उस समाचार को सुनने के दिन से ही उसे दस दिन का सूतक (पातक) लगेगा—चाहे वह समाचार उसने कई वर्ष बाद ही क्यों न सुना हो * । यथा:—

पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः।
श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य पुत्राणां दशरात्रकं [दशाहं सूतकी भवेत्]॥७१॥

यह भी सूतक की कुछ कम विडम्बना नहीं है। उस पुत्र ने पिता का दाह-कर्म किया नहीं, शव को स्पर्शा नहीं, शव के पीछे श्मशान भूमि में वह गया नहीं और न पिता के मृत शरीर की दूषित वायु ही उस तक पहुँच सकी है परन्तु फिर भी—इतने वर्षों के बाद तथा हजारों मील की दूरी पर बैठा हुआ भी—वह अपवित्र हो जाता है और दान पूजनादिक धर्मकृत्यों के योग्य नहीं रहता ! यह कितनी हास्यास्पद व्यवस्था है इसे पाठक स्वयं सोच सकते हैं !!! क्या यह

" आशौचमध्येऽपि दाने च बालश्चेद्यमात्पूर्वं पितुरधिकारः एव पंचमषष्ठदशमदिने जन्मदानादिप्रसंगेषु दाने चाधिकारः तत्र विप्राणां प्रतिग्रहेऽपि दोषो न।" —आशौचनिर्णय।

* इसी तरह पर आपने पति पत्नी को भी एक दूसरे का मृत्यु-समाचार सुनने पर दस दिन का सूतक बतलाया है। यथा:—

मातापित्रोर्यथाशौचं दशाहं क्रियते सुतैः।
अन्येऽप्येवं दम्पत्योस्तथैव स्यात्परस्परम् ॥७४॥

भी जैन धर्म की व्यवस्था है ? छेदपिण्डादि शास्त्रों में तो जलाऽनल-प्रवेशादिद्वारा मरे हुओं की तरह परदेश में मरे हुओं का भी सूतक नहीं माना है। यथाः—

वालत्तयसूरत्तणजलणादिपवेसदिक्खेहिं।
अणसणपरदेसेसु य मुदाण खलु सूतगं णत्थि ॥ ३५३ ॥
—छेदपिण्ड।

सोहयसूतगविही जलाइपरदेसवालसण्णासे।
मरिदे खणे ण सोही पदसहिदे चेव सागारे ॥ ८६ ॥
—छेद शास्त्र।

इससे उक्त व्यवस्था को जैनधर्म की व्यवस्था बतलाना और भी आपत्ति के योग्य हो जाता है। भट्टारकजी ने इस व्यवस्था को हिन्दू धर्म से लिया है, और वह उसके 'मरीचि' ऋषि की व्यवस्था है *। उक्त श्लोक भी मरीचि ऋषि का वाक्य है और उसका अन्तिम चरण है 'दशाहं सूतकी भवेत्'। भट्टारकजी ने इस चरण को बदल कर उसकी जगह 'पुत्राणां दशरात्रकं' बनाया है और उनका यह परिवर्तन बहुत कुछ बेढंगा जान पड़ता है, जैसा कि पहिले ('अजैन-ग्रन्थों से संग्रह' प्रकरण में) बतलाया जा चुका है।

(घ) इसी तेरहवें अध्याय में भट्टारकजी एक और भी अनोखी व्यवस्था करते हैं। अर्थात्, लिखते हैं कि 'यदि कोई अपना कुटुम्बी

---

* मनु आदि ऋषियों की व्यवस्था इससे भिन्न है और उसको जानने के लिये 'मनुस्मृति' आदि को देखना चाहिये। यहाँ पर एक वाक्य पराशरस्मृति का उद्धृत किया जाता है जिसमें ऐसे अवसर पर सद्यः शौच की—तुरत शुद्धि कर लेने की—व्यवस्था की गई है। यथा:—

देशान्तरमृतः कश्चित्सगोत्रः श्रूयते यदि।
न त्रिरात्रमहोरात्रं सद्यः स्नात्वा शुचिर्भवेत् ॥ ३-१२ ॥

जब दूर देशान्तर को गया हो, और उसका कोई समाचार पूर्वादि अवस्था-क्रम से १८, १५ या १२ वर्ष तक सुनाई न पड़े तो इसके बाद उसका विधिपूर्वक प्रेतकर्म (मृतक संस्कार) करना चाहिये—सूतक (पातक) मनाना चाहिये—और श्राद्ध करके छह वर्ष तक का प्रायश्चित्त लेना चाहिये। यदि प्रेतकार्य हो चुकने के बाद वह आ जाय तो उसे घी के घड़े तथा सर्व औषधियों के रस से नहलाना चाहिये, उसके सब संस्कार फिर से करके उसे यज्ञोपवीत देना चाहिये और यदि उसकी पूर्वपत्नी मौजूद हो तो उसके साथ उसका फिर से विवाह करना चाहिये'। यथाः—

दूरदेशं गते वार्ता दूरतः श्रूयते न चेत् ।
यदि पूर्ववयस्कस्य यावत्स्यादष्टविंशतिः ॥ ८० ॥
तथा मध्यवयस्कस्य अब्दाः पंचदशैव तत् ।
तथाऽवृद्धवयस्कस्य स्याद् द्वादशवत्सरम् ॥ ८१ ॥
अत ऊर्ध्वं प्रेतकर्म कार्यं तस्य विधानतः ।
श्राद्धं कृत्वा षडब्दं तु प्रायश्चित्तं सहाक्रियः ॥ ८२ ॥
प्रेतकार्ये कृते तस्य यदि चेत्पुनरागतः ।
घृतकुम्भेन संस्नाप्य सर्वौषधिभिरप्यथ ॥ ८३ ॥
संस्कारान्सकलान् कृत्वा मौञ्जीबन्धनमाचरेत् ।
पूर्वपत्न्या सहैवास्य विवाहः कार्य एव हि ॥ ८४ ॥

पाठकगण! देखिये, इस विडम्बना का भी कुछ ठिकाना है! बिना मरे ही मरना मना लिया गया!! और उसके मनाने की भी ज़रूरत समझी गई!!! यह विडम्बना पूर्व की विडम्बनाओं से भी बढ़ गई है। इस पर अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं। जैन धर्म से ऐसी बिना सिर पैर की विडम्बनात्मक व्यवस्थाओं का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ऊ) सूतक मनाने के इतने धनी भट्टारकजी आगे चलकर लिखते हैं:—

व्याधितस्य कदर्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ॥११६॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः।
श्राद्धत्यागविहीनस्य षण्ढपाषण्डपापिनाम् ॥ १२० ॥
पतितस्य च दुष्टस्य भस्मांतं सूतकं भवेत्।
यदि दग्धं शरीरं चेत्सूतकं तु दिनत्रयम् ॥ १२१ ॥

अर्थात्–जो लोग व्याधि से पीड़ित हों, कृपण हों, हमेशा कर्ज़दार रहते हों, क्रिया-हीन हों, मूर्ख हों, सविशेष रूप से स्त्री के वशवर्ती हों, व्यसनासक्तचित्त हों, सदा पराधीन रहने वाले हों, श्राद्ध न करते हों, दान न देते हों, नपुंसक हों, पाषण्डी हों, पापी हों, पतित हों अथवा दुष्ट हों, उन सब का सूतक भस्मान्त होता है—अर्थात्, शरीर के भस्म हो जाने पर फिर सूतक नहीं रहता। सिर्फ़ उस मनुष्य को तीन दिन का सूतक लगता है जिसने दग्धक्रिया की हो।

इस कथन से सूतक का मामला कितना उलट पलट हो जाता है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं, सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। मालूम नहीं भट्टारकजी का इस में क्या रहस्य था! उनके अनुयायी सोनीजी भी उसे खोल नहीं सके और वैसे ही दूसरों पर अश्रद्धा का आक्षेप करने बैठ गये!! हमारी राय में तो इस कथन से सूतक की विडम्बना और भी बढ़ जाती है और उसकी कोई एक निर्दिष्ट अथवा स्पष्ट नीति नहीं रहती। लोक व्यवहार भी इस व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः यह कथन भी प्रायः हिन्दू धर्म का कथन है। इसके पहले दो पद्य 'अत्रि' ऋषि के वचन हैं और वे 'अत्रिस्मृति' में क्रमशः नं० १०० तथा १०१ पर दर्ज हैं, सिर्फ़ इतना भेद है कि वहाँ दूसरे पद्य का अन्तिम चरण 'भस्मान्तं सूतकं भवेत्' दिया है, जिसे भट्टारकजी ने अपने तीसरे पद्य का दूसरा

चरण बनाया है और उसकी जगह पर 'षण्ढपाषण्डपापिनाम्' नाम का चरण रख दिया है ! !

इसी तरह पर और भी कितने ही कथन अथवा विधि-विधान ऐसे पाये जाते हैं, जो सूतक-मर्यादा की निःसार विषमतादि-विषयक विडम्बनाओं को लिये हुए हैं और जिन से सूतक की नीति निरापद् नहीं रहती; जैसे विवाहिता पुत्री के पिता के घर पर मर जाने अथवा उसके वहां बच्चा पैदा होने पर सिर्फ तीन दिन के सूतक की व्यवस्था का दिया जाना ! इत्यादि । और ये सब कथन भी अधिकांश में हिन्दू धर्म से लिये गये अथवा उसकी नीति का अनुसरण करके लिखे गये हैं।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों को सिर्फ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भट्टारकजी ने उस हालत में भी सूतक अथवा किसी प्रकार के अशौच को न मानने की व्यवस्था की है जब कि यज्ञ (पूजन हवनादिक) तथा महान्यासादि कार्यों का प्रारम्भ कर दिया गया हो और बीच में कोई सूतक आ पड़े अथवा सूतक मानने से अपने बहुत से द्रव्य की हानि का प्रसंग उपस्थित हो। ऐसे सब अवसरों पर फौरन शुद्धि कर ली जाती है अथवा मान ली जाती है, ऐसा भट्टारकजी का कहना है। यथाः—

समारम्भेषु वा यज्ञमहान्यासादिकर्मसु ।
बहुद्रव्यविनाशो तु सद्यःशौचं विधीयते ॥ १२४ ॥

परन्तु विवाह-प्रकरण के अवसर पर आप अपने इस व्यवस्था-नियम को भुला गये हैं। यहाँ विवाह-यज्ञ का होम प्रारम्भ हो जाने पर जब यह मालूम होता है कि कन्या रजस्वला है तो आप तीन दिन के लिये विवाह को ही मुल्तवी (स्थगित) कर देते हैं और चौथे दिन उसी अग्नि में फिर से होम करके कन्यादानादि शेष कार्यों को

पूरा करने की व्यवस्था देते हैं ! * आपको यह भी खयाल नहीं रहा कि तीन दिन तक बारात के वहाँ और पड़े रहने पर बेटी वाले का कितना खर्च बढ़ जायगा और साथ ही बारातियों को भी अपनी आर्थिक हानि के साथ साथ कितना कष्ट उठाना पड़ेगा ! !—यह भी तो बहु-द्रव्यविनाश का ही प्रसंग था और साथ ही यज्ञ भी प्रारम्भ हो गया था जिसका कोई खयाल नहीं रक्खा गया—और न आप को यही ध्यान आया कि जिस ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से हम यह पद्य उठा कर रख रहे हैं उसमें इसके ठीक पूर्व ही ऐसे अवसरों के लिये भी सद्यःशौच की व्यवस्था की है—अर्थात्, लिखा है कि उस वर तथा कन्या के लिये जिसका विवाहकार्य प्रारम्भ हो गया हो, उन लोगों के लिये जो होम श्राद्ध, महादान तथा तीर्थयात्रा के कार्यों में प्रवर्त रहे हों और उन ब्रह्मचारियों के लिये जो प्रायश्चित्तादि नियमों का पालन कर रहे हों, अपने अपने कार्यों को करते हुए किसी सूतक के उपस्थित हो जाने पर सद्यःशौच की व्यवस्था है + । अस्तु; भट्टारकजी को इस विषय का ध्यान अथवा खयाल रहा हो या न रहा हो और वे भूल गये हों या भुला गये हों परंतु

---

* यथा:—

विवाहहोमे प्रक्रान्ते कन्या यदि रजस्वला ।
त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ ॥ १०६ ॥
चतुर्थेऽहनि संस्नाता तस्मिन्नग्नौ यथाविधि ।
विवाहहोमं कुर्यात्तु कन्यादानादिकं तथा ॥ १०७ ॥

\+ यथा:—

उपक्रान्तविवाहस्य वरस्यापि स्त्रियस्तथा ।
होमश्राद्धमहादानतीर्थयात्राप्रवर्तिनाम् ॥ ८-७६ ॥
प्रायश्चित्तादिनियमवर्तिनां ब्रह्मचारिणाम् ।
इत्येषां सूतकत्वेषु सद्यः शौचं निरूपितम् ॥ ८० ॥

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रंथ में उनके इस विधान से सूतक की नीति और भी ज्यादा अस्थिर हो जाती है और उससे सूतक की विडम्बना बढ़ जाती है अथवा यों कहिये कि उसकी मिट्टी खराब हो जाती है और कुछ मूल्य नहीं रहता। साथ ही, यह मालूम होने लगता है कि 'वह अपनी वर्तमान स्थिति में महज काल्पनिक है; उसका मानना न मानना समय की ज़रूरत, लोकस्थिति अथवा अपनी परिस्थिति पर अवलम्बित है—लोक का वातावरण बदल जाने अथवा अपनी किसी खास ज़रूरत के खड़े हो जाने पर उसमें यथेच्छ परिवर्तन ही नहीं किया जा सकता बल्कि उसे साफ़ धता भी बतलाया जा सकता है; वास्तविक धर्म अथवा धार्मिक तत्वों के साथ उसका कोई खास सम्बंध नहीं है—उसको उस रूप में न मानते हुए भी पूजा, दान, तथा स्वाध्यायादिक धर्मकृत्यों का अनुष्ठान किया जा सकता है और उससे किसी अनिष्ट फल की सम्भावना नहीं हो सकती'। चुनाँचे भरत चक्रवर्ती ने, पुत्रोत्पत्ति के कारण घर में सूतक होते हुए भी, भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न होने का शुभ समाचार पाकर उनके समवसरण में जाकर उनका साक्षात् पूजन किया था, और वह पूजन भी अकेले अथवा चुपचाप नहीं किन्तु बड़ी धूमधाम के साथ अपने भाइयों, स्त्रियों तथा पुरजनों को साथ लेकर किया था। उन्हें ऐसा करने से कोई पाप नहीं लगा और न उसके कारण कोई अनिष्ट ही संघटित हुआ। प्रत्युत इसके, शास्त्र में—भगवज्जिनसेनप्रणीत आदिपुराण में—उनके इस सद्विचार तथा पुण्योपार्जन के कार्य की प्रशंसा ही की गई है जो उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के उत्सव को भी गौण करके पहले भगवान का पूजन किया। भरतजी के मस्तक में उस वक्त इस प्रकार की किसी कल्पना का उदय तक भी नहीं हुआ कि 'पुत्रजन्म के योगमात्र से हम सब कुटुम्बीजन, सूतक गृह में प्रवेश न करते हुए भी,

अपवित्र हो गये हैं—कुछ दिन तक बलात् अपवित्र ही रहेंगे—और इस लिये हमें भगवान् का पूजन न करना चाहिये;' बल्कि वे कुछ देर तक सिर्फ इतना ही सोचते रहे कि एक साथ उपस्थित हुए इन कार्यों में से पहले कौनसा कार्य करना चाहिये और अन्त को उन्होंने यही निश्चय किया कि यह सब पुत्रोत्पत्ति आदि शुभ फल धर्म का ही फल है, इस लिये सब से पहिले देवपूजा रूप धर्म कार्य ही करना चाहिये जो श्रेयोनुबन्धी (कल्याणकारी) तथा महाफल का दाता है। और तदनुसार ही उन्होंने, सूतकावस्था में, पहले भगवान का पूजन किया +। भरतजी यह भी जानते थे कि उनके भगवान् वीतराग हैं, परम पवित्र और पतितपावन हैं; यदि कोई शरीर से अपवित्र मनुष्य उनकी उपासना करता है तो वे उससे नाखुश (अप्रसन्न) नहीं होते और न उसके शरीर की छाया पड़ जाने अथवा वायु लग जाने से अपवित्र ही हो जाते हैं; बल्कि वह मनुष्य ही उनके पवित्र गुणों की स्तुति के योग से स्वयं पवित्र हो जाता है *। इससे भरतजी को अपनी सूतकावस्था की कुछ चिंता भी नहीं थी।

मालूम होता है ऐसे ही कुछ कारणों से जैन धर्म में सूतकाचरण को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। उसका श्रावकों की उन ५३ क्रियाओं में नाम तक भी नहीं है जिनका आदिपुराण में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और जिन्हें 'सम्यक् क्रियाएँ' लिखा है,

---

+ देखो उक्त आदिपुराण का २४ वाँ पर्व।

* नित्य की 'देवपूजा' में भी ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है और उस अपवित्र मनुष्य को तब बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार से पवित्र माना है। यथा:—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

बल्कि भगवज्जिनसेन ने 'आधानादिश्मशानान्त' नाम से प्रसिद्ध होने वाली दूसरे लोगों की उन विभिन्न क्रियाओं को जिनमें 'सूतक' भी शामिल हैं 'मिथ्या क्रियाएँ' बतलाया है ×। इससे जैनियों के लिये सूतक का कितना महत्व है यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके सिवाय, प्राचीन साहित्य का जहाँ तक भी अनुशीलन किया जाता है उससे यही पता चलता है कि बहुत प्राचीन समय अथवा जैनियों के अभ्युदय काल में सूतक को कभी इतनी महत्ता प्राप्त नहीं थी और न वह ऐसी विडम्बना को ही लिये हुए था जैसी कि भट्टारकजी के इस ग्रंथ में पाई जाती है। भट्टारकजी ने किसी देश, काल अथवा सम्प्रदाय में प्रचलित सूतक के नियमों का जो यह बेढंगा संग्रह करके उसे शास्त्र का रूप दिया है और सब जैनियों पर उसके अनुकूल आचरण की ज़िम्मेदारी का भार लादा है वह किसी तरह पर भी समुचित प्रतीत नहीं होता। जैनियों को इस विषय में अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये और केवल प्रवाह में नहीं बहना चाहिये—उन्हें, जैनदृष्टि से सूतक के तत्व को समझते हुए, उसके किसी नियम उपनियम का पालन उस हद तक ही करना चाहिये जहाँ तक कि लोक-व्यवहार में ग्लानि मेटने अथवा शुचिता * सम्पादन करने के साथ उसका सम्बंध है और अपने सिद्धान्तों तथा व्रताचरण में कोई

× देखो इसी परीक्षा लेख का 'प्रतिज्ञादिविरोध' नाम का प्रकरण।

* यह शुचिता प्रायः भोजनपान की शुचिता है अथवा भोजनपान की शुद्धि को सिद्ध करना ही सूतक-पातक-सम्बन्धी वर्णन का मुख्य उद्देश्य है, ऐसा लाटीसंहिता के निम्न वाक्य से ध्वनित होता है:—

सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने।
एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ ५-२५६ ॥

बाधा नहीं आती। बहुधा परस्पर के खान-पान तथा बिरादरी के लेन देन तक ही उसे सीमित रखना चाहिये। धर्म पर उसका आतंक न जमना चाहिये, किन्तु ऐसे अवसरों पर, भरतजी की तरह, अपने योग्य धर्माचरण को बराबर करते रहना चाहिये। और यदि कहीं का वातावरण, अज्ञान अथवा संसर्गदोष से या ऐसे ग्रंथों के उपदेश से दूषित हो रहा हो—सूतक पातक की पद्धति बिगड़ी हुई हो—तो उसे युक्तिपूर्वक सुधारने का यत्न करना चाहिये।

तेरहवें अध्याय में मृतकसंस्कारादि-विषयक और भी कितना ही कथन ऐसा है जो दूसरों से उधार लेकर रक्खा गया है और जैनदृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। वह सब भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं है। यहाँ पर विस्तारभय से उसके विचार को छोड़ा जाता है।

मैं समझता हूँ ग्रंथ पर से सूतक की विडम्बना का दिग्दर्शन कराने के लिये उसका इतना ही परिचय तथा विवेचन काफ़ी है। सहृदय पाठक इस पर से बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं।

पिप्पलादि-पूजन।

(२१) नवमें अध्याय में, यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन करते हुए, भट्टारकजी ने पीपल वृक्ष के पूजने का भी विधान किया है। आपके इस विधानानुसार 'संस्कार से चौथे दिन पीपल पूजने के लिये जाना चाहिये; पीपल का वह वृक्ष पवित्र स्थान में खड़ा हो, ऊँचा हो, छेददाहादि से रहित हो तथा मनोज्ञ हो; और उसकी पूजा इस तरह पर की जाय कि उसके स्कन्ध देश को दर्भ तथा पुष्पादिक की मालाओं और हलदी में रँगे हुए सूत के धागों से अलंकृत किया जाय—लपेटा अथवा सजाया जाय—, मूल को जल से सींचा जाय और वृक्ष के पूर्व की ओर एक चबूतरे पर अग्निकुंड बनाकर उसमें नौ नौ समिधाओं तथा घृतादिक से होम किया जाय; इसके बाद उस वृक्ष से, जिसे सर्व मंगलों का हेतु बतलाया है,

यह प्रार्थना कीजाय कि हे पिप्पल वृक्ष ! मुझे, आपकी तरह पवित्रता, यज्ञयोग्यता और बोधित्वादिगुणों की प्राप्ति होवे और आप मेरे जैसे चिन्हों के (मनुष्याकार के) धारक होवें; प्रार्थना के अनंतर उस वृक्ष तथा अग्नि की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर ख़ुशी ख़ुशी अपने घर को जाना चाहिये और वहीं, भोजन के पश्चात् सबको संतुष्ट करके, रहना चाहिये। साथ ही, उस संस्कारित व्यक्ति को पीपल पूजने की यह क्रिया हर महीने इसी तरह पर होमादिक के साथ करते रहना चाहिये और ख़ासकर श्रावण के महीने में तो उसका किया जाना बहुत ही आवश्यक है'। यथाः—

चतुर्थवत्सरे चापि संस्कारः पितृसंनिधौ ।
संक्षिप्तहोमपूजादि कर्म कुर्याद्यथोचितम् ॥ ४५ ॥

शुचिस्थानस्थितं शुद्धं देवताद्यधिवासितम् ।
मनोज्ञं पूजितुं गच्छेत्तदुपस्याऽश्वत्थवृक्षकम् ॥४६॥

धर्मपुण्यादिमालाभिर्हरिद्राकङ्कणतन्तुभिः ।
स्कन्धदेशमलंकृत्य वृक्षं जलेन सिञ्चयेत् ॥४७॥

वृक्षस्य पूर्वदिग्भागे स्थण्डिलस्याग्निमंडले ।
तत्र तत्र समित्क्षिप्य होमं कुर्याद् घृतादिभिः ॥ ४८ ॥

पूतत्वयज्ञयोग्यत्वबोधित्वाद्या भवन्तु मे ।
त्वद्वद्बोधिद्रुम त्वं च मद्वच्चिह्नधरो भव ॥४९॥

तं वृक्षमिति संप्रार्थ्य सर्वमंगलहेतुकम् ।
वृक्षं वन्हिं त्रिःपरीत्य ततो गच्छेद् गृहं मुदा ॥५०॥

एवं कृते न मिथ्यात्वं लौकिकाचारवर्तनात् ।
भोजनानन्तरं सर्वान्संतोष्य निवसेद् गृहे ॥५१॥

प्रतिमासं क्रियां कुर्याद्धोमपूजापुरस्सरम् ।
श्रावणे तु विशेषेण सा क्रियाऽऽवश्यकी मता ॥५२॥

पीपल की यह पूजा जैनमत–सम्मत नहीं है। जैनदृष्टि से पीपल न कोई देवता है, न कोई दूसरी पूज्य वस्तु, और न उसके पूजन से किसी पुण्य फल अथवा शुभफल की प्राप्ति ही होती है; उसमें **पवित्रता, पूजनपात्रता** (यज्ञयोग्यता) और **विज्ञता** (बोधित्व) आदि के वे विशिष्ट गुण भी नहीं हैं जिनकी उससे प्रार्थना की गई है। इसके सिवाय, जगह जगह जैन शास्त्रों में पिप्पलादि वृक्षों के पूजन का निषेध किया गया है और उसे **देवमूढता** अथवा **लोकमूढता** बतलाया है; जैसा कि नीचे के कुछ अवतरणों से प्रकट है:—

मुसलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पकोजलम्।
देवायैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्र के ॥४—६८॥

—अमितगति उपासकाचार।

पृथ्वी ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकान्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्याः विपश्चितः ॥१-४७॥

—सिद्धान्तसार।

लोकपालः शिवो नागो वृक्षाश्च पिप्पलादयः। ... ..
यत्राच्यर्न्ते शठैरेते देवमूढः स उच्यते ॥

—सारचतुर्विंशतिका।

...तरुस्तूपाग्र भक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।...
. .एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥

—यशस्तिलक।

...वृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयं।

—द्रव्यसंग्रहटीका ब्रह्मदेवकृता।

...वटवृक्षादिपूजनम्। ...... लोकमूढं प्रचक्ष्यते ॥

—धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार।

इससे भट्टारकजी की उक्त पिप्पलपूजा देवमूढ़ता या लोकमूढ़ता में परिगणित होती है। उन्होंने हिन्दुओं के विश्वासानुसार पीपल को यदि देवता समझ कर उसकी पूजा की यह व्यवस्था की है तो वह देवमूढ़ता है और यदि लोगों की देखादेखी पुण्यफल समझ कर या उससे किसी दूसरे अनोखे फल की आशा रखकर ऐसा किया है तो वह लोकमूढ़ता है; अथवा इसे दोनों ही समझना चाहिये। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी यह पूजन-व्यवस्था मिथ्यात्व को लिये हुए है और अच्छी खासी मिथ्यात्व की पोषक है। भट्टारकजी को भी अपनी इस पूजा पर प्रकट मिथ्यात्व के आक्षेप का खयाल आया है। परन्तु चूँकि उन्हें अपने ग्रंथ में इसका विधान करना था इसलिये उन्होंने लिख दिया—'एवं कृते न मिथ्यात्वं'—ऐसा करने से कोई मिथ्यात्व नहीं होता। क्यों नहीं होता? 'लौकिकाचारवर्तनात्'—इस लिये कि यह तो लोकाचार का वर्तना है! अर्थात् लोगों की देखा देखी जो काम किया जाय उसमें मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता! भट्टारकजी का यह हेतु भी बड़ा ही विलक्षण तथा उनके अद्भुत पाण्डित्य का द्योतक है!! उनके इस हेतु के अनुसार लोगों की देखादेखी यदि कुदेवों का पूजन किया जाय, उन्हें पशुओं की बलि चढ़ाई जाय, साँझी-होई तथा पीरों की कब्रें पूजी जायँ, नदी समुद्रादिक की वन्दना-भक्ति के साथ उनमें स्नान से धर्म माना जाय, ग्रहण के समय स्नान का विशेष माहात्म्य समझा जाय और हिंसा के आचरण तथा मद्यमांसादि के सेवन में कोई दोष न माना जाय अथवा यों कहिये कि असत्य को तत्त्व समझ कर प्रवर्ता जाय तो इसमें भी कोई मिथ्यात्व नहीं होगा!! तब मिथ्यात्व अथवा मिथ्याचार रहेगा क्या, यह कुछ समझ में नहीं आता!!! सोमदेवसूरि तो, 'यशस्तिलक' में मूढ़ताओं का वर्णन करते हुए, साफ लिखते हैं कि 'इन कृत्यादिकों

का पूजन चाहे वर के लिये किया जाय, चाहे लोका-चार की दृष्टि से किया जाय और चाहे किसी के अनु-रोध से किया जाय, वह सब सम्यग्दर्शन की हानि करने वाला है—अथवा यों कहिये कि मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला है। यथाः—

वरार्थं लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव वा।
उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये॥

पंचाध्यायी में भी लौकिक सुखसम्पत्ति के लिये कुदेवाराधन को 'लोकमूढता' बतलाते हुए, उसे 'मिथ्या लोकाचार' बतलाया है और इसीलिये त्याज्य ठहराया है—यह नहीं कहा कि लौकिका-चार होने की वजह से वह मिथ्यात्व ही नहीं रहा। यथाः—

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता॥

इससे यह स्पष्ट है कि कोई मिथ्याक्रिया महज़ लोक में प्रचलित अथवा लोकाचार होने की वजह से मिथ्यात्व की कोटि से नहीं निकल जाती और न सम्यक्क्रिया ही कहला सकती है। जैनियों के द्वारा, वास्तव में, लौकिक विधि अथवा लोकाचार वहीं तक मान्य किये जाने के योग्य हो सकता है जहाँ तक कि उससे उनके सम्यक्त्व में बाधा न आती हो और न व्रतों में ही कोई दूषण लगता हो; जैसा कि सोमदेवसूरि के निम्न वाक्य से भी प्रकट है:—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

—यशस्तिलक॥

ऐसी हालत में भट्टारकजी का उक्त हेतुवाद किसी तरह भी युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता और न सम्पूर्ण लोकाचार ही, बिना किसी विशेषता के, महज़ लोकाचार होने की वजह से मान्य किये जाने के योग्य ठहरता

है। श्रीपद्मनन्दि आचार्य ने भी अपने श्रावकाचार में उन सब कर्मों से दूर रहने का अथवा उनके त्याग का उपदेश दिया है, जिनसे सम्यग्दर्शन मैला तथा व्रत खंडित होता हो। यथा.—

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्मांणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्॥ २६॥

लोक में, हिन्दूधर्म के अनुसार, पीपल को विष्णु भगवान का रूप माना जाता है। विष्णु भगवान ने किसी तरह पर पीपल की मूर्ति धारण की है, वे पीपल के रूप में भूतल पर अवतरित हुए हैं, और उनके आश्रय में सब देव आकर रहे हैं; इसलिये जो पीपल की पूजा करता है वह विष्णु भगवान की पूजा करता है, इतना ही नहीं, किन्तु सर्व देवों की पूजा करता है—ऐसा हिन्दुओं के पद्मोत्तरखण्डादि कितने ही ग्रंथों में विस्तार के साथ विधान पाया जाता है। इसीसे उनके यहाँ पीपल के पूजने का बड़ा माहात्म्य है और उसका सर्व पापों का नाश करने आदि रूप से बहुत कुछ फल वर्णन किया गया है *। और यही

---

*इस विषय के कुछ थोड़े से वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं:-

"अश्वत्थ रूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः।"

"अश्वत्थपूजको यस्तु स एव हरिपूजकः।
अश्वत्थमूर्तिर्भगवान्स्वयमेव यतो द्विज॥"

"अथाश्वत्थमाहात्म्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
साक्षादेव स्वयं विष्णुरश्वत्थोऽखिलविश्वराट्॥"

"अश्वत्थपूजितो येन पूजिताः सर्वदेवताः।
अश्वत्थश्छेदितो येन छेदिताः सर्व देवताः॥"

"अश्वत्थं सेचयेद्विद्वान्संप्रदक्षिणमाविशेत्।
पापोपहतमर्त्यानां पापनाशो भवेद् ध्रुवम्॥"

—शब्दकल्पद्रुम।

वजह है जो वे पीपल में पवित्रता, यज्ञयोग्यता और बोधित्वादि गुणों की कल्पना किये हुए हैं। पीपल में पूतत्व गुण अथवा पवित्रता के हेतु का उल्लेख करने वाला उनका एक वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है:—

अश्वत्थ! यस्मात्त्वयि वृक्षराज! नारायणस्तिष्ठति सर्वकारणम्।
अतः शुचिस्त्वं सततं तरूणाम् विशेषतोऽरिष्टविनाशनोऽसि॥

इस वाक्य में पीपल को सम्बोधन करके कहा गया है कि 'हे वृक्षराज! चूँकि सब का कारण नारायण (विष्णु भगवान) तुम्हारे में तिष्ठता है, इसलिये तुम सविशेष रूप से पवित्र हो और अरिष्ट का नाश करने वाले हो'।

ऐसी हालत में, अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध, दूसरे लोगों की देखा-देखी पीपल पूजने अथवा इस रूप में लोकानुवर्तन करने से सम्यग्दर्शन मैला होता है—सम्यक्त्व में बाधा आती है—यह बहुत कुछ स्पष्ट है। खेद है भट्टारकजी, जैन दृष्टि से, यह नहीं बतला सके कि पीपल में किस सम्बन्ध से पूज्यपना है अथवा किस आधार पर उसमें बोधित्व तथा पूतत्वादि गुणों की कल्पना बन सकती है। × प्रत्युत में वह

"(अथर्वण उवाच) पुरा ब्रह्मादयो देवाः सर्वे विष्णुं समाश्रिताः।
प्रच्छुश्च देवदेवेशं राक्षसैः पीडिताः स्वयम्।
कथं पीडोपशमनमस्माकं ब्रूहि मे प्रभो॥
"(श्रीविष्णुरुवाच) अहमश्वत्थरूपेण संभवामि च भूतले।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुरुध्वं तत्सेवनम्॥
अनेन सर्वभद्राणि भविष्यन्ति न संशयः।
—जयसिंहकल्पद्रुम।

× भट्टारकजी के कथन को ब्रह्मवाक्य समझने वाले सोनीजी भी, अपने अनुवाद में डेढ़ पेज का लम्बा भावार्थ लगाने पर भी, इस विषय को स्पष्ट नहीं कर सके और न भट्टारकजी के हेतु को ही निर्दोष

जड़ भाव को लिये हुए हैं और उसके फलों तथा शाख में असंख्याते त्रस जीवों के मृत कलेवर शामिल रहने से अच्छी खासी अपवित्रता से

सिद्ध कर सके हैं। उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि आगम में वृक्ष पूजा को बुरा तथा लोकमूढ़ता बतलाया है और उसके अनुसार इस पीपल पूजा का लोकमूढ़ता में अन्तर्भाव होना चाहिये। परन्तु ग्रन्थकार भट्टारकजी ने चूँकि यह लिख दिया है कि 'ऐसा करने में मिथ्यात्व का दोष नहीं लगता' इससे आपकी बुद्धि चकरा गई है और आप उसमें किसी रहस्य की कल्पना करने में प्रवृत्त हुए हैं—यह कहने लगे हैं कि "इसमें कुछ थोड़ासा रहस्य है"। लेकिन वह रहस्य क्या है, उसे बहुत कुछ प्रयत्न करने अथवा इधर उधर की बहुत सी निरर्थक बातें बनाने पर भी आप खोल नहीं सके और अन्त में आपको अनिश्चित रूप से यही लिखना पड़ा—"संभव है कि जिस तरह देव को निमित्त लेकर ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है वैसे ही ऐसा करने से भी ज्ञान का क्षयोपशम हो जाय"..."संभव है कि उस वृक्ष के निमित्त से भी आत्मा पर ऐसा असर पड़ जाय जिससे उसकी आत्मा में विलक्षणता आजाय।" इससे सोनीजी की जैनधर्म-विषयक श्रद्धा का भी कितना ही पता चल जाता है। अस्तु; आपकी सबसे बड़ी युक्ति इस विषय में यह मालूम होती है कि जिस तरह वर की इच्छा से गंगादिक नदियों में स्नान करना लोकमूढ़ता होते हुए भी वैसे ही—बिना उस इच्छा के—महज़ शरीर की मलशुद्धि के लिये उनमें स्नान करना लोकमूढ़ता नहीं है, उसी तरह यज्ञोपवीत की विशेष विधि में बोधि (ज्ञान) की इच्छा से बोधि (पीपल) वृक्षकी पूजा करने में भी लोकमूढ़ता अथवा मिथ्यात्व का दोष न होना चाहिये। यद्यपि आपके इस युक्ति-विधान में वर की इच्छा दोनों जगह समान है और इस लिये उस बोधि वर की इच्छा से

भी घिरा हुआ है। साथ ही, जैनागम में उसे वैसी कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। अतः उसमें पूतत्व आदि गुणों की कल्पना करना, उससे उन गुणों की प्रार्थना करना और हिन्दुओं की तरह से उसकी पूजा

पीपल का पूजना लोक मूढ़ता की कोटि से नहीं निकल सकता; फिर भी मैं यहाँ पर इतना और बतला देना चाहता हूँ कि गंगादिक नदियों के जिस स्नान की यहाँ तुलना की गई है वह संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि महज़ शारीरिक मलशुद्धि के लिये जो गंगादिक में स्नान करना है वह उन नदियों का पूजन करना नहीं है और यहाँ स्पष्ट रूप से 'पूजितुं गच्छेत्' आदि पदों के द्वारा पीपल की पूजा का विधान किया गया है और उसकी तीन प्रदक्षिणा देना तथा उससे प्रार्थना करना तक लिखा है—यह नहीं लिखा कि पीपल की छाया में बैठना अच्छा है, अथवा उसके नीचे बैठकर अमुक कार्य करना चाहिये, इत्यादि। और इसलिये नदियों की पूजा-वन्दनादि करना जिस तरह मिथ्यात्व है उसी तरह पूज्य बुद्धि को लेकर पीपल की यह उपासना करना भी मिथ्यात्व है। हाँ, एक दूसरी जगह (१० वें अध्याय में), लोकमूढ़ता का वर्णन करते हुए सोनीजी लिखते हैं—"सर्वसाधारण अग्नि, वृक्ष, पर्वत आदि पूज्य क्यों नहीं और विशेष विशेष कोई कोई पूज्य क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि जिनसे जिन भगवान का सम्बन्ध है वे पूज्य हैं; अन्य नहीं।" परन्तु पीपल की बाबत आपने यह भी नहीं बतलाया कि उससे जिन भगवान का क्या खास सम्बन्ध है, जिससे हिन्दुओं की तरह उसकी कुछ पूजा बन सकती; बल्कि यहाँ 'बोधि' का अर्थ 'वट' करके आपने अपने पूर्व कथन के विरुद्ध यज्ञोपवीत संस्कार के समय पीपल की जगह वट वृक्ष की पूजा का विधान करदिया है! और यह आपके अनुवाद की और भी विलक्षणता है!!

करना यह सब हिन्दू धर्म का अनुकरण है, जिसे भट्टारकजी ने लोकानुवर्तन के निःसत्व पर्दे के नीचे छिपाना चाहा है। सहज लोकानुवर्तन के आधार पर ऐसे प्रकट मिथ्यात्व को असिथ्यात्व कह देना, निःसन्देह, बड़े ही दुःसाहस का कार्य है!! और वह इन भट्टारक जैसे व्यक्तियों से ही बन सकता है जिन्हें धर्म के मर्म की कुछ भी खबर नहीं अथवा धर्म की आड़ में जो कुछ दूसरा ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं।

इसी तरह पर भट्टारकजी ने, एक दूसरे स्थान पर, 'आक' वृक्ष के पूजने का भी विधान किया है, जिसके विधिवाक्य का उल्लेख आगे 'अर्कविवाह' की आलोचना करते हुए किया जायगा।

वैधव्य-योग और अर्क-विवाह।

(२२) ग्यारहवें अध्याय में, पुरुषों के तीसरे विवाह का विधान करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं कि 'अर्क (आक) वृक्ष के साथ विवाह न करके यदि तीसरा विवाह किया जाता है तो वह तृतीय विवाहिता स्त्री विधवा हो जाती है। अतः विचक्षण पुरुषों को चाहिये कि वे तीसरे विवाह से पहले अर्क-विवाह किया करें। उसके लिये उन्हें अर्क वृक्ष के पास जाना चाहिये, वहाँ जाकर स्वस्ति-वाचनादि कृत्य करना चाहिये, अर्क वृक्ष की पूजा करनी चाहिये, उससे प्रार्थना करनी चाहिये, और फिर उसके साथ विवाह करना चाहिये'। यथा:—

---

* 'सूर्य नमस्कार्य' वाक्य में 'सूर्य' शब्द अर्कवृक्ष का वाचक और उसका पर्याय नाम है; उसी वृक्ष से पूजा के अनन्तर प्रार्थना का उल्लेख है। सोनीजी ने अपने अनुवाद में सूर्य से प्रार्थना करने की जो बात लिखी है वह उनकी कथनशैली से सूर्य देवता से प्रार्थना को सूचित करती है और इसलिये ठीक नहीं है।

‡ अकृत्वाऽर्कविवाहं तु तृतीयां यदि चोद्वहेत्।
विधवा सा भवेत्कन्या तस्मात्कार्यं विचक्षणा (णैः) ॥२०४॥
अर्कसविधिमागत्य कुर्यात्स्वस्त्यादिवाचनाम्।
अर्कस्याराधनां कृत्वा सूर्यं सम्प्रार्थ्य चोद्वहेत् ॥२०५॥

भट्टारकजी का यह सब कथन भी जैनशासन के विरुद्ध है। और उनका उक्त वैधव्ययोग जैन-तत्वज्ञान के विरुद्ध ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है—प्रत्यक्ष में सैकड़ों उदाहरण ऐसे उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें तीसरे विवाह से पहले अर्कविवाह नहीं किया गया, और फिर भी वैधव्य-योग संघटित नहीं हुआ। साथ ही, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें अर्कविवाह किये जाने पर भी स्त्री विधवा हो गई है और वह अर्कविवाह उसके वैधव्ययोग का टाल नहीं सका। ऐसी हालत में यह कोई लाज़िमी नियम नहीं ठहरता कि अर्कविवाह न किये जाने पर कोई स्त्री ख्वाहमख्वाह भी विधवा हो जाती है और किये जाने पर उसका वैधव्ययोग भी टल जाता है। तब भट्टारकजी का उक्त विधान कोरा वहम, भ्रम और लोक-मूढ़ता की शिक्षा के सिवाय और कुछ भी मालूम नहीं होता*।

‡ इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने पहली स्त्री को 'धर्मपत्नी' और दूसरी को 'भोगपत्नी' बतलाकर जो यह लिखा है कि "इन दो स्त्रियों के होते हुए तीसरा विवाह न करे" वह सब उनकी निजी कल्पना जान पड़ता है। मूल पद्य के आशय के साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। मूल से यह लाज़िमी नहीं आता कि वह दो स्त्रियों के मौजूद होने हुए ही तीसरे विवाह की व्यवस्था बतलाता है; बल्कि अधिकांश में, अपने पूर्वपद्य-सम्बन्ध से, दो स्त्रियों के मरजाने पर तीसरी स्त्रीको विवाहनेकी व्यवस्था करता हुआ मालूम होता है।

*इसी तरह का हाल भट्टारकजी के उस दूसरे वैधव्य-योग का

हिन्दुओं के यहाँ अर्कविवाह का विस्तार के साथ विधान पाया जाता है, उनके कितने ही ऋषियों की यह धारणा है कि मनुष्य की तीसरी स्त्री मानुषी न होनी चाहिये, यदि मानुषी होगी तो वह विधवा हो जायगी, इससे तीसरे विवाह से पहले उन्होंने अर्कविवाह की योजना की है—अर्क वृक्ष के पास जाकर स्वस्तिवाचनादि कृत्य करने, अर्क की पूजा करने, अर्क से प्रार्थना करने और फिर अर्क-कन्या के साथ विवाह करने आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था बतलाई है। इस विषय का कथन हिन्दुओं के कितने ही ग्रन्थों में पाया जाता है। 'नवरत्न-विवाहपद्धति' में भी आठ पृष्ठों में उसका कुछ संग्रह किया गया है। उसी पर से यहाँ कुछ वाक्य नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं:-

"उद्वहेत्प्रतिविध्यर्थं तृतीयां न कदाचन।
मोहादज्ञानतो वापि यदि गच्छेत्तु मानुषीम्॥
नश्यत्येव न संदेहो गर्गस्य वचनं यथा।
"तृतीयां यदि चोद्वाहेत्तर्हि सा विधवा भवेत्॥
चतुर्थादि विवाहार्थं तृतीयेऽर्कं समुद्वहेत्।"
"तृतीये स्त्रीविवाहे तु सम्प्राप्ते पुरुषस्य तु॥
आर्कं विवाहं वक्ष्यामि शौनकोऽहं विधानतः।
अर्कसन्निधिमागत्य तत्र स्वस्त्यादि वाचयेत्॥

भी है जिसका विधान उन्होंने इसी अध्याय के निम्न पद्य में किया है:-

कृते वाग्दान सम्बन्धे पश्चान्मृत्युश्च गोत्रिणाम्।
तदा न मंगलं कार्यं नारीवैधव्यदं ध्रुवम्॥ १०५॥

इस पद्य में यह बतलाया गया है कि वाक्सम्बन्ध (सगाई) के पश्चात् यदि अपना कोई सगोत्री (कुटम्बी) मर जाय तो फिर वह विवाहसम्बन्ध नहीं करना चाहिये। यदि किया जायगा तो वह स्त्री निश्चय से विधवा हो जायगी!!

नान्दीश्राद्धं प्रकुर्वीत स्थण्डिलं च प्रकल्पयेत् ।
अर्कमभ्यर्च्य सौर्यां च गंधपुष्पाक्षतादिभिः ॥"
(प्रार्थना) "नमस्ते मंगले देवि नमः सवितुरात्मजे ।
त्राहि मां कृपया देवि पत्नी त्वं मे इहागता ॥
अर्क त्वं ब्रह्मणा सृष्टः सर्वप्राणिहिताय च ।
वृक्षाणां आदिभूतस्त्वं देवानां प्रीतिवर्धनः ॥
तृतीयोद्वाहजं पापं मृत्युं चाशु विनाशयेत् ।
ततश्च कन्यावरणं त्रिपुरुषं कुलमुद्धरेत् ॥"

हिन्दू ग्रन्थों के ऐसे वाक्यों पर से ही भट्टारकजी ने वैधव्य-योग और अर्कविवाह की उक्त व्यवस्था अपने ग्रन्थों में की है। परन्तु खेद है कि आपने उसे भी श्रावक धर्म की व्यवस्था लिखा है और इस तरह पर अपने पाठकों को धोखा दिया है !!

संकीर्ण हृदयोद्गार ।

(२३) यह त्रिवर्णाचार, यद्यपि, हृदय के संकीर्ण उद्गारों से बहुत कुछ भरा हुआ है और मेरी इच्छा भी थी कि मैं इस शीर्षक के नीचे उनका कुछ विशेष दिग्दर्शन कराता परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है, इससे सिर्फ दो नमूनों पर ही यहाँ सन्तोष किया जाता है। इन्हीं पर से पाठकों को यह मालूम हो सकेगा कि भट्टारकजी की हृदय-संकीर्णता किस हद तक बढ़ी हुई थी और वे जैनसमाज को जैनधर्म की उदार नीति के विरुद्ध किस ओर को ले जाना चाहते थे:—

(क) अन्त्यजैः खनिताः कूपा वापी पुष्करिणी सरः ।
तेषां जलं न तु ग्राह्यं स्नानपानाय च क्वचित् ॥ ३-५६ ॥

इस पद्य में कहा गया है कि 'जो कुएँ, बावड़ी, पुष्करिणी और तालाब अन्त्यजों के—शूद्रों अथवा चमारों आदि के—खोदे हुए हों उनका जल न तो कभी पीना चाहिये और न स्नान के लिये ही ग्रहण करना चाहिये'।

भट्टारकजी का यह उद्गार बड़ा ही विलक्षण तथा हद दर्जे का संकीर्ण है और इससे शूद्रों के प्रति असीम घृणा तथा द्वेष का भाव व्यक्त होता है। इसमें यह नहीं कहा गया कि जिन कूप बावड़ी आदि के जल को अन्त्यजों ने किसी तरह पर छुआ हो उन्हीं को जल स्नान-पान के अयोग्य हो जाता है बल्कि यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिन कूप बावड़ी आदि को अन्त्यजों ने खोदा हो—भले ही उनके वर्तमान जल को उन्होंने कभी स्पर्श भी न किया हो—उन सब का जल हमेशा के लिये स्नानपान के अयोग्य होता है। और इस लिये यदि यह कहा जाय तो वह नाकाफ़ी होगा कि 'भट्टारकजी ने अपने इस वाक्य के द्वारा अन्त्यज मनुष्यों को जलचर जीवों तथा जल को छूने पीने वाले दूसरे तिर्यंचों से ही नहीं किन्तु उस मल, गंदगी तथा कूड़े कर्कट से भी बुरा और गया बीता समझा है जो कुआँ, बावड़ियों तथा तालाबों में बहकर या उड़कर चला जाता है अथवा अनेक त्रस जीवों के मरने-जीने-गलने-सड़ने आदि के कारण भीतर ही भीतर पैदा होता रहता है और जिसकी वजह से उनका जल स्नान पान के अयोग्य नहीं माना जाता'। भट्टारकजी की घृणा का भाव इससे भी कहीं बढ़ा चढ़ा था, और इसी लिये मैं उसे हद दर्जे की या असीम घृणा कहता हूँ। मालूम होता है भट्टारकजी अन्त्यजों के संसर्ग को ही नहीं किन्तु उनकी छायामात्र को अपवित्र, अपशकुन और अनिष्टकारक समझते थे। इसीलिए उन्होंने, एक दूसरे स्थान पर, अन्त्यज का दर्शन हो जाने अथवा उसका शब्द सुनाई पड़ने पर जप को ही छोड़ देने का या यों कहिये कि सामायिक जैसे सदनुष्ठान का त्याग कर उठ जाने का विधान किया है * यह कितने खेद का विषय है॥

---

*यथा—

व्रतच्युतान्त्यजादीनां दर्शने भाषणे श्रुतौ।
क्षुतेऽधोवातगमने जृम्भणे जपमुत्सृजेत्॥ ३-१२५॥

यदि भट्टारकजी की समझ के अनुसार अन्त्यजों का संसर्ग-दोष यहाँ तक बढ़ा हुआ है—इतना अधिक प्रभावशाली और बलवान है—कि उनका किसी कूप बावड़ी आदि की भूमि को प्रारम्भ में स्पर्श करना भी उस भूमि के संसर्ग में आने वाले जल को हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र कर देता है तब तो यह कहना होगा कि जिस जिस भूमि को अन्त्यज लोगों ने कभी किसी तरह पर स्पर्श किया है अथवा वे स्पर्श करते हैं वह सब भूमि और उसके संसर्ग में आने वाले संपूर्ण अन्नादिक पदार्थ हमेशा के लिये दूषित तथा अपवित्र हो जाते हैं और इसलिये त्रैवर्णिकों को चाहिये कि वे उस भूमि पर कभी न चलें और न जल की तरह उन संसर्गी पदार्थों का कभी व्यवहार ही करें। इसके सिवाय, जिन कूप बावड़ी आदि की बाबत सुनिश्चित रूप से यह मालूम न हो सके कि वे किन लोगों के खोदे हुए हैं उनका जल भी, संदिग्धावस्था के कारण, कभी काम में नहीं लाना चाहिये। ऐसी हालत में कैसी विकट स्थिति उत्पन्न होगी और लोकव्यवहार कितना बन्द तथा संकटापन्न हो जायगा उसकी कल्पना तक भी भट्टारकजी के दिमाग में आई मालूम नहीं होती। मालूम नहीं भट्टारकजी उन खेतों की पैदावार—अन्न, फल तथा शाकादिक—को भी ग्राह्य समझते थे या कि नहीं जिनमें मलमूत्रादिक महादुर्गंधमय अपवित्र पदार्थों से भरे हुए खाद का संयोग होता है! अथवा अन्त्यजों का वह भूमि-स्पर्श ही, उनकी दृष्टि में खाद के उस संयोग से गया बीता था!! परंतु कुछ भी हो—भट्टारकजी ऐसा वैसा कुछ समझते हों या न समझते हों और उन्होंने वैसी कोई कल्पना की हो या न की हो—, इसमें संदेह नहीं कि उनका उक्त कथन जैनशासन के अत्यन्त विरुद्ध है।

जो जैनशासन सार्वजनिक प्रेम तथा वात्सल्य भाव की शिक्षा देता है, घृणा तथा द्वेष के भाव को हटा कर मैत्रीभाव सिखलाता है और

अन्त्यजों को भी धर्म का अधिकारी बतला कर उन्हें श्रावकों की कोटि में रखता है उसका, अथवा उन तीर्थंकरों का कदापि ऐसा अनुदार शासन नहीं हो सकता, जिनकी 'समवसरण' नामकी समुदार सभा में ऊँच नीच के भेद भाव को भुला कर मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी तक भी शामिल होते थे और वहाँ पहुँचते ही आपस में ऐसे हिलमिल जाते थे कि अपने अपने जातिविरोध तकको भुला देते थे—सर्प निर्भय होकर नकुल के पास खेलता था और बिल्ली प्रेम से चूहे का आलिंगन करती थी। कितना ऊँचा आदर्श और कितना विश्वप्रेम-मय भाव है ! कहाँ यह आदर्श ? और कहाँ भट्टारकजी का उक्त प्रकार का घृणात्मक विधान ? इससे स्पष्ट है कि भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्म की शिक्षा न होकर उससे बाहर की चीज है। और वह हिन्दू-धर्म से उधार लेकर रक्खा गया मालूम होता है। हिन्दुओं के यहाँ उक्त वाक्य से मिलता जुलता 'यम' ऋषि का एक वाक्य * निम्न प्रकार से पाया जाता है:—

> अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागानि तथैव च।
> एषु स्नात्वा च पीत्वा च पंचगव्येन शुद्ध्यति ॥

इसमें यह बतलाया गया है कि 'अन्त्यजों के खोदे हुए कुओं तथा तालाबों में स्नान करने वाला तथा उनका पानी पीने वाला मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसकी शुद्धि पंचगव्य से होती है—जिसमें गोबर और गोमूत्र भी शामिल होते हैं। सम्भवतः इसी वाक्य पर से भट्टारकजी ने अपने वाक्य की रचना की है। परन्तु यह मालूम नहीं होता कि पंचगव्य से शुद्धि की बात को हटाकर उन्होंने अपने पद्य के उत्तरार्ध को एक दूसरा ही रूप क्यों दिया है ? पंचगव्य से शुद्धि की इस हिन्दू व्यवस्था को तो आपने कई जगह पर अपने ग्रंथ में अपनाया

---

*देखो नारायण विट्ठल-संगृहीत 'आह्निक सूत्रावलि'

है + । शायद आपको इस प्रसंग पर वह इष्ट न रही हो । और यह भी हो सकता है कि हिन्दू-धर्म के किसी दूसरे वाक्य पर से ही आपने अपने वाक्य की रचना की हो अथवा उसे ही ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया हो । परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह व्यवस्था हिन्दुओं से ली गई है—जैनियों के किसी भी माननीय प्राचीन ग्रंथ में यह नहीं पाई जाती—हिंदुओं की ऐसी व्यवस्थाओं के कारण ही दक्षिण भारत में, जहाँ ऐसी व्यवस्थाओं का खास प्रचार हुआ है, अन्त्यज लोगों पर घोर अत्याचार होता है—वे कितनी ही सड़कों पर चल नहीं सकते अथवा मंदिरों के पास से गुजर नहीं सकते, उनकी छाया पड़ जाने पर सचेल-स्नान की जरूरत होती है—और इसीलिये अब उस अत्याचार के विरुद्ध सहृदय तथा विवेकशील उदार पब्लिक की आवाज उठी हुई है।

(ख) अजाश्वगोघ्नमत्स्यघ्नाः कल्पाः कर्मकारकाः।
पापर्धिकः सुरापायी एतैर्वक्तुं न युज्यते ॥ १२० ॥
एतान्किमपि नो देयं स्पर्शनीयं कदापि न ।
न तेषां वस्तुकं ग्राह्यं जनापवाददायकम् ॥ १२१ ॥
—७ वाँ अध्याय ।

इन पद्यों में कहा गया है कि 'जो लोग बकरा बकरी का घात करने वाले (कसाई आदिक) हों, गोकुशी करने वाले (मुसलमान आदि म्लेच्छ) हों, मच्छी मारने वाले (ईसाई या धीवरादिक) हों, शराब का व्यापार करने वाले (कलाल) हों, चमड़े का काम करने वाले (चमार) हों, कोई विशेष पाप का काम करने वाले पातिकी (पापर्धिक) हों, अथवा शराब पीने वाले हों, उनमें से किसी के भी साथ बोलना

+ जैसे रजस्वला स्त्री की चौथे दिन पंचगव्य से—गोबर गोमूत्रादिक से—स्नान करने पर शुद्धि मानी है । यथाः—
चतुर्थे वासरे पंचगव्यैः संस्नापयेच्च ताम् ॥ ८–१०॥

नहीं चाहिये। और इन लोगों को न तो कभी कुछ देना चाहिये, न इनकी कोई चीज लेना चाहिये और न इनको कभी छूना ही चाहिये; क्योंकि ऐसा करना लोकापवाद का—बदनामी का—कारण है।'

पाठकगण! देखा, कैसे सकीर्ण, क्षुद्र और मनुष्यत्व से गिरे हुए उद्गार हैं! व्यक्तिगत घृणा तथा द्वेष के भावों से कितने लबालब भरे हुए हैं!! और जगत् का उद्धार अथवा उसका शासन, रक्षण तथा पालन करने के लिये कितने अनुपयोगी, प्रतिकूल और विरोधी हैं!! क्या ऐसे उद्गार भी धार्मिक उपदेश कहे जा सकते हैं? अथवा यह कहा जा सकता है कि वे जैनधर्म की उस उदारनीति से कुछ सम्बन्ध रखते हैं जिसका चित्र, जैनग्रन्थों में, जैन तीर्थंकरों की 'समवसरण' सभा का नकशा खींच कर दिखलाया जाता है? कदापि नहीं। **ऐसे उपदेश विश्वप्रेम के विघातक और संसारी जीवों की उन्नति तथा प्रगति के बाधक हैं। जैनधर्म की शिक्षा से इनका कुछ भी सम्बंध नहीं है।** जरा गहरा उतरने पर ही यह मालूम हो जाता है कि वे कितने थोथे और निःसार हैं। भला जब उन मनुष्यों के साथ जिन्हें हम समझते हों कि वे बुरे हैं—बुरा आचरण करते हैं—संभाषण भी न किया जाय, उन्हें सदुपदेश न दिया जाय अथवा उनकी भूल न बतलाई जाय तो उनका सुधार कैसे हो सकता है? और कैसे वे सन्मार्ग पर लगाए जा सकते हैं? क्या ऐसे लोगों की ओर से सर्वथा उपेक्षा धारण करना, उनके हित तथा कल्याण की चिन्ता न रखना, और उन्हें सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर न लगाना जैनधर्म की कोई नीति अथवा जैन समाज के लिये कुछ इष्ट कहा जा सकता है? और क्या सच्चे जैनियों की दया-परिणति के साथ उसका कुछ सम्बन्ध हो सकता है? कदापि नहीं। जैनधर्म के तो बड़े २ नेता आचार्यों तथा महान पुरुषों ने अगणित पापियों, भीलों, चांडालों

तथा म्लेच्छों तक को धर्म का उपदेश दिया है, उनके दुख सुख को सुना है, उनका हर तरह से समाधान किया है और उन्हें जैन धर्म में दीक्षित करके सन्मार्ग पर लगाया है। अतः 'ऐसे लोगों से बोलना योग्य नहीं' यह सिद्धान्त बिलकुल जैनधर्म की शिक्षा के विरुद्ध है।

इसी तरह पर 'उन लोगों को कभी कुछ देना नहीं और न कभी उनकी कोई चीज लेना' यह सिद्धांत भी दूषित तथा बाधित है और जैनधर्म की शिक्षा से बहिर्भूत है। क्या ऐसे लोगों के भूख-प्यास की वेदना से व्याकुल होते हुए भी उन्हें अन्न, जल न देना और रोग से पीड़ित होने पर औषध न देना जैनधर्म की दया का कोई अंग हो सकता है? कदापि नहीं। जैनधर्म तो कुपात्र और अपात्र कहे जाने वालों को भी दया का पात्र मानता है और उन सब के लिये करुणा बुद्धि से यथोचित दान की व्यवस्था करता है। जैसाकि पंचाध्यायी के निम्न वाक्यों से भी प्रकट है:—

कुपात्रायाऽप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्योऽभय*दानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥

यह असमर्थ भूखे प्यासों के लिये आहार दान की, व्याधि-पीड़ितों के लिये औषधि-वितरण की, अज्ञानियों के लिये विद्या तथा ज्ञानोपकरण-प्रदान की और भयग्रस्तों के लिये अभयदान की व्यवस्था करता है। उसकी दृष्टि में पात्र, कुपात्र और अपात्र सभी अपनी अपनी योग्यतानुसार इन चारों प्रकार के दान के अधिकारी हैं। इससे भट्टारकजी का उन लोगों को कुछ भी न देने का उद्गार निकालना कोरी अपनी

* पंचाध्यायी की छपी हुई प्रतियों में 'ऽभय' की जगह 'ऽदया' तथा 'दया' पाठ अशुद्ध दिये हैं।

हृदय-संकीर्णता व्यक्त करना है और पाखण्ड का का उपदेश देना है। ऐसी ही हालत उन लोगों से कभी कोई चीज न लेने के उद्गार की है। उनसे अच्छी, उपयोगी तथा उत्तम चीजों का न्यायमार्ग से लेना कभी दूषित नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों में से कितने ही व्यक्ति जंगलों, पहाड़ों, समुद्रों तथा भूगर्भ में से अच्छी उत्तम उत्तम चीजें निकालते हैं; क्या उनसे वे चीजें लेकर लाभ न उठाना चाहिये? क्या ऐसे लोगों द्वारा वन-पर्वतों से लाई हुई उत्तम औषधों का भी व्यवहार न करना चाहिये? और क्या चमारों से उनके बनाये हुए मृत चर्म के जूते भी लेने चाहियें? इसके सिवाय एक मुसलमान, ईसाई अथवा वैसा (उपर्युक्त प्रकार का) कोई हीनाचरण करने वाला हिन्दू भाई यदि किसी औषधालय, विद्यालय अथवा दूसरी लोकोपकारिणी सेवा संस्था को द्रव्यादि की कोई अच्छी सहायता प्रदान करे तो क्या उसकी वह सहायता संस्था के अनुरूप होते हुए भी स्वीकार न करनी चाहिये? और क्या इस प्रकार का सब व्यवहार कोई बुद्धिमानी कहला सकता है? कदापि नहीं। ऐसा करना अनुभवशून्यता का द्योतक और अपना ही नाशक है। संसार का सब काम परस्पर के लेनदेन और एक दूसरे की सहायता से चलता है। एक मच्छीमार सीप में से मोती निकाल कर देता है और बदले में कुछ द्रव्य पाता है अथवा एक चमार से जूता या चमड़ा लिया जाता है तो मूल्यादि के तौर पर उसे कुछ दिया जाता है। इसी तरह पर लोक-व्यवहार प्रवर्तता है। क्या वह मोती जो मांस में ही पैदा होता तथा वृद्धि पाता है उस मच्छीमार का हाथ लगने से अपवित्र या विकृत हो जाता है? अथवा वह चमड़ा चमार के कर-स्पर्श से विगुपित और दूषित बन जाता है? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर उन लोगों से कोई भी चीज न लेने के लिये कहना क्या अर्थ रखता है? यह निरी सङ्कीर्णता और हिमाकत नहीं

तो और क्या है ? भरत चक्रवर्ती जैसे धार्मिक नेता पुरुषों ने तो ऐसे लोगों से भेट में चमरी और कस्तूरी (मुश्क नाफे) जैसी चीजें ही नहीं किंतु कन्याएँ तक भी ली थीं, जिनका उल्लेख आदिपुराण आदि ग्रंथों में पाया जाता है। राजा लोग ऐसे व्यक्तियों से कर और जमींदार लोग अपनी जमीन का महसूल तथा मकान का किराया भी लेते हैं। उनके खेतों की पैदावार भी ली जाती है। अतः भट्टारकजी का उक्त उद्गार किसी तरह भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

अब रही उन लोगों को कभी न छूने की बात, यह उद्गार भी युक्ति-संगत मालूम नहीं होता। जब हम लोग उन लोगों के उपकार तथा उधार में प्रवृत्त होंगे, जो जैनमत का खास उद्देश्य है, तब उन्हें कभी अथवा सर्वथा छुएँ नहीं यह बात तो बन ही नहीं सकती। फिर भट्टारकजी अपने इस उद्गार के द्वारा हमें क्या सिखलाना चाहते हैं वह कुछ समझ में नहीं आता! क्या एक शराबी को शराब के नशे में कूपादिक में गिरता हुआ देख कर हमें चुप बैठे रहना चाहिये और छू जाने के भय से उसका हाथपकड़ कर निवारण न करना चाहिये? अथवा एक चमार को डूबता हुआ देखकर छू जाने के डर से उसका उद्धार न करना चाहिये? क्या एक गोघाती मुसलमान, मच्छीमार, ईसाई या शराब वेचनेवाले हिन्दू के घर में आग लग जाने पर, स्पर्शभय से, हमें उसको तथा उसके बालबच्चों को पकड़ पकड़ कर बाहर न निकालना चाहिये? और क्या हमारा कोई पातिकी भाई यदि अचानक चोट खाकर लहूलुहान हुआ बेहोश पड़ा हो तो हमें उसको उठा कर और उसके घावों को धो पूँछ कर उसकी मर्हम पट्टी न करना चाहिये, इसलिये कि वह पातिकी है और हमें उसको छूना नहीं चाहिये? अथवा एक वैद्य या डाक्टर को अपने कर्तव्य से च्युत होकर ऐसे लोगों की चिकित्सा ही नहीं करनी चाहिये? यदि ऐसी ही शिक्षा है तब तो कहना होगा

कि भट्टारकजी हमें मनुष्यत्व से गिरा कर पशुओं से भी गया बीता बनाना चाहते थे और उन्होंने हमारे उदार दयाधर्म को कलंकित तथा विडम्बित करने में कोई कसर नहीं रक्खी। और यदि ऐसा नहीं है तो उनके उक्त उद्गार का फिर कुछ भी मूल्य नहीं रहता—वह निरर्थक और निःसार जान पड़ता है। मालूम होता है भट्टारकजी ने स्पृश्या-अस्पृश्य की समीचीन नीति को ही नहीं समझा और इसीलिये उन्होंने बिना सोचे समझे ऐसा ऊटपटाँग लिख मारा कि 'इन लोगों को कभी भी न छूना चाहिये'!! मानों ये मनुष्य स्थायी अछूत हों और उस मल से भी गये बीते हों जिसे हम प्रतिदिन छूते हैं !!! मनुष्यों से और इतनी घृणा !!! धन्य है ऐसी समझ तथा धार्मिक बुद्धि को !!!

अन्त में, भट्टारकजी ने जिस लोकापवाद का भय प्रदर्शित किया है वह इस संपूर्ण विवेचन पर से मूर्खों की मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नहीं रह जाता, इसीसे उस पर कुछ लिखना व्यर्थ है। निःसंदेह, जब से इन भट्टारकजी जैसे महात्माओं की कृपा से जैनधर्म के साहित्य में इस प्रकार के अनुदार विचारों का प्रवेश होकर विकार प्रारम्भ हुआ है तब से जैनधर्म को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा है और उसकी सारी प्रगति रुक गई। वास्तव में, ऐसे संकीर्ण तथा अनुदार विचारों के अनुकूल चलने वाले संसार में कभी कोई उन्नति नहीं कर सकते और न उच्च तथा महान् बन सकते हैं।

ऋतुकाल में भोग न करने वालों की गति।

(२४) आठवें अध्याय में भट्टारकजी ने यह तो लिखा ही है कि 'ऋतुकाल में भोग करने वाला मनुष्य परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है और उसके ऐसा सत्कुलीन पुत्र पैदा होता है जो पितरों को स्वर्ग प्राप्त करा देता है' ×। परन्तु ऋतुकाल में भोग न करने वाले

× ऋतुकालेऽप [ऽभि] गामी तु प्राप्नोति परमां गतिम्।
सत्कुलः प्रभवेत्पुत्रः पितॄणां स्वर्गदो मतः ॥ ७८ ॥

इस पद्य का पूर्वार्ध 'संवर्तस्मृति' के पद्य नं० १०० का उत्तरार्ध है।

स्त्री-पुरुषों की जिस गति का उल्लेख किया है वह और भी विचित्र है। आप लिखते हैं:—

> * ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपय [ग] च्छति।
> घोरायां भ्रूणहत्यायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ४९ ॥
> ऋतुस्नाता तु या नारी पतिं नैवोपविन्दति।
> शुनी वृकी शृगाली स्याच्छूकरी गर्दभी च सा ॥ ५० ॥

अर्थात्—जो पुरुष अपनी ऋतुस्नाता-ऋतुकाल में स्नान की हुई-स्त्री के पास नहीं जाता है—उससे भोग नहीं करता है—वह अपने पितरों सहित भ्रूणहत्या के घोर पाप में डूबता है—स्वयं दुर्गति को प्राप्त होता है और साथ में अपने पितरों (माता पितादिक) को भी ले मरता है। और जो ऋतुस्नाता स्त्री अपने पति के साथ भोग नहीं करती है वह मर कर कुत्ती, भेड़िनी, गीदड़ी सूअरी और गधी होती है।

---

* इस पद्य का अर्थ देने के बाद सोनीजी ने एक बड़ा ही विलक्षण 'भावार्थ' दिया है जो इस प्रकार है:—

"भावार्थ-कितने ही लोग ऐसी बातों में आपत्ति करते हैं। इसका कारण यही है कि वे आजकल स्वराज्य के नशे में चूर हो रहे हैं। अतः हरएक को समानता देने के आवेश में आकर उस क्रिया के चाहने वाले लोगों को भड़का कर अपनी ख्याति-पूजा आदि चाहते हैं। उन्होंने धार्मिक विषयों पर आघात करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझ लिया है।"

इस भावार्थ का मूल पद्य अथवा उसके अर्थ से ज़रा भी सम्बंध नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि इसे लिखते हुए सोनीजी खुद ही किसी गहरे-नशे में चूर थे। अन्यथा, ऐसा बिना सिर पैर का महाहास्यजनक 'भावार्थ' कभी भी नहीं लिखा जा सकता था।

पाठकजन ! देखा, कैसी विचित्र व्यवस्था है !! चाहे ही वे दिन पर्व के दिन हों, स्त्रीपुरुषों में से कोई एक अथवा दोनों ही व्रती हों, बीमार हों, अनिच्छुक हों, तीर्थयात्रादि धर्म कार्यों में लगे हों या परदेश में स्थित हों परन्तु उन्हें उस वक्त भोग करना ही चाहिये !! यदि नहीं करते हैं तो वे उक्त प्रकार से घोर पाप के भागी अथवा दुर्गति के पात्र होते हैं !!! इस अन्यायमूलक व्यवस्था का भी कहीं कुछ ठिकाना है !! स्वरुचि की प्रतिष्ठा, सत्संयम के अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य के पालन और योगाभ्यासादि के द्वारा अपने अभ्युदय के यत्न का तो इसके आगे कुछ मूल्य ही नहीं रहता !!! समझ में नहीं आता भ्रूण (गर्भस्थ बालक) के *विद्यमान न होते हुए भी उसकी हत्या का पाप कैसे लग जाता है ?* यदि भोग किया जाता तो गर्भ का रहना सम्भव था, इस संभावना के आधार पर ही यदि भोग न करने से भ्रूणहत्या का पाप लग जाता है तब तो कोई भी त्यागी, जो अपनी स्त्री को छोड़कर ब्रह्मचारी या मुनि हुआ हो, इस पाप से नहीं बच सकता ! और जैनसमाज के बहुत से पूज्य पुरुषों अथवा महान् आत्माओं को घोर पातिकी तथा दुर्गति का पात्र करार देना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जैनधर्म में ब्रह्मचर्य की बड़ी प्रतिष्ठा है और उसके प्रताप से असंख्य व्यक्ति ऋतुकाल में भोग न करते हुए भी पाप से वर्जित रहे हैं, और सद्गति को प्राप्त हुए हैं। जैनदृष्टि से यह कोई लाज़िमी नहीं कि ऋतु-काल में भोग किया ही जाय। हाँ, भोग जो किया जाय तो वह संतान के लिये किया जाय और इस उद्देश्य से ऋतुकाल में ही किया जाना चाहिये, ऐसी उसकी व्यवस्था है। और उसके साथ शक्ति तथा कालादिक की विशेषा-पेक्षा भी लगी हुई है—अर्थात् स्त्री पुरुष यदि उस समय रोगादिक के कारण या और तौर पर वैसा करने के लिये असमर्थ न हों, और वह समय भी कोई पर्वादि वर्ज्य काल न हो तो वे परस्पर कामसेवन कर सकते हैं। दूसरी अवस्था के लिये ऐसा नियम अथवा आज्ञा नहीं है। और यह बात

भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण के निम्न वाक्य से भी ध्वनित होती है:—

संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।
शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥ ३८-१३५ ॥

इससे भट्टारकजी का उक्त सब कथन जैनधर्म के बिलकुल विरुद्ध है और उसने जैनियों की सारी कर्म फिलॉसॉफी को ही उठा कर ताक में रख दिया है। भला यह कहाँ का न्याय और सिद्धान्त है जो पुत्र के भोग न करने पर बेचारे मरे जीते पितर भी भ्रूणहत्या के पाप में घसीटे जाते हैं! मालूम होता है यह भट्टारकजी के अपने ही मस्तिष्क की उपज है; क्योंकि उन्होंने पहले पद्य में, जो 'पराशर' ऋषि का वचन है और 'पराशरस्मृति' के चौथे अध्याय में नं० १५ पर दर्ज है तथा 'मिताक्षरा' में भी उद्धृत मिलता है, इतना ही फेरफार किया है— अर्थात्, उसके अन्तिम चरण 'युज्यते नात्र संशयः' को 'पितृभिः सह मज्जति' में बदला है!! दूसरे शब्दों में यों कहिये कि पराशरजी ने पितरों को उस हत्या के पाप में नहीं डुबोया था, परन्तु भट्टारकजी ने उन्हें भी डुबोना उचित समझा है!!!* ऐसा निराधार कथन कदापि किसी माननीय जैनाचार्य का वचन नहीं हो सकता। दूसरा पद्य भी, जिसमें ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्री की गति

* एक बात और भी नोट किये जाने के योग्य है और वह यह कि हिन्दू ग्रंथों में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले 'देवल' आदि ऋषियों के कितने ही वचन ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें 'स्वस्थः सन्नोपगच्छन्ति' आदि पदों के द्वारा उस पुरुष को ही भ्रूणहत्या के पाप का भागी ठहराया है जो स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में भोग नहीं करता है। और 'पर्ववर्ज्यं' तथा 'पर्वाणि वर्जयेत्' आदि पदों के द्वारा ऋतुकाल में भी भोग के लिये पर्व दिनों की छुट्टी

का उल्लेख है, हिन्दू-धर्म के किसी ग्रंथ से लिया गया अथवा कुछ परिवर्तन करके रक्खा गया मालूम होता है; क्योंकि हिन्दू-ग्रंथों में ही इस प्रकार की आज्ञाएँ प्रचुरता के साथ पाई जाती हैं। पराशरजी ने तो ऐसी स्त्री को सीधा नरक में भेजा है और फिर मनुष्ययोनि में लाकर उसे बार बार विधवा होने का भी फतवा (धर्मादेश) दिया है। यथाः—

> ऋतुस्नाता तु या नारी भर्तारं नोपसर्पति।
> सा मृता नरकं याति विधवा च पुनः पुनः ॥ ४—१४ ॥
>
> —पराशरस्मृति।

इस पद्य का पूर्वार्ध और भट्टारकजी के दूसरे पद्यका पूर्वार्ध दोनों एकार्थवाचक हैं। संभव है इस पद्य पर से ही भट्टारकजी ने अपने पद्य की रचना की हो। उन्हें उस स्त्री को क्रमशः नरक तथा मनुष्य गति में न भेज कर खालिस तिर्यंच गति में ही घुमाना उचित जँचा हो और इसीलिये उन्होंने इस पद्य के उत्तरार्ध को अपनी इच्छानुसार बदला हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि भट्टारकजी ने कुछ दूसरों की नकल करके और कुछ अपनी अक़ल को बीचमें दखल देकर जो ये बेढंगी व्यवस्थाएँ प्रस्तुत की हैं उनका जैनशासन से कुछ भी सम्बंध नहीं है। ऐसी नामाकूल व्यवस्थाएँ कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

अश्लीलता और अशिष्टाचार।

(२५) व्रत, नियम, पर्व, स्वास्थ्य, अनिच्छा और असमर्थता आदि की कुछ पर्वाह न करते हुए, ऋतुकाल में अवश्य भोग करने की व्यवस्था देने वाले अथवा भोग न करने पर दुर्गति का फ़र्मान जारी

की गई है। परन्तु भट्टारकजी ने उन पद्यों को यहाँ संग्रह नहीं किया और न उनका आशय ही अपने शब्दों में प्रकट किया। इससे यह और भी साफ़ हो जाता है कि उन्होंने ऋतुकाल में भोग न करने वालों को हर हालत में भ्रूणहत्या का अपराधी ठहराया है।।

करने वाले भट्टारकजी ने, उसी अध्याय में, भोग की कुछ विधि भी बतलाई है। उसमें, अन्य बातों को छोड़ कर, आप लिखते हैं '**प्रदीपे मैथुनं चरेत्**'—दीपप्रकाश में मैथुन करना चाहिये—और उसकी बाबत यहाँ तक ज़ोर देते हैं कि—

> दीपे नष्टे तु यः सङ्गं करोति मनुजो यदि।
> यावज्जन्मदरिद्रत्वं लभते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

अर्थात्—दीपप्रकाश के न होते हुए, अँधेरे में, यदि कोई मनुष्य स्त्रीप्रसङ्ग करता है तो वह जन्म भर के लिये दरिद्री हो जाता है इस में सन्देह नहीं है *। इसके सिवाय, आप भोग के समय परस्पर क्रोध, रोष, भर्त्सना और ताड़ना करने तथा एक दूसरे की उच्छिष्ट (जूठन) खाने में कोई दोष नहीं बतलाते ‡। साथ ही, पान चबाने को भोग का आवश्यक अंग ठहराते हैं—भोग के समय दोनों का मुख ताम्बूल से पूर्ण होना चाहिये ऐसी व्यवस्था देते हैं—और यहाँ तक लिखते हैं कि वह स्त्री भोग के लिये त्याज्य है जिसके मुख में पान नहीं †। और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्टारकजी ने उन स्त्री-पुरुषों अथवा श्रावक-श्राविकाओं को परस्पर कामसेवन का अधिकारी ही नहीं समझा

---

* सन्देह की बात तो दूर रही, यह तो प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध मालूम होता है; क्योंकि कितने ही व्यक्ति लज्जा आदि के वश होकर या वैसे ही सोते से जाग कर अन्धेरे में काम सेवन करते हैं परन्तु वे दरिद्री नहीं देखे जाते। कितनों ही की धन-सम्पन्नता तो उसके बाद प्रारम्भ होती है।

‡ पादलग्नं तनुश्चैव ह्युच्छिष्टं ताडनं तथा।
कोपो रोषश्च निर्भर्त्स्नः संयोगे न च दोष भाक् ॥ ३८ ॥

† ताम्बूलेन मुखं पूर्णं...कृत्वा योगं समाचरेत् ॥ ३९ ॥
विना ताम्बूलवदनां...संयोगे च परित्यजेत् ॥ ४० ॥

जो रात्रि को भोजनपान न करते हों अथवा जिन्होंने संयमादिक की किसी दृष्टि से पान का खाना ही छोड़ रक्खा हो !! परन्तु इन सब बातों को भी छोड़िये, इस विधि में चार श्लोक खासतौर से उल्लेखनीय हैं—भट्टारकजी ने उन्हें देने की खास ज़रूरत समझी है—और वे इस प्रकार हैं:—

शुक्लवानुपविष्टस्तु शय्यायामभिसम्मुखः ।
संस्मृत्य परमात्मानं पत्न्या जंघे प्रसारयेत् ॥ ४१ ॥
अलोमशां च सद्वृत्तामनार्द्रां सुमनोहराम् ।
योनिं स्पृष्ट्वा जपेन्मंत्रं पवित्रं पुत्रदायकम् ॥ ४२ ॥
ओष्ठावाकर्षयेद्देहैरन्योन्यमविलोकयेत् ।
स्तनौ धृत्वा तु पाणिभ्यामन्योन्यं चुम्बयेन्मुखम् ॥ ४४ ॥
बलं देहीति मंत्रेण योन्यां शिश्नं प्रवेशयेत् ।
योनेस्तु किंचिदधिकं भवेच्छिश्नं बलान्वितम् ॥ ४५ ॥

इन श्लोकों के बिना भट्टारकजी की भोग-विधि शायद अधूरी ही रह जाती ! और लोग समझ ही न पाते कि भोग कैसे किया करते हैं !! अस्तु; इन सब श्लोकों में क्या लिखा है उसे बतलाने की हिन्दी और मराठी के दोनों अनुवादकर्ताओं में से किसी ने भी कृपा नहीं की—सिर्फ पहले दो पद्यों में प्रयुक्त हुए 'शुक्लवान्', 'उपविष्टस्तु शय्यायां', 'संस्मृत्य परमात्मानं', 'जपेन्मंत्रं पुत्रदायकं' पदों में से सबका अथवा कुछ का अर्थ दे दिया है और बाकी सब छोड़कर लिख दिया है कि इन श्लोकों में बतलाई हुई विधि अथवा क्रिया का अनुष्ठान किया जाना चाहिये। पं० पन्नालालजी सोनी की अनुवाद-पुस्तक में एक नोट भी लगा हुआ है, जिसमें लिखा है कि—

"अश्लीलता और अशिष्टाचार का दोष आने के सबब ४२ वें *श्लोक

---

* ४१ वें श्लोक में कही गई 'पत्न्या जंघे प्रसारयेत्' जैसी क्रिया का भी तो भाषानुवाद नहीं किया गया !

में कही गई क्रियाओं का भाषानुवाद नहीं किया गया है। इसी प्रकार ४४ वें और ४५वें श्लोक का अर्थ भी नहीं लिखा गया है"

मराठी अनुवादकर्ता पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे ने भी ऐसा ही आशय व्यक्त किया है—आप इन श्लोकों का अर्थ देना मराठी शिष्टाचार की दृष्टि से अयोग्य बतलाते हैं और किसी संस्कृतज्ञ विद्वान से उनका अर्थ मालूम कर लेने की जिज्ञासुओं को प्रेरणा करते हैं। इस तरह पर दोनों ही अनुवादकों ने अपने अपने पाठकों को उस धार्मिक (!) विधि के ज्ञान से कोरा रक्खा है जिसकी भट्टारकजी ने शायद बड़ी ही कृपा करके अपने ग्रंथ में योजना की थी ! और अपने इस व्यवहार से यह स्पष्ट घोषणा की है कि भट्टारकजी को ये श्लोक अपने इस ग्रंथ में नहीं देने चाहियें थे।

यद्यपि इन अनुवादकों ने ऐसा लिखकर अपना पिंड छुड़ा लिया है परंतु एक समालोचक का पिंड वैसा लिखकर नहीं छूट सकता—उसका कर्तव्य भिन्न है—इच्छा न होते हुए भी कर्तव्यानुरोध से उसे अपने पाठकों को थोड़ा बहुत कुछ परिचय देना ही होगा, जिससे उन्हें यह मालूम हो सके कि इन श्लोकों का कथन क्या कुछ अश्लीलता और अशिष्टता को लिये हुए है। साथ ही, उस पर से भट्टारकजी की रुचि तथा परिणति आदि का भी वे कुछ बोध प्राप्त कर सकें। अतः नीचे उसीका यत्न किया जाता है—

पहले श्लोक में भट्टारकजी ने यह बतलाया है कि 'भोग करने वाला मनुष्य भोजन किये हुए हो, वह शय्या पर स्त्री के सामने बैठे और परमात्मा का स्मरण करके स्त्री की दोनों जाँघें पसारे'। फिर दूसरे श्लोक में यह व्यवस्था दी है कि 'वह मनुष्य उस स्त्री की योनि को छूए और वह योनि बालों से रहित हो, अच्छी देदीप्यमान हो, गीली न हो तथा भले प्रकार से मन को हरने वाली हो, और उसे छूकर पुत्र के देने वाले पवित्र मंत्र का जाप करे।' इसके आगे ग्रंथ में योनिस्थ

देवता की अभिषेक-पुरस्सर पूजा वाला वह मंत्र दिया है जो 'प्रतिष्ठादि विरोध' नामक प्रकरण के (ज) भाग में उद्धृत किया जा चुका है, और लिखा है कि 'इस मंत्र को पढ़कर गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घी, कुश और जल से योनि का अच्छी तरह प्रक्षालन करना चाहिये और फिर उसके ऊपर चंदन, केसर तथा कस्तूरी आदि का लेप कर देना चाहिये' * । इसके बाद 'योनिं पश्यन् जपेन्मंत्रान्' नाम का ४३ वाँ पद्य दिया है, जिसमें उस चंदनादि से चर्चित योनि को देखते हुए + पंच परमेष्ठिवाचक कुछ मंत्रों के जपने का विधान किया है और फिर उन मंत्रों तथा एक आलिंगन मंत्र को देकर उक्त दोनों श्लोक नं० ४४, ४५ दिये हैं । इन श्लोकों द्वारा भट्टारकजी ने यह आज्ञा की है कि 'स्त्री पुरुष दोनों परस्पर मुँह मिला कर एक दूसरे के होठों को अपने होठों से खींचें, एक दूसरे को देखें और हाथों से छातियाँ पकड़ कर एक दूसरे का मुखचुम्बन करें । फिर 'बलं देहि' इत्यादि मंत्र को पढ़ कर योनि में लिंग को दाखिल किया जाय और वह लिंग योनि से कुछ बड़ा तथा बलवान् होना चाहिये × ।'

---

* यथा-"इति मंत्रेण गोमय-गोमूत्र-क्षीर-दधि-सर्पिः-कुशोदकैर्योनिं संप्रक्षाल्य श्रीगन्धकुंकुमकस्तूरिकाद्यनुलेपनं कुर्यात् ।"

+ 'योनिं पश्यन्' पदों का यह अर्थ भी अनुवादकों ने नहीं दिया।

× इसके बाद दोनों की संतुष्टि तथा इच्छापूर्ति पर योनि में वीर्य के सींचने की बात कही गई है, और यह कथन दो पद्यों में है, जिनमें पहला 'संतुष्टो भार्यया भर्ता' नाम का पद्य मनुस्मृति का वाक्य है और दूसरा पद्य निम्न प्रकार है—

पाठकजन ! देखा, कितनी सभ्यता और शिष्टता को लिये हुए कथन है ! एक 'धर्मरसिक' नाम धरान वाले ग्रंथ के लिये कितना उपयुक्त है !! और अपने को 'मुनि' 'गणी' तथा 'मुनीन्द्र' तक लिखने वाले भट्टारकजी को कहाँ तक शोभा देता है !!! खेद है भट्टारकजी को विषय-सेवन का इस तरह पर खुला उपदेश देते और स्त्री-सभोग की स्पष्ट विधि बतलाते हुए ज़रा भी लज्जा तथा शरम नहीं आई !! जिन बातों की चर्चा करने अथवा कहने सुनने में गृहस्थों तक को संकोच होता है उन्हें वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की मूर्ति बने हुए मुनिमहाराजजी बड़े चाव से लिखते हैं यह सब शायद कलियुग का ही माहात्म्य है !!! मुझे तो भट्टारकजी की इस रचनामय लीला को देखकर कविवर भूधरदासजी का यह वाक्य याद आजाता है—

राग उदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गँवाई ।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवन की सुघराई ॥
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई ।
अंध असूझन की अँखियान में झोंकत हैं रज रामदुहाई !!

सचमुच ही ऐसे कुकवियों, धर्माचार्यों अथवा गोमुखव्याघ्रों से राम बचावे !! वे स्वयं तो पतित होते ही हैं किन्तु दूसरों को भी पतन की ओर ले जाते हैं !!! उनकी निष्ठुरता, निःसन्देह, अनिर्वचनीय है । भट्टारकजी के इन उद्गारों से उनके हृदय का भाव झलकता है—कुरुचि तथा लम्पटता पाई जाती है—और उनके ब्रह्मचर्य की थाह का

इच्छापूर्वं भवेद्यावदुभयोः कामयुक्तयोः ।
रेतः सिंचेत्तदा योन्यां तेन गर्भं बिभर्ति सा ॥ ४७ ॥

४१ वें पद्य का उत्तरार्ध और इस पद्य का उत्तरार्ध दोनों मिल कर हिन्दुओं के 'आचारार्क' ग्रंथ का एक पद्य होता है, जिसे संभवतः यहाँ विभक्त करके रक्खा गया है ।

किनना ही पता चल जाता है। जो लोग विवाह-विषय पर सम्मति दे देने से ही ब्रह्मचर्य में दोष या अतीचार का लगना बतलाते हैं वे, मालूम नहीं, ऐसी भोगप्रेरणा को लिये हुए अश्लील उद्गार निकालने वाले इन भट्टारकजी के ब्रह्मचर्य-विषय में क्या कहेंगे ? और उन्हें श्रावकों की दूसरी प्रतिमा में भी स्थान प्रदान करेंगे या कि नहीं ? अस्तु; वे लोग कुछ ही कहें अथवा करें, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भट्टारकजी का यह सब विधि-विधान, जिसे वे 'कामयज्ञ' बतलाते हैं और जिसके अनुष्ठान से 'संसार समुद्र से पार तारने वाला पुत्र' पैदा होगा ऐसा लालच दिखलाते हैं*, जैनशिष्टाचार के बिलकुल विरुद्ध है और जैनसाहित्य को कलंकित करने वाला है। जान पड़ता है, भट्टारकजी ने ऐसे दने में प्रायः वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों का अनुकरण किया है और उनकी 'योनिपूजा' जैसी घृणित शिक्षाओं को जैन समाज में फैलाना चाहा है। अतः आपका यह सब प्रयत्न किसी तरह भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि २५ वें पद्य में जो 'बलं देहीति मंत्रेण' पाठ दिया है उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उसमें जिस मंत्र का उल्लेख किया गया है वह 'बलं देहि' शब्दों से प्रारंभ होता है। परन्तु भट्टारकजी ने उक्त पद्य के अनन्तर जो मंत्र दिया है वह 'बलं देहि' अथवा 'ॐ बलं देहि' जैसे शब्दों से प्रारंभ नहीं होता, किन्तु 'ॐ ह्रीं शरीरस्थायिनो देवता मां बलं ददतु स्वाहा' इस रूप को लिये हुए है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि भट्टारकजी ने उस मंत्र को बदल

---

* यथा:—

कामयज्ञमिति प्राहुर्गृहिणां सर्वदैव च ।
अमने लभते पुत्रं संसारार्णवतारकम् ॥ २१ ॥

कर रक्खा है जिसकी बाबत यह बहुत कुछ संभव है कि वह वाममार्गियों अथवा शाक्तिकों का मंत्र हो और खोज करने पर उनके किसी ग्रंथ में मिल जाय। ऐसी हालत में उक्त पद्य भी—अकेला अथवा दूसरे पद्य के साथ में—उसी ग्रंथ से लिया गया होना चाहिये। मालूम होता है, उसे देते हुए, भट्टारकजी को यह ख़याल नहीं रहा कि जब हम पद्य में उल्लेखित मंत्र को नहीं दे रहे हैं तब हमें इसके 'चतुं द्वेह्यानि' शब्दों को भी बदल देना चाहिये। परन्तु भट्टारकजी को इतनी सूझ बूझ कहाँ थी? और इसलिये उन्होंने पद्य के उस पाठ को न बदल कर मंत्र को ही बदल दिया है!!!

त्याग या तलाक़।

(२६) ग्यारहवें अध्याय में, विवाहविधि को समाप्त करते हुए, भट्टारकजी लिखते हैं:—

*अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पंचदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्॥ १९७॥

अर्थात्—जिस स्त्री के लगातार कोई संतान न हुई हो उसे दसवें वर्ष, जिसके कन्याएँ ही उत्पन्न होती रही हों उसे बारहवें वर्ष, जिसके

---

* यह पद्य किसी हिन्दू ग्रंथ का जान पड़ता है। हिन्दुओं की 'नवरत्न विवाह पद्धति' में भी यह संगृहीत मिलता है। अस्तु; इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'त्यजेत्' पद का अर्थ दिया है— 'दूसरा विवाह करे' और 'अप्रियवादिनी' के पहले एक विशेषण अपनी तरफ़ से जोड़ा है 'अपुत्रवती'! साथही अप्रियवादिनी का अर्थ 'व्यभिचारिणी' बतलाया है!! और ये सब बातें आपके अनुवाद की विलक्षणता को सूचित करती हैं। इसके सिवाय आपने त्यागावधि के वर्षों की गणना प्रथम रजोदर्शन के समय से की है! यह भी कुछ कम विलक्षणता नहीं है।

बच्चे मर जाते हों उसे पंद्रहवें वर्ष और जो अप्रियवादिनी (कटु भाषण करने वाली) हो उसे फ़ौरन (तत्काल ही) त्याग देना चाहिये ।

भट्टारकजी के इस 'त्याग' के दो अर्थ किये जा सकते हैं—एक 'संभोगत्याग' और दूसरा 'वैवाहिक सम्बंधत्याग'। 'संभोगत्याग' अर्थ भट्टारकजी के पूर्व कथन की दृष्टि से कुछ संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ ऋतुमती तथा ऋतुस्नाता तो होती ही हैं और ऋतुकाल में ऋतुस्नाताओं से भोग न करने पर भट्टारकजी ने पुरुषों को भ्रूणहत्या के घोर पाप का अपराधी ठहराया है और साथ में उनके पितरों को भी घसीटा है; ऐसी हालत में उनके इस वाक्य से 'संभोगत्याग' का आशय नहीं लिया जासकता—वह आपत्ति के योग्य ठहरता है—तब दूसरा 'वैवाहिक सम्बन्ध त्याग' अर्थ ही यहाँ ठीक बैठता है, जिसे 'तलाक़' Divorce कहते हैं और जो उक्त पाप से मुक्ति दिला सकता अथवा सुरक्षित रख सकता है। इस दूसरे अर्थ की पुष्टि इससे भी होती है कि भट्टारकजी ने संभोगत्याग की बात को मतान्तर † रूप से—दूसरों के मत के तौर पर (अपने मत के तौर पर नहीं)—अगले पद्य में दिया है। और वह पद्य इस प्रकार है:—

> व्याधिता स्त्रीप्रजा वन्ध्या उन्मत्ता विगतार्तवा ।
> अदुष्टा लभते त्यागं तीर्थतो न तु धर्मतः ॥१९८॥

इस पद्य में बतलाया है कि 'जो स्त्री (चिरकाल से) रोगपीड़ित हो, जिसके केवल कन्याएँ ही पैदा होती रही हों, जो वन्ध्या हो, उन्मत्त हो, अथवा रजोधर्म से रहित हो (रजस्वला न होती हो) ऐसी स्त्री यदि दुष्ट स्वभाव वाली न हो तो उसका मतलब कामतीर्थ से त्याग होता है—वह संभोग के लिये त्याज्य ठहरती है—परन्तु धर्म से नहीं—धर्म से उसका पत्नीसम्बंध बना रहता है।'

---

† मराठी अनुवाद-पुस्तक में पद्य के ऊपर 'मतान्तरं' और अनुवाद "दुसरें मत" दिया है परन्तु सोनीजी अपनी अनुवाद पुस्तक में उसे बिलकुल ही उड़ा गये हैं!

इस पद्य से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इसमें ऐसी स्त्री को धर्म से न त्यागने की अथवा उसके साथ इतनी रिआयत करने की जो बात कही गई है उसका मूल कारण उस स्त्री का दुष्टा न होना है और इसलिये यदि वह दुष्टा हो—अप्रियवादिनी हो अथवा भट्टारकजी के एक दूसरे* पद्यानुसार अति प्रचण्डा, प्रबला, कपालिनी, विवादकर्त्री, अर्थचोरिणी, आक्रन्दिनी और सप्तगृहप्रवेशिनी जैसी कोई हो, जिसे भी आपने त्याग देने को लिखा है—तो वह धर्म से भी त्याग किये जाने की अथवा यों कहिये कि तलाक़ की अधिकारिणी है, इतनी बात इस पद्य से भी साफ़ सूचित होती है। चाहे वह किसी का भी मत क्यों न हो।

---

* वह पद्य इस प्रकार है:—

अतिप्रचण्डां प्रबलां कपालिनीं, विवादकर्त्री स्वयमर्थचोरिणीम्।
आक्रन्दिनीं सप्तगृहप्रवेशिनीं, त्यजेच्च भार्यां दशपुत्रपुत्रिणीम् ॥३३॥

इस पद्य में यह कहा गया है कि 'जो विवाहिता स्त्री अति प्रचण्ड हो, अधिक बलवती हो, कपालिनी (दुर्गा) हो, विवाद करने वाली हो, धनादिक वस्तुएँ चुराने वाली हो, ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने अथवा रोने वाली हो, और सात घरों में—घरघर में—डोलने वाली हो, वह यदि दस पुत्रों की माता भी हो तो भी उसे त्याग देना चाहिये।'

इस पद्य के अनुवाद में सोनीजी ने 'भार्या' का अर्थ 'कन्या' ग़लत किया है और इसलिये आपको फिर 'दशपुत्रपुत्रिणीम्' का अर्थ 'आगे चलकर दशपुत्रपुत्री वाली भी क्यों न हो' ऐसा करना पड़ा जो ठीक नहीं है। 'भार्या' विवाहिता स्त्री को कहते हैं। वास्तव में यह पद्य ही यहाँ असंगत जान पड़ता है। इसे त्याग विषयक उक्त दोनों पद्यों के साथ में देना चाहिये था। परन्तु 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले भट्टारकजी इधर उधर से उठाकर रक्खे हुए पद्यों की तरतीब देने में इतने कुशल, सावधान अथवा विवेकी नहीं थे। इसी से उनके ग्रंथ में जगह जगह ऐसी त्रुटियाँ पाई जाती हैं और यह बात पहले भी ज़ाहिर की जा चुकी है।

इस तरह पर भट्टारकजी ने स्त्रियों को त्याग या तलाक़ देने की यह व्यवस्था की है। दक्षिण देश की कितनी ही हिन्दू जातियों में तलाक़ की प्रथा प्रचलित है और कुछ पुनर्विवाह वाली जैनजातियों में भी उसका रिवाज है; जैसा कि १ ली फ़रवरी सन् १९२८ के 'जैनजगत्' अंक नं० ११ से प्रकट है। मालूम होता है भट्टारकजी ने उसीको यहाँ अपनाया है और अपनी इस योजनाद्वारा संपूर्ण जैन-समाज में उसे प्रचारित करना चाहा है। भट्टारकजी का यह प्रयत्न कितना निन्दित है और उनकी उक्त व्यवस्था कितनी दोषपूर्ण, एकांगी तथा न्याय-नियमों के विरुद्ध है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं। सहृदय पाठक सहज ही में उसका अनुभव कर सकते हैं। हाँ, इतना ज़रूर बतलाना होगा कि जिस स्त्री को त्याग या तलाक़ दिया जाता है वह, वैवाहिक सम्बन्ध के विच्छेद होने से, अपना पुनर्विवाह करने के लिये स्वतंत्र होती है। और इसलिये यह भी कहना चाहिये कि **भट्टारकजी ने अपनी इस व्यवस्था के द्वारा ऐसी 'त्यक्ता' स्त्रियों को अपने पति की जीवितावस्था में पुनर्विवाह करने की भी स्वतंत्रता या परवानगी दी है!!** अस्तु; पुनर्विवाह के सम्बन्ध में भट्टारकजी ने और भी कुछ आज्ञाएँ जारी की हैं जिनका प्रदर्शन अभी आगे 'स्त्री-पुनर्विवाह' नाम के एक स्वतंत्र शीर्षक के नीचे किया जायगा।

स्त्री-पुनर्विवाह।

(२७) 'तलाक़' की व्यवस्था देकर उसके फलस्वरूप परित्यक्ता स्त्रियोंको पुनर्विवाह की स्वतन्त्रता देने वाले भट्टारकजी ने, कुछ हालतों में, अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी पुनर्विवाहकी व्यवस्थाकी है, जिसका खुलासा* इस प्रकार है:—

* यद्यपि इस विषय में भट्टारकजी के व्यवस्था-वाक्य बहुत कुछ स्पष्ट हैं फिर भी चूँकि इस त्रिवर्णाचार के अक्त कुछ अंशिलों ने, उन्हें अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल न पाकर अथवा ग्रंथ के प्रचार में विशेष बाधक समझकर उन पर पर्दा डालने की अधन्य चेष्टा की है—अतः यहाँ

ग्यारहवें अध्याय में भट्टारकजी ने, वाग्दान, प्रदान, वरण, पाणि-ग्रहण और सप्तपदी को विवाह के पाँच अंग बतलाकर, उनकी क्रमशः सामान्यविधि बतलाई है और फिर 'विशेषविधि' दी है, जो अंकुरारोपण से प्रारम्भ होकर '**मनोरथाः सन्तु**' नामक उस आशीर्वाद पर समाप्त होती है जो सप्तपदी के बाद-पूर्णाहुति आदि के भी अनन्तर-दिया हुआ है। इसके पश्चात् उन्होंने हिन्दुओं के '**चतुर्थी कर्म**' को अपनाने का उपक्रम किया है और उसे कुछ जैन का रूप दिया है। चतुर्थी-कर्म विवाह की चतुर्थ रात्रि के कृत्य को कहते हैं *। हिन्दुओं के यहाँ वह विवाह का एक देश अथवा अंग माना जाता है। चतुर्थी-कर्म से पहले वे स्त्री को 'भार्या' संज्ञा ही नहीं देते। उनके मतानुसार दान के समय तक '**कन्या**', दान के अनन्तर '**वधू**', पाणिग्रहण हो जाने पर '**पत्नी**' और चतुर्थी-कर्म के पश्चात् '**भार्या**' संज्ञा की प्रवृत्ति होती है। इसी से वे भार्या को '**चातुर्थ कर्मणी**' कहते हैं, जैसा कि मिश्र निवाहूराम विरचित उनके विवाहपद्धति के निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

चतुर्थीकर्मणः प्राक् तस्या भार्यत्वमेव न संप्रवृत्तम्। विवाहैकदेशत्वाच्चतुर्थीकर्मणः। इतिसूत्रार्थः। तस्माद्भार्या चातुर्थकर्मणीति स्मृतिवचनात्। "आप्रदानात् भवेत्कन्या प्रदानानन्तरं वधूः॥ पाणिग्रहे तु पत्नी स्याद्भार्या चातुर्थकर्मणीति॥"

और इसीलिये उनकी विवाहपुस्तकों में '**चतुर्थीकर्म**' का पाठ लगा रहता है जो '**ततश्चतुर्थ्यामपररात्रे चतुर्थीकर्म**' इस प्रकार के

पर उनका कुछ विशेष खुलासा अथवा स्पष्टीकरण कर देना ही उचित तथा ज़रूरी मालूम हुआ है। इसलिये यह उसका प्रयत्न किया जाता है।

* वामन शिवराम ऐप्टे के कोश में भी ऐसा ही लिखा है। यथा:—
"The Ceremonies to be performed on the fourth night of the marriage" और इससे 'चतुर्थी' का अर्थ होता है The fourth night of the marriage विवाह की चतुर्थ रात्रि।

वाक्य के साथ प्रारम्भ होता है। भट्टारकजी ने विवाह रात्रि के बाद से—उस रात्रि के बाद से जिस रात्रि को पंचाङ्गविवाह की सम्पूर्ण विधि समाप्त हो जाती है—चतुर्थीकर्म का उपक्रम करते हुए, प्रति दिन सुबह के वक्त पौष्टिक कर्म और रात्रि के समय शांतिहोम करने की व्यवस्था की है, और फिर चौथे दिन के प्रभातादि समयों का कृत्य बतलाया है, जिसमें विवाहमंडप के भीतर पूजनादि सामग्री से युक्त तथा अनेक चित्रादिकों से चित्रित एक महामण्डल की नवीन रचना, वधू का नूतन कलश स्थापन, संध्या के समय वधू-वर का वहाँ गीत वादित्र के साथ स्नान और उन्हें गंधाक्षतप्रदान भी शामिल है *। इसके बाद संक्षेप में चतुर्थरात्रि का कृत्य दिया है और उसमें मुख्यतया नीचे लिखी क्रियाओं का उल्लेख किया है—

(१) ध्रुवतारा निरीक्षण के अनन्तर सभा की पूजा (२) भगवान का अभिषेक-पुरस्सर पूजन तथा होम (३) होम के बाद पत्नी के गले में वर की दी हुई सोने की ताली का मंत्रपूर्वक बाँधा जाना (४) मंत्र पढ़कर दोनों के गले में सम्बंधमाला का डाला जाना (५) नागों का तर्पण अथवा उन्हें बलि का दिया जाना (६) अग्नि पूजनादि के अनंतर वर का पान बीड़ा लेकर वधूसहित नगर को देखने जाना (७) तत्पश्चात् होम के शेष कार्य को पूरा करके पूर्णाहुति का दिया जाना (८) होम की भस्म का वर वधू को वितरण

---

* इस कथन के कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

"ततः प्रभृति नित्यं च प्रभाते पौष्टिकं मतम्।
निशीथे शान्ति होमेऽपि चतुर्थे नागतर्पणम् ॥ १४८ ॥
तद्दिने [हि] च प्रभाते च शुद्धमण्डपयोः पृथक् । सम्मार्जनं" ॥१४९॥
"नवीन घटं·····संस्थापयेच्चारु पत्नी ॥ १५३ ॥
"सचित्रचित्रमेतन्महामण्डलं चतुःपूजार्चनायोग्य सद्द्रव्यपूर्णम् ॥१५८॥
"सरागेऽपि संध्याभिधाने दशीह वरस्यापि वध्वाः शुभस्नानकं च" ।
इदं चासनं युज्यते चादरेण सुमांगल्य वादित्रगीतादिपूर्वम् ॥१६०॥
"ॐ सद्द्रव्यगात्रस्य गंधवाधाधिकृच्चकं सुगंधं वो भवीति···
संधारिताक्षता अप्येवं भवन्तु ।

(९) सुवर्णदान (१०) तदनंतर कंकण खोलकर ग्राम की प्रदक्षिणा करना (११) प्रदक्षिणा से निवृत्त होकर सुखपूर्वक दुग्धपान तथा संभोगादिक करना और फिर अपने ग्राम को चले आना।

चतुर्थ रात्रि की इन क्रियाओं से सम्बध रखने वाले कुछ पदवाक्य इसप्रकार हैं:—

"रात्रौ ध्रुवतारादर्शनानन्तरं विद्वद्विशिष्ट बन्धुजनैश्च समापूजा। चतुर्थे(र्थी) दिनेवधूवरयोरपि महास्नानानि च स्नपनार्चा होमादिकं कृत्वा तालीबंधनं कुर्यात्। तद्यथा—'वरेण दत्ता सौवर्णी'''ताली''' ॥१६१॥

"ॐ एतस्याः पाणिगृहीत्यास्तालीं बध्नामि इयंनित्यमवतंसलक्ष्मीं विदध्यात्।

"ॐ भार्यापत्योरेतयोः परिणीतिं प्राप्तयोस्तुरीये घस्रे नक्तं वेलायां जैताल्पर्यायाश्च तौ सम्बध्येते सम्बन्धमाला अतोलब्धि,बद्धपत्यानां द्राधीयं आयुश्चापि भूयात्।

"सुहोमावसानेक: पुन्नंगलीयं ससूत्रं क्रमाद् बन्धयेत्कण्ठदेशे।
स्वसम्बन्धमालापरिवेष्टनं च, सुकर्पूरगंधार्पयोर्लेपनं च ॥ १६३ ॥
वधूभिर्बुधासार्धपात्राभिराभिः, प्रवेशो वरस्यैव तद्वत्क वध्वाः।
शुभे मण्डपं दक्षिणीकृत्य न वै, महायाश्च नागस्य साक्षात्क्षतिं च॥ १६४॥
"समितसमारोपणं पूर्वकं तथा, हुताशपूजावसरार्चनं मुदा।
गृहीतसीटी च वरो वधूयुतो, विलोकनार्थं स्व (च) पुरं व्रजेत्‌-
प्रभोः ॥ १६७ ॥

ततः शेषहोमं कृत्वा पूर्णाहुतिं कुर्यात्।
"ॐ रत्नत्रयार्चनमयोत्तम होम भूतिः''' ॥ १६८ ॥ इतिभस्मप्रदानमंत्रः।
"हिरण्यगर्भस्य''' ॥ १६९–१७१ ॥ इति स्वर्णदानमंत्रः ॥
"तदनन्तरं कंकणमोचनं कृत्वा महाशोभया ग्राम प्रदक्षिणीकृत्य पयः पावन निधुवनादिकं सुखेन कुर्यात्। स्वग्रामं गच्छेत्।

'तदनंतरं' नाम के अन्तिम वाक्य के साथ ही चतुर्थी (चतुर्थ-रात्रि) का विवक्षित सामान्य कृत्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद भट्टारकजी के हृदय में इस चतुर्थीकृत्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष सूचनाएँ कर देने की भी इच्छा पैदा हुई और इसलिये उन्होंने 'स्वग्रामं

गच्छेत्' के अनंतर ही 'अथविशेषः' लिखकर उसे पाँच* पद्यों में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार हैं:—

विवाहे दम्पतीस्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सहशय्यासनाशिनौ ॥ १७२ ॥
वध्वासहैव कुर्वीत निवासं श्वसुरालये।
चतुर्थं दिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥ १७३ ॥
चतुर्थीमध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत्।
दत्तामपि पुनर्दद्यात्पिताऽन्यस्मै विदुर्बुधाः ॥ १७४॥
प्रवरैक्यादिदोषाःस्युः पतिसंगादधो यदि।
दत्तामपि हरेद्दद्यादन्यस्मा इति केचन ॥ १७५ ॥
कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः।
कस्मिंश्चिद्देशे इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन ॥ १७६ ॥

इन पद्यों द्वारा भट्टारकजी ने यह प्रतिपादन किया है कि—'विवाह होजाने पर दम्पती को—वर वधू दोनों को—तीन रात तक (विवाह रात्रि को शामिल करके) ब्रह्मचारी रहना चाहिये—परस्पर संभोग अथवा काम क्रीडादिक न करना चाहिये—इसके बाद वधू को अलंकृत किया जाय और फिर दोनों का शयन, आसन तथा भोजन एक साथ होवे ॥१७२॥ वर को वधू के साथ ससुराल में ही निवास करना चाहिये‡ परंतु कुछ विद्वानों का यह कहना है (जिस पर

---

* एक छठा पद्य और भी है जिसका चतुर्थीक्रिया के साथ कुछ सम्बंध नहीं है और जो प्रायः असंगतसा जान पड़ता है। इसके बाद 'विवाहानन्तरं गच्छेत्सभार्यः स्वस्य मन्दिरम्' नामक पद्य से और फिर घर में वधू प्रवेश के कथन से 'स्वग्रामं गच्छेत्' कथन का सिलसिला ठीक बैठ जाता है और यह मालूम होने लगता है कि ये मध्य के पद्य ही विशेष कथन के पद्य हैं और वे अपने पूर्वकथन—चतुर्थीकृत्य-वर्णन-के साथ सम्बंध रखते हैं।

‡ कुछ स्थानों पर अथवा जातियों में ऐसा रिवाज पाया जाता है कि वधू के पतिगृह पर आने की जगह पतिदेव वधू के घर पर जाकर

भट्टारकजी को कोई आपत्ति नहीं) कि ससुराल में चौथे दिन तक ही रहना चाहिये ॥ १७३ ॥ चौथी रात को—चतुर्थीकर्मादिक के समय—यदि वरके दोष (पतितत्व-नपुंसकत्वादिक) मालूम हो जायँ तो पिता को चाहिये कि वर को दी हुई—विवाही हुई-अपनी पुत्री को फिर से किसी दूसरे निर्दोष वर को दे देवे-उसका पुनर्विवाह कर देवे-ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है ॥१७४॥ कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है (जिस पर भी भट्टारकजी को कोई आपत्ति नहीं) कि पुत्री का पति के साथ संगम—संभोग-हो जाने के पश्चात् यदि यह मालूम पड़े कि इस सम्बंध द्वारा प्रवरों की—गोत्र शाखाओं अथवा मुनि वंशादिकों की—एकतादि जैसे दोष संघटित हुए हैं तो (आगे को उन दोषों की जान बूझ कर पुनरावृत्ति न होने देने आदि के लिये) पिता को चाहिये कि वह अपनी उस दान की हुई (विवाहिता और पुनः क्षतयोनि) पुत्री का हरण करे और उसे किसी दूसरे के साथ विवाह देवे ॥१७५॥ 'कलियुग में स्त्रियों का पुनर्विवाह न किया जाय' यह गालव ऋषि का मत है (जिससे भट्टारकजी प्रायः सहमत मालूम नहीं होते) परंतु दूसरे कुछ आचार्यों का मत इससे भिन्न है। उनकी दृष्टि में वैसा निषेध सर्व स्थानों के लिये इष्ट नहीं है, वे किसी किसी देश के लिये ही उसे अच्छा समझते हैं-बाकी देशों के लिये पुनर्विवाह की उनको अनुमति है।'

रहना है और प्रायः वहीं का हो जाना है। सम्भव है उसी रिवाज को इस उल्लेख द्वारा इष्ट किया गया हो और यह भी संभव है कि चार दिन से अधिक का निवास ही पद्य के पूर्वार्ध का अभीष्ट हो। परंतु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि सोनीजी ने इस पद्य का जो निम्न अनुवाद दिया है वह यथोचित नहीं है-उसे देते हुए उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि पद्य के पूर्वार्ध में एक बात कही गई है तब उत्तरार्ध में दूसरी बात का उल्लेख किया गया है—

"कोई कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि वर, वधू के साथ चौथे दिन भी ससुराल में ही निवास करे।"

इससे साफ़ ज़ाहिर है—और पूर्व कथनसम्बन्ध से वह और भी स्पष्ट हो जाता है—कि भट्टारकजी ने यह विवाहिता स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह की व्यवस्था की है। तीसरे और चौथे पद्य में उन हालतों का उल्लेख है जिनमें पिता को अपनी पुत्री के पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है, और वे क्रमशः वर के दोष तथा सम्बन्ध-दोष को लिये हुए हैं। पाँचवें पद्य में किसी हालत विशेष का उल्लेख नहीं है, वह पुनर्विवाह पर एक साधारण वाक्य है और इसी से कुछ विद्वान् उस पर से विधवा के पुनर्विवाह का भी आशय निकालते हैं। परन्तु यह बात अधिकतर 'गालव' नामक हिन्दू ऋषि के उस मूल वाक्य पर अवलम्बित है जिसका इस पद्य में उल्लेख किया गया है। वह वाक्य यदि खाली विधवाविवाह का निषेधक है तब तो भट्टारकजी के इस वाक्य से विधवाविवाह को प्रायः पोषण ज़रूर मिलता है और उससे विधवाविवाह का आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि वे गालव से भिन्न मत रखने वाले दूसरे आचार्यों के मत की ओर झुके हुए हैं। और यदि वह विधवाविवाह का निषेधक नहीं किन्तु जीवित भर्तृका एवं अपरित्यक्ता स्त्रियों के पुनर्विवाह का ही निषेधक है, तब भट्टारकजी के इस वाक्य से वैसा आशय नहीं निकाला जा सकता और न इस वाक्य का पूर्वार्ध विधवाविवाह के विरोध में ही पेश किया जा सकता है। तलाश करने पर भी अभी तक मुझे गालव ऋषि का कोई ग्रंथ नहीं मिला और न दूसरा कोई ऐसा संग्रहग्रन्थ ही उपलब्ध हुआ है जिसमें गालव के प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखने वाले वाक्यों का भी संग्रह हो। यदि इस परीक्षालेख की समाप्ति तक भी वैसा कोई ग्रंथ मिल गया—जिसके लिये खोज जारी है—तो उसका एक परिशिष्ट में ज़रूर उल्लेख कर दिया जायगा। फिर भी इस बात की संभावना बहुत ही कम जान पड़ती है कि गालव ऋषि ने ऐसी सधो-

विवाहिता (तुरत की ब्याही हुई) और सदोपभर्तृका अथवा सम्बन्ध-दूषिता स्त्रियों के पुनर्विवाह का तो निषेध किया हो, जिनका पद्य नं० १७४, १७५ में उल्लेख है, और विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध न किया हो। मैं तो समझता हूँ गालवजी ने दोनों ही प्रकार के पुनर्विवाहों का निषेध किया है और इसीसे उनके मत का ऐसे सामान्य वचन द्वारा उल्लेख किया गया है। हिन्दुओं में, जिनके यहाँ 'नियोग' भी विधिविहित माना गया है, 'पराशर' जैसे कुछ ऋषि ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने विधवा और सधवा दोनों के लिये पुनर्विवाह की व्यवस्था की है *। गालव ऋषि उन से भिन्न दोनों प्रकार के पुनर्विवाहों

---

* जैसा कि पाराशर स्मृति के—जिसे 'कलौ पाराशराः स्मृताः' वाक्य के द्वारा कलियुग के लिये खास तौर से उपयोगी बतलाया गया है—निम्न वाक्य से प्रकट है:—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ४-३० ॥

इसमें लिखा है कि 'पति के खो जाने—देशान्तरादिक में जाकर लापता हो जाने—मर जाने, सन्यासी बन जाने, नपुंसक तथा पतित हो जाने रूप पाँच आपत्तियों के अवसर पर स्त्रियों के लिये दूसरा पति कर लेने की व्यवस्था है—वे अपना दूसरा विवाह कर सकती हैं।'

इसी बात को 'अमितगति' नाम के जैनाचार्य ने अपनी 'धर्मपरीक्षा' में निम्न वाक्य द्वारा उल्लेखित किया है:—

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीबे प्रनष्टे पतिते मृते।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ११-१२ ॥

'धर्म परीक्षा' के इस वाक्य पर से उन लोगों का कितना ही समाधान हो जायगा जो भ्रमवश पाराशरस्मृति के उक्त वाक्य का गलत अर्थ करने के लिये कोरा व्याकरण छाँकते हैं—कहते हैं 'पति' शब्द का सप्तमी में 'पत्यौ' रूप होता है, 'पतौ' नहीं। इसलिये यहाँ समासान्त 'अपति' शब्द का सप्तम्यन्त पद 'अपतौ' पड़ा हुआ है; जिसके 'अ'कार का 'पतिते' के बाद लोप हो गया है, और वह उस पतिभिन्न पतिसदृश का बोधक है जिसके साथ मङ्गनी

के निषेधक रहे होंगे। और इसलिये जब तक गालव ऋषि के किसी वाक्य से यह सिद्ध न कर दिया जाय कि वे विधवाविवाह के निषेधक नहीं थे तबतक भट्टारकजी ने उक्त सामान्य व्यवस्था वाक्य नं० १७६ पर से जो लोग विधवा विवाह का आशय निकालते हैं उसपर कोई खास आपत्ति नहीं की जासकती।

सगाई (मँगनी) हुई हो किन्तु विवाह न हुआ हो। ऐसे लोगों को मालूम होना चाहिये कि श्लोक के उत्तरार्ध में जो 'पतिरन्यो' (दूसरा पति) पाठ पड़ा हुआ है वह पूर्वार्ध में 'पतौ' की ही स्थिति को चाहता है—'अपतौ' की नहीं—अर्थात् जिसके मरने वगैरह पर दूसरे पति की व्यवस्था की गई है वह 'पति' ही होना चाहिये 'अपति' नहीं। और 'पति' संज्ञा उसीको दी जाती है जो विधि-पूर्वक पाणिग्रहण संस्कार से संस्कारित होकर सप्तपदी को प्राप्त हुआ हो—महज़ वाग्दान वगैरह की वजह से किसी को 'पतित्व' की प्राप्ति नहीं होती; जैसा कि 'उद्वाहतत्त्व' में दिये हुए 'यम' ऋषि के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते।

पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥ (शब्दकल्पद्रुम)

इसके सिवाय, इतना और भी जान लेना चाहिये कि प्रथम तो यह आर्ष प्रयोग है, और आर्ष प्रयोग कभी कभी व्याकरण से भिन्न भी होते हैं। दूसरे, छन्द की दृष्टि से कवि लोग अनेक बार व्याकरण के नियमों का उल्लंघन कर जाते हैं, जिसके प्राचीन साहित्य में भी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। बहुत संभव है 'पत्यौ' की जगह 'पतौ' पद का यह प्रयोग छन्द की दृष्टि से ही किया गया हो; अन्यथा पराशरजी इस शब्द के 'पत्यौ' रूप से भी परिचित थे और उन्होंने अपनी स्मृति में 'पत्यौ' पद का भी प्रयोग किया है, जिसका एक उदाहरण 'पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः' (४-२३) है। तीसरे 'पतौ' पदका प्रयोग उक्त स्मृति में अन्यत्र भी पाया जाता है, जिसका 'अपतौ' वहाँ बन ही नहीं सकता। और उस प्रयोगवाक्य से यह साफ़ ज़ाहिर है कि जो स्त्री पति के मरने, खो जाने, अथवा उसके त्याग देने पर पुनर्विवाह न करके जार से गर्भ धारण करती है उसे पराशरजी ने 'पतिता' और 'पापकारिणी' लिखा है—उन

इसके सिवाय, जो भट्टारकजी पति के दोष मालूम होजाने पर पूर्व विवाह को ही रद्द कर देते हैं, संभोग होजाने पर भी स्त्री के लिये दूसरे विवाह की योजना करते हैं, तलाक़ की विधि बतलाकर परित्यक्ता स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह का मार्ग खोलते अथवा उन्हें उसकी स्वतंत्रता देते हैं, कामयज्ञ रचाने के बड़े ही पक्षपाती जान पड़ते हैं, योनिपूजा तक का उपदेश देते हैं, ऋतुकाल में भोग करने को बहुत ही आवश्यक समझते हैं, और ऋतुकाल में भोग न करने वाली स्त्रियों को तिर्यंच गति का पात्र ठहराते हैं—इतना अधिक जिनके सामने उस भोग का महत्व है—उनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती कि उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का—उन नन्हीं नन्हीं बालविधवाओं के पुनर्विवाह का भी जो महज़ फेरों की गुनहगार हों और यह भी न जानती-

---

की दृष्टि में 'जार' दूसरा पति (पतिरन्यः) नहीं हो सकता। वे दूसरा पति ग्रहण करने रूप पुनर्विवाह को विधिविहित और जार से रमण को निन्द्य तथा गर्हणीय ठहराते हैं। यथाः—

जारेण जनयेद्गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ।
तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम् ॥ १०-३१ ॥

और चौथे यह बात भी नहीं कि व्याकरण से इस 'पतौ' रूप की सर्वथा सिद्धि ही न होती हो, सिद्धि भी होती है, जैसाकि अष्टाध्यायी के 'पतिः समास एव' सूत्र पर की 'तत्वबोधिनी' टीका के निम्न अंश से प्रकट है, जिसमें उदाहरण भी क्षेपयांग से पराशरजी का उक्त श्लोक दिया है:—

"......अथ कथं "सीतायाः पतये नमः" इति "नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पंच स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते" इति पराशरश्च ॥ अत्राहुः ॥ पतिरित्याख्यातः पतिः—'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिचि टिलोपे 'अच इः' इत्यौणादिक प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पति 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते लाक्षणिकत्वादिति।

अतः 'पतौ' का अर्थ 'पत्यौ' ही है। और इसलिये जो लोग उसके इस समीचीन अर्थ को बदलने का निःसार प्रयत्न करते हैं यह उनकी भूल है।

हों कि विवाह किस चिड़िया का नाम है—सर्वथा निषेध किया हो । एक स्थान पर तो भट्टारकजी, कुछ नियम विधान करते हुए, लिखते हैं:—

यस्यास्त्वनामिका ह्रस्वा तां विदुः कलहप्रियाम् ।
भूमिं न स्पृशते यस्याः खादते सा पतिद्वयम् ॥ ११-२४ ॥

अर्थात्—जिस स्त्री की अनामिका अँगुली छोटी हो वह कलह-कारिणी होती है, और जिसकी वह अँगुली भूमि पर न टिकती हो वह अपने * दो पतियों को खाती है—उसके कम से कम दो विवाह जरूर होते हैं और वे दोनों ही विवाहित पति मर जाते हैं ।

भट्टारकजी के इस नियम-विधान से यह साफ जाहिर है कि जैन समाज में ऐसी भी कन्याएँ पैदा होती हैं जो अपने शारीरिक लक्षणों के कारण एक पति के मरने पर दूसरा विवाह करने के लिये मजबूर होती हैं— तभी वे दो पतियों को खाकर इस नियम को सार्थक कर सकती हैं—और एक पति के मरने पर स्त्री का जो दूसरा विवाह किया जाता है वही विधवाविवाह कहलाता है । इसलिये समाज में—नहीं नहीं समाज की प्रत्येक जाति में—विधवाविवाह का होना अनिवार्य ठहरता है; क्योंकि शारीरिक लक्षणों पर किसी का वश नहीं और यह नियम समाज में पुनर्विवाह की व्यवस्था को माँगता है । अन्यथा भट्टारकजी का यह नियम ही चरितार्थ नहीं हो सकता—वह निरर्थक हो जाता है ।

और दूसरे स्थान पर भट्टारकजी ने 'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने' आदि वाक्य के द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की है कि 'शूद्रा के—शूद्र जाति

---

*भट्टारकजी का यह 'दो पतियों को खाती है' वाक्य-प्रयोग कितना अशिष्ट और असंयत भाषा को लिये हुए है उसे बतलाने की जरूरत नहीं । जब 'मुनीन्द्र' कहलाने वाले ही ऐसी मर्मविदारक निन्द्य भाषा का प्रयोग करते हैं तब किसी लड़की के विधवा होने पर उसकी सास यदि यह कहती है कि 'तूने मेरा लाल खा लिया' तो इसमें आश्चर्य ही क्या है'? यह सब विधवाओं के प्रति अशिष्ट व्यवहार है ।

की जैन स्त्री के--पुनर्विवाह के समय स्त्री को पति के दाहिनी ओर बिठलाना चाहिये,' जिससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अशूद्रा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति की जैन स्त्रियों के पुनर्विवाह के समय वैसा नहीं होना चाहिये--वे बाईं ओर बिठलाई जानी चाहिये। अस्तु; आपका वह पूरा वाक्य इस प्रकार है--

'गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा।
वधू प्रवेशने शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने॥
पूजने कुलदेव्याश्च कन्यादाने तथैव च।
कर्मस्वेतेषु वै भार्या दक्षिणे तूप वेशयेत्॥

—८ वाँ अध्याय॥ ११६—११७॥

इस वाक्य के 'शूद्रा पुनर्विवाहमण्डने' पद को देख कर सोनीजी कुछ बहुत ही चकित तथा विचलित हुए मालूम होते हैं, उन्हें इसमें मूर्तिमान विधवाविवाह अपना मुँह बाए हुए नजर आया है और इसलिये उन्होंने उसके निषेध में अपनी सारी शक्ति खर्च कर डाली है। वे चाहते तो इतना कहकर छुट्टी पा सकते थे कि इसमें विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं किन्तु महज शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है, जो सधवा हो सकती है। परंतु किसी तरह का सधवापुनर्विवाह भी आपको इष्ट नहीं था, आप दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं देखते थे और शायद यह भी समझते थे कि सधवाविवाह को स्वीकार कर लेने पर विधवाविवाह के निषेध में फिर कुछ बल ही नहीं रह जाता। और विधवाविवाह का निषेध करना आपको खास तौर से इष्ट था, इसलिये उक्त पद में प्रयुक्त हुए 'पुनर्विवाह' को 'विधवाविवाह' मान कर ही आपने प्रकारान्तर से उसके निषेध की चेष्टा की है। इस चेष्टा में आपको शूद्रों के सत्, असत् भेदादि रूप से कितनी ही इधर उधर की कल्पनाएँ करनी और निरर्थक बातें लिखनी पड़ीं—मूल ग्रंथ से बाहर

का आश्रय लेना पड़ा—परंतु फिर भी आप यह सिद्ध नहीं कर सके कि भट्टारकजी ने विधवाविवाह का सर्वथा निषेध किया है। आपको अपनी कल्पना के अनुसार इतना तो स्वीकार करना ही पड़ा कि इस पद में असत् शूद्रा की विधवाविवाह-विधि का उल्लेख है—हालाँकि मूल में 'शूद्रा' शब्द के साथ 'असत्' विशेषण लगा हुआ नहीं है, वह शूद्रा मात्र का वाचक है। अस्तु; आपने 'सोमदेवनीति' (नीति-वाक्यामृत) के जिस वाक्य के आधार पर अपनी कल्पना गढ़ी है वह इस प्रकार है—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः।

इस वाक्य पर संस्कृत की जो टीका मिलती है और उसमें समर्थन के तौर पर जो वाक्य उद्धृत किया गया है उससे तो इस वाक्य का आशय यह मालूम होता है कि 'जो भले शूद्र होते हैं वे एक बार विवाह करते हैं—विवाह के ऊपर या पश्चात् दूसरा विवाह नहीं करते'—और इससे यह जान पड़ता है कि इस वाक्य द्वारा शूद्रों के बहुविवाह का नियंत्रण किया गया है। अथवा यों कहिये कि त्रैवर्णिक पुरुषों को बहु-विवाह का जो स्वयंभू अधिकार प्राप्त है उससे बेचारे शूद्र पुरुषों को वंचित रक्खा गया है। यथाः—

"टीका—ये सच्छूद्राः शोभन शूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयना एक वारं कृतविवाहाः, द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च हारीतः—'द्विभार्यो योऽत्र शूद्रः स्याद् वृषलः स हि विश्रुतः। महत्वं तस्य नो भाति शूद्रजातिसमुद्भवः॥"

इसके सिवाय, सोनीजी ने खुद पद्य नं० १७६ में प्रयुक्त हुए 'पुनरुद्वाहं' का अर्थ स्त्री का पुनर्विवाह न करके पुरुष का पुनर्विवाह सूचित किया है, जहाँ कि वह बनता ही नहीं। ऐसी हालत में मालूम नहीं फिर किस आधार पर आपने सोमदेवनीति के उक्त वाक्य का आशय स्त्री के एक बार विवाह से निकाला है! अथवा बिना किसी आधार के

जहाँ जैसा मतलब निकालना हुआ वहाँ वैसा अर्थ कर देना ही आपको इष्ट रहा है ? यदि सोमदेवजी की नीति का ही प्रमाण देखना था तो उसमें तो साफ़ लिखा है—

विकृतपत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ।

अर्थात्—जिस विवाहिता स्त्री का पति विकारी हो—या जो सदोष पति के साथ विवाही गई हो—वह भी पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी है—अपने उस विकृत पति को छोड़कर या तलाक़ देकर दूसरा विवाह कर सकती है—ऐसा स्मृतिकारों का—धर्मशास्त्र के रचयिताओं का—मत है (जिससे सोमदेवजी भी सहमत हैं—तभी उसका निषेध नहीं किया)।

यहाँ 'अपि' (भी) शब्द के प्रयोग से यह भी साफ़ ध्वनित हो रहा है कि यह वाक्य महज़ सधवा के पुनर्विवाह की ही नहीं किन्तु 'विधवा के पुनर्विवाह की' भी विधि को लिये हुए है। स्मृतिकारों ने दोनों का ही विधान किया है।

इस सूत्र की मौजूदगी में 'सकृत्परिणयन व्यवहाराः सच्छूद्राः' सूत्र पर से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि शूद्रों के सत् शूद्र होने का हेतु उनके यहाँ स्त्रियों के पुनर्विवाह का न होना है और इसलिये त्रैवर्णिकों के लिये पुनर्विवाह की विधि नहीं बनती—जो करते हैं वे सच्छूद्रों से भी गये बीते हैं। इतने पर भी सोनीजी वैसा नतीजा निकालने की चेष्टा करते हैं, यह आश्चर्य है ! और फिर यहाँ तक लिखते हैं कि "जैनागम में ही नहीं, बल्कि ब्राह्मण सम्प्रदाय के आगम में भी विधवाविवाह की विधि नहीं कही गई है।" इससे सोनीजी का ब्राह्मणग्रंथों से ही नहीं किंतु जैनग्रंथों से भी खासा अज्ञान पाया जाता है—उन्हें ब्राह्मण सम्प्रदाय के ग्रंथों का ठीक पता नहीं, नाना मुनियों के नाना मत मालूम नहीं और न अपने घर की ही पूरी ख़बर है। उन्होंने विधवाविवाह के निषेध में मनु का जो वाक्य "न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः" उद्धृत किया

' है वह उनकी नासमझी का द्योतक है। पद्य के इस उत्तरार्ध में, जिसका पूर्वार्ध है 'नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्,' 'विधवावेदनं' पद अपने पूर्वापरसम्बंध से 'नियोग' का वाचक है—संतानोत्पत्ति के लिये विधवा के अस्थायी ग्रहण का सूचक है—और इसलिये उक्त वाक्य का आशय सिर्फ इतना ही है कि 'विवाह-विधि में नियोग नहीं होता—नियोग विधि में नियोग होता है'—दोनों की नीति और पद्धति भिन्न भिन्न हैं। अन्यथा, मनुजी ने उसी अध्याय में परित्यक्ता (तलाक दी हुई) और विधवा दोनों के लिये पुनर्विवाहसंस्कार की व्यवस्था की है, जैसाकि मनुस्मृति के निम्नवाक्यों से प्रकट है.—

> या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।
> उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥
> सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
> पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

'वशिष्ठस्मृति' में भी लिखा है कि जो स्त्री अपने नपुंसक, पतित या उन्मत्त भर्तार को छोड़कर अथवा पति के मर जाने पर दूसरे पति के साथ विवाह करती है वह 'पुनर्भू' कहलाती है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि पाणिग्रहण संस्कार हो जाने के बाद पति के मर जाने पर यदि वह मन्त्रसंस्कृता स्त्री अक्षतयोनि हो—पति के साथ उसका संभोग न हुआ हो—तो उसका फिर से विवाह होना योग्य है। यथा.—

> "या क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं
> पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति ॥
> "पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मंत्रसंस्कृता।
> सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनःसंस्कार मर्हति ॥
>
> —१७ वाँ अध्याय।

इसी तरह पर 'नारद स्मृति' आदि के और कौटिलीय अर्थशास्त्र के भी कितने ही प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। 'पराशर स्मृति' का

वाक्य पहले उद्धृत किया ही जाचुका है। सोनीजी को यदि अपने घर की ही खबर होती तो वे 'सोमदेवनीति' से नहीं तो आचार्य अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' परसे ब्राह्मणग्रंथों का हाल मालूम कर सकते थे और यह जानसकते थे कि उनके आगम में विधवाविवाह का विधान है। धर्मपरीक्षा का वह 'पत्यौप्रव्रजिते' वाक्य ब्राह्मणोंकी विधवाविवाह--विधिको प्रदर्शित करनेके लिये ही लिखा गया है; जैसाकि उससे पूर्वके निम्नवाक्य से प्रकट है:--

तैरुक्तं विधवां क्वापि त्वं संगृह्य सुखी भव।
नोभयोर्विद्यते दोष इत्युक्तस्तापसागमे ॥ ११--११ ॥

धर्मपरीक्षा के चौदहवें परिच्छेद में भी हिंदुओं के स्त्री-पुनर्विवाह का उल्लेख है और उसे स्पष्टरूप से 'व्यासादीनामिदं वचः' के साथ उल्लेखित किया गया है, जिसमें से विधवाविवाह का पोषक एक वाक्य इस प्रकार है:--

एकदा परिणीताऽपि विपन्ने दैवयोगतः।
भर्तर्यक्षतयोनिः स्त्री पुनःसंस्कारमर्हति ॥ ३८ ॥

अतः सोनीजी का उक्त लिखना उनकी कोरी नासमझी तथा अज्ञता को प्रकट करता है। और इसी तरह उनका यह लिखना भी मिथ्या ठहरता है कि "विवाहविधि में सर्वत्र कन्याविवाह ही बतलाया गया है"। बल्कि यह भट्टारकजी के 'शूद्रापुनर्विवाहमण्डनं' वाक्य के भी विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि इस वाक्य में जिस शूद्रा के पुनर्विवाह का उल्लेख है उसे सोनीजी ने 'विधवा' स्वीकृत किया है--भले ही उनकी दृष्टि में वह असत् शूद्रा ही क्यों न हो, विधवा और विवाह का योग तो हुआ।

यहाँ पर मुझे विधवाविवाह के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करना नहीं है और न उस दृष्टि को लेकर मेरा यह विवेचन है*। मेरा उद्देश्य इसमें प्रायः इतना ही है कि भट्टारकजी के पुनर्विवाहविषयक कथन को

---

*औचित्यानौचित्य-विचार की उस दृष्टि से एक जुदा ही बृहत् निबन्ध लिखा जाने की ज़रूरत है, जिसके लिये मेरे पास अभी समय नहीं है।

अपने अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझकर उस पर पर्दा डालने और भ्रम फैलाने की जो जघन्य चेष्टा की गई है उसका नग्न दृश्य सबके सामने उपस्थित कर दिया जाय, जिससे वह पर्दा उठ जाय और भोले भाइयों को भी भट्टारकजी का कथन अपने असली रूप में दृष्टि-गोचर होने लगे—फिर भले ही वह उनके अनुकूल हो या प्रतिकूल। और इसलिए मुझे इतना और भी बतला देना चाहिये कि सोनीजी ने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'ग्रंथकार ने विधवा के लिये तेरहवें अध्याय में दो ही मार्ग बतलाये हैं—एक जिनदीक्षाग्रहण करना और दूसरा वैधव्य-दीक्षा लेना—तीसरा विधवाविवाह नाम का मार्ग नहीं बतलाया', और उस पर से यह नतीजा निकाला है कि 'ग्रंथकार का आशय विधवाविवाह के अनुकूल नहीं है—होता तो वे वहीं पर विधवाविवाह नाम का एक तीसरा मार्ग और बतला देते', उसमें भी कुछ सार नहीं है—वह भी असलियत पर पर्दा डालने की ही एक चेष्टा है। तेरहवें अध्याय में जिस पद्यद्वारा जिन-दीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा के विकल्प रूप से ग्रहण करने की व्यवस्था की गई है उसमें उत, स्वित् और वा अव्ययों के साथ '**श्रेयान्**' पद पड़ा हुआ है * और वह इस बात को स्पष्ट बतला रहा है कि दोनों प्रकार की दीक्षा में से किसी एक का ग्रहण उसके लिये श्रेष्ठ है—अति उत्तम है। यह नहीं कहा गया कि इनमें से किसी एक का ग्रहण उसके लिये **लाज़िमी** है अथवा इस प्रकार के दीक्षाग्रहण से भिन्न दूसरा या तीसरा कोई **मध्यम मार्ग** उसके लिये है ही नहीं। मध्यम मार्ग ज़रूर है और उसे भट्टारकजी ने आठवें तथा ग्यारहवें अध्याय में '**पुनर्विवाह**' के रूप में सूचित किया है। और इसलिये उसे दुबारा यहाँ लिखने की ज़रूरत नहीं थी। यहाँ पर जो उत्कृष्ट मार्ग रह गया था उसी का समुच्चय किया गया

---

* यथा:—

विधवायास्ततो नार्या जिनदीक्षासमाश्रयः।
श्रेयानुतस्विद्वैधव्यदीक्षा वा गृह्यते तदा॥ १६८ ॥

है। और इसलिये यदि कोई विधवा जिनदीक्षा धारण न कर सकें और वैधव्यदीक्षा के योग्य देशव्रत का ग्रहण, कण्ठसूत्र और कर्णभूषण आदि सम्पूर्ण आभूषणों का त्याग, शरीर पर सिर्फ दो वस्त्रों का धारण, खाट पर शयन तथा अंजन और लेप का त्याग, शोक तथा रुदन और विकथा-श्रवण की निवृत्ति, प्रातः स्नान, आचमन-प्राणायाम और तर्पण की नित्य प्रवृत्ति, तीनों समय देवता का स्तोत्रपाठ, द्वादशानुप्रेक्षा का चिन्तवन, ताम्बूलवर्जन और लोलुपतारहित एक बार भोजन, ऐसे उन सब नियमों का पालन करने के लिये समर्थ न होवे जिन्हें भट्टारकजी ने, 'सर्वमेतद्विधीयते' जैसे वाक्य के साथ, वैधव्यदीक्षा-प्राप्त स्त्री के लिये आवश्यक बतलाया है, तो वह विधवा भट्टारकजी के उस पुनर्विवाह-मार्गका अवलम्बन लेकर यथाशक्ति श्रावकधर्म का पालन कर सकती है; ऐसा भट्टारकजी के इस उत्कृष्ट कथन का पूर्व कथन के साथ आशय और सम्बन्ध जान पड़ता है। 'पाराशरस्मृति' में भी विधवा के लिये पुनर्विवाह की उस व्यवस्था के बाद, उसके ब्रह्मचारिणी रहने आदि को सराहा है—लिखा है कि 'जो स्त्री पति के मर जाने पर ब्रह्मचर्यव्रत में स्थिर रहती है—वैधव्यदीक्षा को धारण करके दृढ़ता के साथ उसका पालन करती है—वह मर कर ब्रह्मचारियों की तरह स्वर्ग में जाती है। और जो पति के साथ ही सती हो जाती है वह मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ बाल हैं उतने वर्ष तक स्वर्ग में वास करती है।' यथाः—

मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ ३१॥
तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति॥ ३२॥

पाराशरस्मृति के इन वाक्यों को पूर्ववाक्यों के साथ पढ़नेवाला कोई भी सहृदय विद्वान् जैसे इन वाक्यों पर से यह नतीजा नहीं निकाल सकता

कि पराशरजी ने विधवाविवाह का निषेध किया है उसी तरह पर भट्टारकजी के उक्त वाक्य पर से भी कोई समझदार यह नतीजा नहीं निकाल सकता कि भट्टारकजी ने विधवाविवाह का सर्वथा निषेध किया है। उस वाक्य का पूर्वकथनसम्बन्ध से इतना ही आशय जान पड़ता है कि जो विधवा जिनदीक्षा अथवा वैधव्यदीक्षा धारण कर सके तो वह बहुत अच्छा है—अभिनन्दनीय है—अन्यथा, विधुरों की तरह साधारण गृहस्थ का मार्ग उसके लिये भी खुला हुआ है ही।

अब मैं उस आवरण को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जो पुनर्विवाह-विषयक पद्य नं० १७४, १७५ और १७६ पर डाला गया है और जिसके नीचे उस सत्य को छिपाने की चेष्टा की गई है जिसका उल्लेख ऊपर उन पद्यों के साथ किया जा चुका है—भले ही लेखक कितने ही अंशों में भट्टारकजी के उस कथन से सहमत न हो अथवा अनेक दृष्टियों से उसे आपत्ति के योग्य समझता हो।

इस विषय में, सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि इन पद्यों को, आगे पीछे के तीन और पद्यों सहित, 'अन्यमत' के श्लोक बतलाया गया है और उसकी एक पहचान इन पद्यों के शुरू में 'अथ विशेषः' शब्दों का होना बतलाई गई है, जैसा कि पण्डित पन्नालालजी सोनी के एक दूसरे लेख के निम्न वाक्य से प्रकट है, जो 'सत्यवादी' के छठे भाग के अंक नम्बर २—३ में प्रकाशित हुआ है:—

"भट्टारक महाराज अपने ग्रन्थ में जैन मत का वर्णन करते हुए अन्य मतों का भी वर्णन करते गये हैं, जिसकी पहचान के लिये अथ विशेषः, अन्यमतं, परमतं, स्मृतिवचनं और इति परमत स्मृतिवचनं इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया है।"

यद्यपि मूल ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा मालूम नहीं होता—उसके 'अन्यमतं' 'परमतं' जैसे शब्द दूसरे जैनाचार्यों के मत की ओर इशारा

करते हुए जान पड़ते हैं—और न अब इस परीक्षालेख को पढ़ जाने के बाद कोई यह कहने की हिम्मत कर सकता है कि इस ग्रंथ में जिन वाक्यों के साथ 'अथ विशेषः' 'अन्यमतं' अथवा 'परमतं' जैसे शब्द लगे हुए हैं वे ही जैनमत से बाहर के श्लोक हैं, बाक़ी और सब जैन-मत के ही श्लोकों का इसमें संग्रह है; क्योंकि ऐसे चिन्हों से रहित दूसरे पचासों श्लोकों को अजैनमत के सिद्ध किया जा चुका है और सैंकड़ों को और भी सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि ये श्लोक अजैनमत के ही हैं तो उससे नतीजा? दूसरे मत के श्लोकों का उद्धरण प्रायः दो दृष्टियों से किया जाता है—अपने मत को पुष्ट करने अथवा दूसरों के मत का खण्डन करने के लिये। यहाँ पर उक्त श्लोक दोनों में से एक भी दृष्टि को लिये हुए नहीं हैं—वे वैसे ही (स्वयं रच कर या अपना कर) ग्रंथ का अंग बनाये गये हैं। और इसलिये उनके अजैन होने पर भी भट्टारकजी की जिम्मेदारी तथा उनके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य कुछ कम नहीं हो जाता। अतः उन पर अन्य मत का आवरण डालने की चेष्टा करना निरर्थक है। इसके सिवाय, सोनीजी ने अपने उस लेख में कई जगह बड़े दर्प के साथ इन सब श्लोकों को 'मनुस्मृति' का बतलाया है, और यह उनका सरासर झूठ है। सारी मनुस्मृति को टटोल जाने पर भी उसमें इनका कहीं पता नहीं चलता। जो लोग अपनी बात को ऊपर रखने और दूसरों की आँखों में धूल डालने की धुन में इतना मोटा और साक्षात् झूठ लिख जाने तक की धृष्टता करते हैं वे अपने विरुद्ध सत्य पर पर्दा डालने के लिये जो भी चेष्टा न करें सो थोड़ा है। ऐसे अटकलपच्चू और ग़ैर-जिम्मेदाराना तरीक़े से लिखने वालों के वचन का मूल्य भी क्या हो सकता है? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

इन्हीं सोनीजी ने, चतुर्थीकर्म-विषयक सारे पूर्वकथन पर पानी फेर कर १७४ वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'चतुर्थीमध्ये' पद का अर्थ अपने उस लेख में, 'चौथी पदी' किया है और उस पर यहाँ तक ज़ोर दिया है कि इसका अर्थ "चौथी पदी ही करना पड़ेगा", "चौथी पदी ही होना चाहिये", "मराठी टीकाकार ने भी भूल की है" *। परंतु अपनी अनुवाद-पुस्तक में जो अर्थ दिया है वह इससे भिन्न है। मालूम होता है बाद में आपको पंचांगविवाह के चौथे अंग (पाणिग्रहण) का कुछ ख़याल आया और वही चतुर्थी के सत्यार्थ पर पर्दा डालने के लिये अधिक उपयोगी जँचा है! इसलिये आपने अपने उक्त वाक्यों और उनमें प्रयुक्त हुए 'ही' शब्द के महत्व को भुलाकर, उसे ही चतुर्थी का वाच्य बना डाला है!! बाक़ी 'दत्ताम्' पद का वही ग़लत अर्थ 'वाग्दान में दी हुई' कायम रक्खा है, जैसा कि पूरे पद्य के आपके निम्न अनुवाद से प्रकट है:—

"पाणिपीडन नाम की चौथी क्रिया में अथवा सप्तपदी से पहले वर में जातिच्युतरूप, हीनजातिरूप या दुराचरणरूप दोष मालूम हो जायँ तो वाग्दान में दी हुई कन्या को उसका पिता किसी दूसरे श्रेष्ठ जाति आदि गुणयुक्त वर को देवे, ऐसा बुद्धिमानों का मत है।"

पूर्वकथनसम्बन्ध को सामने रखते हुए, जो ऊपर दिया गया है, इस अनुवाद पर से यह मालूम नहीं होता कि सोनीजी को 'चतुर्थीकर्म' का परिचय नहीं था और इसलिये 'चतुर्थीमध्ये' तथा 'दत्ताम्' पदों का अर्थ उनके द्वारा भूल से ग़लत प्रस्तुत किया गया है; बल्कि यह साफ़ जाना जाता है कि उन्होंने जान बूझकर, विवाहिता स्त्रियों के

* मराठी टीकाकार पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे ने "चवथ्या दिवशीचें कृत्य होण्याच्या पूर्वींच" अर्थ दिया है।

पुनर्विवाह पर पर्दा डालने के लिये, उक्त पदों के प्रकृत और प्रकरणसंगत अर्थ को बदलने की चेष्टा की है। अन्यथा, 'दत्ताम्' का 'वाग्दान में दी हुई' अर्थ तो किसी तरह भी नहीं बन सकता था, क्योंकि चतुर्थी के सोनीजी द्वारा आविष्कृत अर्थानुसार भी जब विवाहकार्य पाणिग्रहण की अवस्था तक पहुँच जाता है तब कन्यादान तो 'प्रदान' नाम की दूसरी क्रिया में ही हो जाता है और उस वक्त वह कन्या 'कन्या' न रहकर 'वधू' तथा पाणिग्रहण के अवसर पर 'पत्नी' बन जाती है+। फिर भी सोनीजी का उसे 'वाग्दान में दी हुई कन्या' लिखना और अन्यत्र यह प्रतिपादन करना कि 'विवाह कन्या का ही होता है' छल नहीं तो और क्या है? आपका यह छल याज्ञवल्क्यस्मृति के एक टीकावाक्य के अनुवाद में भी जारी रहा है और उसमें भी आपने 'वाग्दान में दी हुई कन्या' जैसे अर्थों को अपनी तरफ़ से लाकर घुसेड़ा है। इसके सिवाय उक्त स्मृति के 'दत्वा कन्या हरन् दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयं' को उसी (विवाह) प्रकरण का बतलाया है, जिसका कि 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' वाक्य है—हालाँकि वह वाक्य भिन्न अध्याय के भिन्न प्रकरण (दाय भाग) का है तथा वाग्दत्ताविषयक शोधन के प्रसंग को लिये हुए है, और इसलिये उसे उद्धृत करना ही निरर्थक था। दूसरा वाक्य जो उद्धृत किया गया है उससे भी कोई समर्थन नहीं होता—न उसमें 'चतुर्थी मध्ये' पद पड़ा हुआ है और न 'दत्ताम्' का अर्थ टीका में ही 'वाग्दत्ता' किया गया है। बाकी टीका के अन्त में

+जैसाकि 'आप्रदानात् भवेत्कन्या' नाम के उस वाक्य से प्रकट है जो इस प्रकरण के शुरू में उद्धृत किया जा चुका है। हाँ, सोनीजी ने अपने उस लेख में लिखा है कि "तीनपदी तक कन्या संज्ञा रहती है, पश्चात् चौथीपदी में उसकी कन्या संज्ञा दूर होजाती है"। यह लिखना भी आपका शायद वैसा ही अटकलपच्चू और बिना सिर पैर का जान पड़ता है जैसा कि उन श्लोकों को मनुस्मृति के बतलाना।

जो 'एतच्च सप्तमपदात्प्राग्द्रष्टव्यम्' वाक्य दिया है वह मूल से बाहर की चीज है—मूल के किसी शब्द से सम्बंध नहीं रखती—उसे टीकाकी अपनी राय अथवा टीकाकार की खींचातानी कहना चाहिये। अन्यथा, याज्ञवल्क्यस्मृति में खुद उसके बाद 'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः' आदि वाक्य के द्वारा अन्यपूर्वा स्त्री के भेदों में 'पुनर्भू' स्त्री का उल्लेख किया है और उसे 'पुनः संस्कृता' लिख कर पुनर्विवाह की अधिकारिणी प्रतिपादन किया है। साथ ही, उसके क्षतयोनि (पूर्व पति के साथ संगम को प्राप्त हुई) और अक्षत-योनि (संस्कार मात्र को प्राप्त हुई) ऐसे दो भेद किये हैं। पुनर्भू का विशेषस्वरूप 'मनुस्मृति' और 'वशिष्ठस्मृति' के उन वाक्यों से भी जाना जासकता है जो ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं। ऐसी हालत में सोनी जी का अपने अर्थ को (ब्राह्मण) सम्प्रदाय के अविरुद्ध बत-लाना और दूसरों के अर्थ को विरुद्ध ठहराना कुछ भी मूल्य नहीं रखता—वह प्रलापमात्र जान पड़ता है *।

* ब्राह्मण सम्प्रदाय के वशिष्ठ ऋषि तो साफ़ लिखते हैं कि कन्या यदि किसी ऐसे पुरुष को दान कर दी गई हो जो कुलशील से विहीन हो, नपुंसक हो, पतित हो, रोगी हो, विधर्मी हो या वेषधारी हो, अथवा सगोत्री के साथ विवाह दी गई हो तो उसका हरण करना चाहिये—और इस तरह पर उस पूर्व विवाह को रद्द करना चाहिये। यथा:—

"कुलशील विहीनस्य षण्ढादि पतितस्य च।
अपस्मारि विधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम्॥
दत्तामपि हरेत्कन्यां सगोत्रोढां तथैव च॥" (शब्दकल्पद्रुम)

इस वाक्य में प्रयुक्त 'सगोत्रोढा' (समान गोत्री से विवाही हुई) पद 'दत्ता' पद पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसे 'विवाहिता' सूचित करता है। सोमदेव ने भी अपने उस 'विकृतपत्यूढा' नामक वाक्य में स्मृतिकारों का जो मत उद्धृत किया है उसमें उस पुनर्विवाहयोग्य स्त्री को 'ऊढा' ही बतलाया है जिसका अर्थ होता है 'विवाहिता'।

इसी तरह पर १७५ वें पद्य में प्रयुक्त हुए 'दत्ता' पद का अर्थ भी 'वाग्दत्ता कन्या' गलत किया गया है, जो पूर्वोक्त हेतु से किसी तरह भी वहाँ नहीं बनता। इसके सिवाय, 'पतिसंगादधः' का अर्थ आपने, 'पति के साथ संगम-सभोग-हो जाने के पश्चात्' न करके, 'पाणिपीडन से पहले' किया है—'पतिसंग' को 'पाणिग्रहण' बतलाया है और 'अधः' का अर्थ 'पहले' किया है। साथ ही, 'प्रवरै-क्यादिदोषाः' के अर्थ में 'दोषाः' का अर्थ छोड़ दिया है और 'आदि' को 'ऐक्य' के बाद न रखकर उसके पहले रक्खा है, जिससे कितना ही अर्थदोष उत्पन्न हो गया है। इस तरह से सोनीजी ने इन पदों के उस समुचित अर्थ तथा आशय को बदल कर, जो शुरू में दिया गया है, एक क्षतयोनि स्त्री के पुनर्विवाह पर पर्दा डालने की चेष्टा की है। परन्तु इस चेष्टा से उस पर पर्दा नहीं पड़ सकता। 'पतिसंग' का अर्थ यहाँ 'पाणिपीडन' करना विडम्बना मात्र है और उसका कहीं से भी समर्थन नहीं हो सकता। 'संग' और 'संगम' दोनों एकार्थवाचक शब्द हैं और वे स्त्री-पुरुष के मिथुनीभाव को सूचित करते हैं (संगमः, संगः स्त्रीपुंसोर्मिथुनी भावः) जिसे संभोग और Sexual intercourse भी कहते हैं। शब्दकल्पद्रुम में इसी आशय को पुष्ट करने वाला प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण भी दिया है जो इस प्रकार है:—

> अम्बिका च यदा जाता नारी ऋतुमती तदा।
> संगं प्राप्य मुनेः पुत्रमसूताम्बं महाबलम्॥

'अधः' शब्द 'पूर्व' या 'पहले' अर्थ में कभी व्यवहृत नहीं होता परंतु 'पश्चात्' अर्थ में वह व्यवहृत जरूर होता है; जैसाकि "अधोभक्तं" पद से जाना जाता है जिसका अर्थ है 'भोजनान्तं पीय-मानं जलादिकं'—भोजन के पश्चात् पीये जाने वाले जलादिक (a dose

of water, medicine etc. to be taken after meals. V. S. Apte) । और इसलिये सोनीजी ने 'पतिसंगादृते' का जो अर्थ 'पाणिपीडन से पहले' किया है वह किसी तरह भी नहीं बन सकता । पाणिपीडन नामक संस्कार से पहले तो 'पति' संज्ञा की प्राप्ति भी नहीं होती—वह सप्तपदी के सातवें पद में आकर होती है, जैसाकि पूर्व में उद्धृत 'नोदकेन' पद्य के 'पतित्वं सप्तमे पदे' वाक्य से प्रकट है। जब 'पति' ही नहीं तो फिर 'पतिसंग' कैसा ? परंतु यहाँ 'पतिसंगात्' पद साफ़ पड़ा हुआ है । इसलिये यह सप्तपदी के बाद की संयोगावस्था को ही सूचित करता है । उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता ।

अब रहा गालव के उल्लेख वाला १७६ वाँ पद्य, इसके अनुवाद में सोनीजी ने और भी गज़ब ढाया है और सत्य का बिलकुल ही निर्दयता के साथ गला मरोड़ डाला है !! आप जानते थे कि स्त्री के पुनर्विवाह का प्रसंग चल रहा है और पहले दोनों पद्यों में उसीका उल्लेख है । साथ ही, यह समझते थे कि इन पद्यों में प्रयुक्त हुए 'दद्यात्' 'पुनर्दद्यात्' जैसे सामान्य पदों का अर्थ तो जैसे तैसे 'वाग्दान में दी हुई' आदि करके, उनके प्रकृत अर्थ पर कुछ पर्दा डाला जा सकता है और उसके नीचे पुनर्विवाह को किसी तरह छिपाया जा सकता है परंतु इस पद्य में तो साफ़ तौर पर 'पुनरुद्वाहं' पद पड़ा हुआ है, जिसका अर्थ 'पुनर्विवाह' के सिवाय और कुछ होता ही नहीं और वह कथन-क्रम से स्त्रियों के पुनर्विवाह का ही वाचक है, इसलिये उस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता । चुनाँचे आपने अपने उसी लेख में, जो 'जातिप्रबोधक' में प्रकाशित बाबू सूरजभानजी के लेख की समीक्षारूप से लिखा गया था, बाबू सूरजभानजी-प्रतिपादित इस पद्य के अनुवाद पर और उसके इस निष्कर्ष पर कि यह श्लोक स्त्रियों के पुनर्विवाह विषय को लिये हुए है कोई आपत्ति नहीं की थी न प्रत्युत इसके लिख दिया था—

"आगे चलकर गालव महाशय के विषय में जो आपने लिखा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वे महाशय जैन नहीं हैं। किसी दि० जैन ऋषि का प्रमाण देकर पुनर्विवाह सिद्ध करते तो अच्छा होता।......... यह कहा जा चुका है कि १७१ से १७६ तक के श्लोक दि० जैन ऋषि प्रणीत नहीं हैं, मनुस्मृति के हैं।"

इससे जाहिर है कि सोनीजी इस श्लोक पर से स्त्रियों के पुनर्विवाह की सिद्धि जरूर मानते थे परन्तु उन्होंने उसे अजैन श्लोक बतला कर उसका तिरस्कार कर दिया था। अब इस अनुवाद के समय आपको अपने उस तिरस्कार की निःसारता मालूम पड़ी और यह जान पड़ा कि वह कुछ भी कार्यकारी नहीं है। इसलिये आपने और भी अधिक निष्ठुरता धारण करके, एक दूसरी नई तथा विलक्षण चाल चली और उसके द्वारा बिलकुल ही अकल्पित अर्थ कर डाला! अर्थात् इस पद्य को स्त्रियों के पुनर्विवाह की जगह पुरुषों के पुनर्विवाह का बना डाला!! इस कपटकला, कूटलेखकता और अनर्थ का भी कहीं कुछ ठिकाना है!!! भला कोई सोनीजी से पूछे कि 'कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेत्' का अर्थ जो आपने "कलियुग में एक धर्मपत्नी के होते हुए दूसरा विवाह न करे" दिया है उसमें 'एक धर्मपत्नी के होते हुए' यह अर्थ मूल के कौन से शब्दों का है अथवा पूर्व पद्यों के किन शब्दों पर से निकाला गया है तो इसका आप क्या उत्तर देंगे? क्या 'हमारी इच्छा' अथवा यह कहना समुचित होगा कि पुरुषों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये—स्त्री के मर जाने पर भी वे कहीं इस मतानुसार पुनर्विवाह के अधिकार से वंचित न हो जाँय इसलिये—हमने अपनी ओर से ऐसा कर दिया है? कदापि नहीं। वास्तव में, आपका यह अर्थ किसी तरह भी नहीं बनता और न कहीं से उसका

समर्थन ही होता है। आपने एक 'भावार्थ' लगाकर उसे कुछ गले उतारने की चेष्टा की है और उसमें ब्राह्मणधर्म के अनुसार धर्मपत्नी, भोगपत्नी, प्रथम विवाह धर्म्य विवाह, दूसरा विवाह काम्य विवाह, सवर्णा स्त्री के होते हुए असवर्णा स्त्री से धर्म कृत्य न कराये जावें, आदि कितनी ही बातें लिखीं और कितने ही निरर्थक तथा अपने विरुद्ध वाक्य भी उद्धृत किये परन्तु बहुत कुछ सर पटकने पर भी आप गालव ऋषि का तो क्या दूसरे भी किसी हिन्दू ऋषि का कोई ऐसा वाक्य उद्धृत नहीं कर सके जिससे पुरुषों के पुनर्विवाहविषयक स्वयंभू अधिकार का विरोध पाया जाय। और इसलिये आपको यह कल्पना करते ही बना कि "कोई ब्राह्मण ऋषि दो विवाहों को भी धर्म्य विवाह स्वीकार करते हैं और तृतीय विवाह का निषेध करते हैं। तब संभव है कि गालव ऋषि दूसरे विवाह का भी निषेध करते हों।" इतने पर भी आप अन्त में लिखते हैं—"जो लोग इस श्लोक से स्त्रियों का पुनर्विवाह अर्थ निकालते हैं वह बिलकुल अयुक्त है। क्योंकि यह अर्थ स्वयं ब्राह्मणसम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ता है।" यह धृष्टता की पराकाष्ठा नहीं तो और क्या है? वह अर्थ ब्राह्मणसम्प्रदाय के क्या विरुद्ध पड़ता है उसे आप दिखला नहीं सके और न दिखला सकते हैं। आपका इस विषय में ब्राह्मण सम्प्रदाय की दुहाई देना उसके साहित्य की कोरी अनभिज्ञता को प्रकट करना अथवा भोले भाइयों को फँसाने के लिये व्यर्थ का जाल रचना है। अस्तु।

इस सब विवेचन पर से सहृदय पाठक सहज ही में इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि भट्टारकजी ने अपरित्यक्ता स्त्रियों के लिये भी—जिनमें विधवाएँ भी शामिल जान पड़ती हैं—पुनर्विवाह की साफ़ व्यवस्था की है और सोनीजी जैसे पंडितों ने उसे अपनी चित्तवृत्ति के

अनुकूल न पाकर अथवा कुछ लोकविरुद्ध समझ कर जो उस पर पर्दा डालने की चेष्टा की है वह कितनी नीच, निःसार तथा जघन्य है और साथ ही विद्वत्ता को कलंकित करने वाली है।

जो लोग इस त्रिवर्णाचार पर अपनी 'अटल श्रद्धा' का ढँढोरा पीटते हुए उसको प्रामाणिक ग्रंथ बतलाते हैं ‡ और फिर स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध करते हैं उनकी स्थिति निःसंदेह बड़ी ही विचित्र और करुणाजनक है। वे खुद अपने को ठगते हैं और दूसरों को ठगते फिरते हैं!! उन्हें यदि सचमुच ही इस ग्रंथ को प्रमाण मानना था तो स्त्रियों के पुनर्विवाह-निषेध का साहस नहीं करना था; क्योंकि स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान तो इस ग्रंथ में है ही, वह किसी का मिटाया मिट नहीं सकता।

तर्पण, श्राद्ध और पिण्डदान।

(२८) हिन्दुओं के यहाँ, स्नान का अंग स्वरूप, तर्पण नाम का एक नित्य कर्म वर्णन किया है। पितरादिकों को पानी या तिलोदक (तिलों के साथ पानी) आदि देकर उनकी तृप्ति की जाती है, इसीका नाम तर्पण है। तर्पण के जल को देव और पितरगण इच्छा करते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यदि कोई मनुष्य नास्तिक्य भाव से अर्थात्, यह समझ कर कि 'देव पितरों को जलादिक नहीं पहुँच सकता, तर्पण नहीं करता है तो जल के इच्छुक पितर उसके देह का रुधिर पीते हैं, ऐसा उनके यहाँ योगि याज्ञवल्क्य का वचन है। यथाः—

‡ पं० पन्नालालजी कासलीवाल ने भी १० वर्ष हुए 'सत्यवादी' में प्रकाशित अपने लेख द्वारा यह घोषणा की थी कि—"मेरा सोमसेन कृत त्रिवर्णाचार ग्रंथ पर, अटल श्रद्धान है और मैं उसे प्रमाणीक मानता हूँ।"।

नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहरुधिरं पितरो वै जलार्थिनः ॥

भट्टारकजी ने भी, इस त्रिवर्णाचार में, तर्पण को स्नान का एक अंग बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं के यहाँ स्नान के जो पाँच अंग–संकल्प, सूक्तपठन मार्जन, अघमर्षण * और तर्पण–माने जाते हैं उन सबको ही अपनाया है। यथा:—

संकल्पं [हरः] सूक्त [क्त] पठनं मार्जने चाघमर्षणम् ।
देवादि [षिं] तर्पणं चैव पंचांगं स्नानमाचरेत् [स्नानं पंचांगमिष्यते]
॥ २-१०५ ॥

यह श्लोक भी किसी हिन्दू ग्रंथ से लिया गया है। हिन्दुओं के

---

* 'अघमर्षण' पापनाशन को कहते हैं। हिन्दुओं के यहाँ यह स्नानांगकर्म पापनाशन क्रिया का एक विशेष अंग माना जाता है। वेद में 'ऋतं च सत्यं' नामका एक प्रसिद्ध सूक्त है, जिसे 'अघमर्षण सूक्त' कहते हैं और जिसका ऋषि भी 'अघमर्षण' है। इस सूक्त को पानी में निमग्न होकर तीन बार पढ़ने से सब पापों का नाश हो जाता है और यह उनके यहाँ अश्वमेध यज्ञ की तरह सब पापों का नाश करने वाला माना गया है, जैसा कि 'शंखस्मृति' के निम्नवाक्यों से प्रकट है:—

ततोऽम्भसि निमग्नस्तु त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥ ६-१२ ॥
यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ६-१३ ॥

वामन शिवराम ऐपटे ने भी अपने कोश में इस सूक्त की उक्त मान्यता का उल्लेख किया है, और लिखा है कि 'गुरुपत्नी, माता, तथा भगिनी आदि के साथ सम्भोग जैसे घोरतम पाप भी इस सूक्त को तीन बार पानी में पढ़ने से नाश को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा कहा जाता है' यथा—

सूक्त thrice in water.

'स्मृतिरत्नाकर' में यह ब्रैकटों में दिये हुए साधारण पाठभेद के साथ पाया जाता है और इसे 'अग्नि' ऋषि का वाक्य लिखा है। हिंदुओं

भट्टारकजी ने इस अघमर्षण को स्नान का अंग बनाकर हिन्दुओं के एक ऐसे सिद्धान्त को अपनाया है जिसका जैनसिद्धान्तों के साथ कोई मेल नहीं। जैनसिद्धान्तों की दृष्टि से पापों को इस तरह पर स्नान के द्वारा नहीं धोया जा सकता। स्नान से शरीर का सिर्फ बाह्ममल दूर होता है, शरीर तक की शुद्धि नहीं हो सकती; फिर पापों का दूर होना तो बहुत ही दूर की बात है-वह कोई खेल नहीं है। पाप जिन मिथ्यात्व-असंयमादि कारणों से उत्पन्न होते हैं उनके विपरीत कारणों को मिलाने से ही दूर किये जा सकते हैं-जलादिक से नहीं। जैसाकि श्री अमितगति आचार्य के निम्नवाक्यों से भी प्रकट है —

मलो विशोध्यते बाह्यो जलेनेति निगद्यताम्।
पापं निहन्यते तेन कस्येदं हृदि वर्तते ॥३६॥
मिथ्यात्वाऽसंयमाऽज्ञानैः कल्मषं प्राणिनार्जितम्।
सम्यक्त्व संयमज्ञानैर्हन्यते नान्यथा स्फुटम् ॥३७॥
कषायैरर्जितं पापं सलिलेन निवार्यते।
एतज्जडात्मनो ब्रूते नान्ये मीमांसका ध्रुवम् ॥३८॥
यदि शोधयितुं शक्तं शरीरमपि नो जलम्।
अन्तःस्थितं मनो दुष्टं कथं तेन विशोध्यते ॥३९॥

—धर्मपरीक्षा, १७ वाँ परिच्छेद।

भट्टारकजी के इस विधान से यह मालूम होता है कि वे जलसे पापों का धुलना मानते थे। और शायद यही वजह हो जो उन्होंने अपने ग्रंथ में स्नान की इतनी भरमार की है कि उससे एक अच्छे भले आदमी का नाक में दम आ सकता है और वह उसीमें उलझा रहकर अपने जीवन के समुचित ध्येय से वंचित रह सकता है और अपना कुछ भी उत्कर्ष साधन नहीं कर सकता। मेरी इच्छा थी कि मैं स्नान की उस भरमार का और उसकी निःसारता तथा जैन सिद्धान्तों के साथ उसके विरोध का एक स्वतन्त्र शीर्षक के नीचे पाठकों को दिग्दर्शन कराऊँ परन्तु लेख बहुत बढ़ गया है इसलिये मजबूरन अपनी उस इच्छा को दबाना ही पड़ा।

ने देव, ऋषि और पितर भेद से तीन प्रकार का तर्पण माना है (तर्पणं च शुचिः कुर्यात्प्रत्यहं स्नातको द्विजः। देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथा क्रमम् ॥ इति शातातपः)। भट्टारकजी ने भी तीसरे अध्याय के पद्य नं- ७, ८, ९ में इन तीनों भेदों का इसी क्रम से विधान किया है। साथ ही, हिन्दुओं की उस विधि को भी प्रायः अपनाया है जो प्रत्येक प्रकार के तर्पण को किस दिशा की ओर मुँह करके करने तथा अक्षतादिक किस किस द्रव्य द्वारा उसे कैसे सम्पादन करने से सम्बन्ध रखती है। परन्तु अध्याय के अन्त में जो तर्पणमंत्र आपने दिये हैं उनमें पहले ऋषियों का, फिर पितरों का और अन्त में देवताओं का तर्पण लिखा है। देवताओं के तर्पण में अर्हन्तादिक देवों को स्थान नहीं दिया गया किन्तु उन्हें ऋषियोंकी श्रेणीमें रक्खा गया है—हालाँकि पद्य नं० ८ में 'गौतमादि-महर्षीणां (न्वै) तर्पयेद् ऋषितीर्थतः' ऐसा व्यवस्थावाक्य था—और यह आपका लेखनकौशल अथवा रचनावैचित्र्य है ! ! परंतु इन सब बातों को भी छोड़िये, उससे बड़ी बात यह है कि भट्टारकजी ने तर्पण का सब आशय और अभिप्राय प्रायः वही रक्खा है जो हिंदुओं का सिद्धान्त है। अर्थात्, यह प्रकट किया है कि पितरादिक को पानी या तिलोदकादि देकर उनकी तृप्ति करना चाहिये; तर्पण के जल की देव पितरगण इच्छा रखते हैं, उसको ग्रहण करते हैं और उससे तृप्त होते हैं। जैसाकि नीचे लिखे वाक्यों से प्रकट है:—

असंस्काराश्च ये केचिज्जलाशाः पितरः सुराः।
तेषां सन्तोषतृप्त्यर्थं दीयते सलिलं मया ॥ ११ ॥

अर्थात्—जो कोई पितर संस्कारविहीन मरे हों, जल की इच्छा रखते हों, और जो कोई देव जल की इच्छा रखते हों, उन सब के सन्तोष तथा तृप्ति के लिये मैं पानी देता हूँ—जल से तर्पण करता हूँ।

केचिदस्मत्कुले जाताः * अपुत्रा व्यन्तराः सुराः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥ १३ ॥

अर्थात्—हमारे कुलमें जो कोई पुत्रहीन मनुष्य मरकर व्यन्तर जातिके देव हुए हों, उन्हें मैं धोती आदि वस्त्रसे निचोड़ा हुआ पानी देता हूँ, उसे वे ग्रहण करें।

यह तर्पणके बाद धोती निचोड़नेका मंत्र× है। इसके बाद 'शरीरके अंगों परसे हाथ या वस्त्रसे पानी नहीं पोंछना चाहिये, नहीं तो शरीर कुत्ता चाटेकी समान अपवित्र होजायगा और पुनः स्नान करनेसे शुद्धि होगी' ‡ ऐसा अद्भुत विधान करके उसके कारणों को बतलाते हुए लिखा है—

---

* यहाँ छपी पुस्तकों में जो 'अपूर्वा' पाठ दिया है वह गलत है, सही पाठ 'अपुत्रा' है और वही जिनसेन त्रिवर्णाचार में भी पाया जाता है, जहाँ वह इसी ग्रंथ परसे उद्धृत है।

×यह मंत्र हिन्दुओं के निम्न मंत्र पर से, जिसे 'मन्त्रस्य' 'इति मंत्रेण' शब्दों द्वारा ख़ास तौर पर मंत्र रूप से उल्लेखित किया है, ज़रासा फेर बदल करके बनाया गया मालूम होता है—

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रजा मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥—स्मृतिरत्नाकर।

‡ यथा:—

तस्मात्कायं न मृजीत ह्यम्बरेण करेण वा ।
श्वानलेहेन साम्यं च पुनः स्नानेन शुध्यति ॥ १६ ॥

हिन्दुओं के यहाँ इस पद्य के आशय से मिलता जुलता एक वाक्य इस प्रकार है—

तस्मात्स्नातो नावमृज्यात्स्नानशाट्या न पाणिना ।
स्नानवस्त्रेण हस्तेन यो द्विजोऽङ्गं प्रमार्जति ॥
वृथा भवति तत्स्नानं पुनः स्नानेन शुध्यति ।

'स्मृतिरत्नाकर' में यह वाक्य 'शिरोवारि शरीराम्बु वस्त्रतोयं यथाक्रमम् । पिबन्ति देवा मुनयः पितरो ब्राह्मणस्य तु ॥' के अनन्तर दिया है और इससे 'तस्मात्' पद का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट होजाता है। इस दृष्टि से भट्टारकजी का उक्त १६ वाँ पद्य 'पिबंति शिरसो' नामक १८ वें पद्य के बाद होना चाहिये था।

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यावद्रोमाणि मानुषे।
वसन्ति तावत्तीर्थानि तस्मान्न परिमार्जयेत् ॥ १७ ॥
पिबन्ति शिरसो देवाः पिबन्ति पितरो मुखात्।
मध्याच्च यक्षगन्धर्वा अधस्तात्सर्वजन्तवः ॥ १८ ॥

अर्थात्—मनुष्यके शरीरमें जो साढे तीनकरोड़ रोम हैं, उतनेही उसमें तीर्थ हैं। दूसरे, शरीर पर जो स्नान जल रहता है उसे मस्तक परसे देव, मुख परसे पितर, शरीरके मध्यभाग परसे यक्ष गंधर्व और नीचेके भाग परसे अन्य सब जन्तु पीते हैं। इसलिये शरीरके अंगोंको पोंछना नहीं चाहिये (पोंछने से उन तीर्थोंका शायद अपमान या उत्थापन होजायगा, और देवादिकों के जल ग्रहण कार्य में विघ्न उपस्थित होगा !!)।

जैनसिद्धान्तसे जिन पाठकोंका कुछ भी परिचय है वे ऊपरके इस कथनसे भले प्रकार समझ सकते हैं कि भट्टारकजीका यह तर्पणविषयक कथन कितना जैनधर्म के विरुद्ध है। **जैनसिद्धांत के अनुसार न तो देवपितरगण पानी के लिये भटकते या मारे मारे फिरते हैं और न तर्पणके जलकी इच्छा रखते या उसको पाकर तृप्त और संतुष्ट होते हैं। इसीप्रकार न वे किसी की धोती आदिका निचोड़ा हुआ पानी ग्रहण करते हैं और न किसी के शरीर परसे स्नानजलको पीते हैं। ये सब हिंदूधर्म की क्रियाएँ और कल्पनाएँ हैं।** हिन्दुओं के यहाँ साफ़ लिखा है कि 'जब कोई मनुष्य स्नानके लिये जाता है तब प्याससे विह्वल हुए देव और पितरगण, पानी की इच्छा से वायु का रूप धारण करके, उसके पीछे पीछे जाते हैं। और यदि वह मनुष्य योंही स्नान करके वस्त्र (धोती आदि) निचोड़ देता है तो वे देवपितर निराश होकर लौट जाते हैं। इसलिये तर्पण के पश्चात् वस्त्र निचोड़ना चाहिये पहले नहीं। जैसा कि उनके निम्नलिखित वचन से प्रकट है:—

स्नानार्थमभिगच्छन्तं देवाः पितृगणैः सह ।
वायुभूतास्तु गच्छन्ति तृषार्त्ताः सलिलार्थिनः ॥
निराशास्ते निवर्तन्ते वस्त्रनिष्पीडने कृते ।
अतस्तर्पणानन्तरमेव वस्त्रं निष्पीडयेत् ॥

—स्मृतिरत्नाकरे, वृद्धवसिष्ठः ।

परन्तु जैनियों का ऐसा सिद्धान्त नहीं है । जैनियों के यहाँ मरने के पश्चात् समस्त संसारी जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव, मनुष्य, नरक, और तिर्यंच, इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य चले जाते हैं । और अधिक से अधिक तीन समय तक निराहार रहकर तुरत दूसरा शरीर धारण करलेते हैं । इन चारों गतियों से अलग पितरों की कोई निराली गति नहीं होती, जहाँ वे बिलकुल ही परावलम्बी हुए असंख्यात या अनन्तकाल तक पड़े रहते हों । मनुष्यगति में जिस तरह पर वर्तमान मनुष्य—जो अपने पूर्वजन्मों की अपेक्षा बहुतों के पितर हैं—किसी के तर्पण जलको पीते नहीं फिरते उसी तरह पर कोई भी पितर किसी भी गति में जाकर तर्पण के जलकी इच्छा से विह्वल हुआ उसके पीछे पीछे मारा मारा नहीं फिरता। प्रत्येक गति में जीवों का आहारविहार उनकी उस गति, स्थिति तथा देशकाल के अनुसार होता है और उसका वह रूप नहीं है जो ऊपर बतलाया गया है । इस तरह पर भट्टारकजी का यह सब कथन जैनधर्मके विरुद्ध है, जीवोंकी गतिस्थित्यादि-विषयक अजानकारी तथा अश्रद्धा को लिये हुए है और कदापि जैनियों के द्वारा मान्य किये जाने के योग्य नहीं हो सकता ।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों में भी इस बातका उल्लेख मिलता है कि जैनधर्म में इस तर्पण को स्थान नहीं है जैसाकि उनके पद्मपुराण+ के निम्न

+ देखो 'आनन्दाश्रमसिरीज़ पूना' की छपी हुई आवृत्ति।

वाक्यों से प्रकट है जो कि ३६ वें अध्याय में एक दिगम्बर साधुद्वारा, राजा 'वेन' को जैनधर्म का कुछ स्वरूप बतलाते हुए, कहे गये हैं:—

पितृणां तर्पणं नास्ति नातिथिर्वैश्वदेविकम् ।
कृष्णस्य न तथा पूजा ह्यर्हन्तध्यानमुत्तमम् ॥१९॥
एवं धर्मसमाचारो जैनमार्गे प्रदृश्यते ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं जैनधर्मस्य लक्षणम् ॥२०॥

और जैनियों के 'यशस्तिलक' ग्रंथ से भी इस विषय का समर्थन होता है; जैसाकि उसके चौथे आश्वास के निम्न वाक्य से प्रकट है, जोकि राजा यशोधर की जैनधर्म-विषयक श्रद्धा को हटाने के लिये उनकी माता द्वारा, एक वैदिकधर्मावलम्बी की दृष्टि से जैनधर्म की त्रुटियों को बतलाते हुए, कहा गया है:—

न तर्पणं देवपितृद्विजानां स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।
श्रुतेः स्मृतेर्बाह्यतरे च धर्मे कथं पुत्र ! दिगम्बराणाम् ॥

अर्थात्—जिस धर्म में देवों, पितरों तथा द्विजों (ऋषियों) का तर्पण नहीं, (श्रुतिस्मृतिविहित) स्नान की—उसी पर्वांग स्नान की—और होमकी वार्ता नहीं, और जो श्रुति-स्मृति से अत्यन्त बाह्य है उस दिगम्बर जैनधर्म पर हे पुत्र ! तेरी बुद्धि कैसे ठहरती है ?—तुझे कैसे उसपर श्रद्धा होती है ?

इतने पर भी सोनीजी, अपने अनुवाद में, भट्टारकजी के इस तर्पण-विषयक कथन को जैनधर्म का कथन बतलाने का दुःसाहस करते हैं—लिखते हैं "यह तर्पण आदि का विधान जैनधर्म से बाहर का नहीं है किन्तु जैनधर्म का ही है" !! आपने, कुछ अनुवादों के साथ में लम्बे लम्बे भावार्थ जोड़कर, भट्टारकजी के कथन को जिस तिस प्रकार से जैनधर्म का कथन सिद्ध करने की बहुतेरी चेष्टा की, परन्तु आप उसमें कृतकार्य नहीं हो सके। और उस चेष्टा में आप कितनी ही ऊटपटाँग बातें

लिख गये हैं जिनसे आपकी **श्रद्धा, योग्यता** और **गुणज्ञता** का खासा दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है और उसे देखकर आपकी हालत पर बड़ा ही तर्स आता है । आप लिखते हैं–"व्यन्तरों का अनेक प्रकार का स्वभाव होता है । अतः किसी किसी का स्वभाव जल-ग्रहण करने का है । किसी किसी का वस्त्र निचोड़ा हुआ जल लेने का है । ये सब उनकी स्वभाविकी क्रियायें हैं ।" परन्तु कौन से जैनशास्त्रों में व्यन्तरों के इस स्वभावविशेष का उल्लेख है या इन क्रियाओं को उनकी स्वभाविकी क्रियाएँ लिखा है, इसे आप बतला नहीं सके । आप यहाँ तक तो लिखगये कि "जैनशास्त्रों में साफ़ लिखा है कि व्यन्तरों का **ऐसा** स्वभाव है और वे क्रीड़ानिमित्त **ऐसा** करते हैं—ऐसी क्रियायें करा कर वे शान्त होते हैं" परन्तु फिर भी किसी माननीय जैनशास्त्र का एक भी वाक्य प्रमाण में उद्धृत करते हुए आप से बन नहीं पड़ा तब आपका यह सब कथन **थोथा वाग्जाल** ही रह जाता है । मालूम होता है अनेक प्रकार के स्वभाव पर से आप सब प्रकार के स्वभाव का नतीजा निकालते हैं, और यह आपका विलक्षण तर्क है !! व्यन्तरों का सब प्रकार का स्वभाव मानकर और उनकी सब इच्छाओं को पूरा करना अपना कर्तव्य समझ कर तो सोनीजी बहुत ही आपत्ति में पड़ जायँगे और उन्हें व्यन्तरों के पीछे नाचते नाचते दम लेने की भी फ़ुर्सत नहीं मिलेगी । खेद है सोनीजीने यह नहीं सोचा कि प्रथम तो व्यन्तर देव क्रीड़ा के निमित्त जिन जिन चीज़ों की इच्छाएँ करें उनको पूरा करना श्रावकों का कोई कर्तव्य नहीं है—श्रावकाचार में ऐसी कोई विधि नहीं है—व्यन्तरदेव यदि मांसभक्षण की क्रीड़ा करने लगें तो कोई भी श्रावक पशुओं को मारकर उन्हें बलि नहीं चढ़ाएगा, और न स्त्रीसेवन की क्रीड़ा करने पर अपनी स्त्री या पुत्री ही उन्हें संभोग के लिये देगा । दूसरे, यदि किसी तरह पर उनकी इच्छा को पूरा भी किया

जाय तो वह तभी तो किया जा सकता है जब वैसी कोई इच्छा व्यक्त हो—कोई व्यन्तर क्रीडा करता हुआ किसी तरह पर प्रकट करे कि मुझे इस वक्त धोती निचोड़े का पानी चाहिये तो वह उसे दिया जा सकता है—परंतु जब वैसी कोई इच्छा या क्रीडा व्यक्त ही न हो अथवा उसका अस्तित्व ही न हो तब भी उसकी पूर्ति की चेष्टा करना—बिना इच्छा भी किसी को जल पीने के लिये मजबूर करना अथवा पीने वाले के मौजूद न होते हुए भी पिलाने का ढोंग करना—क्या अर्थ रखता है ? यह निरा पागलपन नहीं तो और क्या है ? क्या व्यन्तरदेवों को ऐसा असहाय या महाव्रती समझ लिया है जो वे बिना दूसरों के दिये स्वयं जल भी कहीं से ग्रहण न कर सकें ? वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भट्टारकजी का आशय यदि इस तर्पण से व्यन्तरों के क्रीडा-उद्देश्य की सिद्धि मात्र होता तो वे वैसी क्रीडा के समय ही अथवा उस प्रकार की सूचना मिलने पर ही तर्पण का विधान करते; क्योंकि कोई क्रीडा या इच्छा सार्वकालिक और स्थायी नहीं होती। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिदिन और प्रत्येक स्नान के साथ में तर्पण का विधान किया है; और उनकी व्यवस्थानुसार एक दिन में बीसियों बार स्नान की नौबत आ सकती है। अतः भट्टारकजी का यह तर्पणविधान व्यन्तरों के क्रीडा उद्देश्य को लेकर नहीं है किन्तु सीधा और साफ़ तौर पर हिन्दुओं के सिद्धान्त का अनुसरण मात्र है। और इसलिए यह सोनीजी की अपनी ही कल्पना और अपनी ही ईजाद है जो वे इस तर्पण को व्यन्तरों की क्रीडा के साथ बाँधते हैं और उसे किसी तरह पर खींचखाँचकर जैनधर्म की कोटि में लानेका निष्फल प्रयत्न करते हैं। ११ वें श्लोक के भावार्थ में तो सोनीजी यह भी लिख गये हैं कि "व्यन्तरों को जल किसी उद्देश्य से नहीं दिया जाता है"! हेतु ? " क्योंकि यह बात श्लोक ही साफ़ कह रहा है कि कोई

बिना संस्कार किये हुए मर गये हों, मरकर व्यंतर * हुए हों और मेरे हाथ से जल लेने की वांछा रखते हों तो उनको मैं सहज (यह जल) देता हूँ। इसमें कहीं भी किसी विषय का उद्देश्य नहीं है।" परंतु श्लोक में तो जलदान का उद्देश्य साफ़ लिखा है 'तेषां संतोषतृप्त्यर्थं'—उनके सन्तोष और तृप्ति के लिये—और आपने भी अनुवाद के समय इसका अर्थ "उनके संतोष के लिये" दिया है। यह उद्देश्य नहीं तो और क्या है? इसके सिवाय पूर्ववर्ती श्लोक नं० १० में एक दूसरा उद्देश्य और भी दिया है और वह है 'उस पाप की विशुद्धि जो शारीरिक मल के द्वारा जल को मैला अथवा दूषित करने से उत्पन्न होता है'। यथा:—

× यन्मया दुष्कृतं पापं [दूषितं तोयं] शारीरमलसंभवम् [वात्]
तत्पापस्य विशुद्ध्यर्थं देवानां तर्पयाम्यहम् ॥१०॥

ऐसी हालत में सोनीजी का यह तर्पण के उद्देश्य से इनकार करना, उसे आगे चलकर श्लोक के दूसरे अधूरे अर्थ के नीचे छिपाना और इस तरह स्वपरप्रयोजन के बिना ही ‡ तर्पण करने की बात कहना कितना हास्यास्पद जान पड़ता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। क्या यही गुरुमुख से शास्त्रों का सुनना, उनका मनन करना और भाषा की ठीक योग्यता का रखना कहलाता है, जिसके लिये आप अपना अहंकार प्रकट करते और दूसरों पर आक्षेप करते हैं? मालूम होता है सोनीजी उस समय कुछ बहुत ही विचलित और अस्थिरचित्त थे।

---

* 'व्यन्तर' का यह नामनिर्देश मूल श्लोक में नहीं है।

× यह हिन्दुओं का यक्ष्मतर्पण का श्लोक है और उनके यहाँ इसका चौथा चरण 'यक्ष्मैतत्ते तिलोदकम्' दिया है। (देखो 'आह्निकसूत्रावलि')

‡ 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते'—बिना प्रयोजन उद्देश्य के तो मूर्ख की भी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर सोनीजी ने क्या समझकर यह बिना उद्देश्य की बात कही है!!

उन्हें इस तर्पण को जैनधर्म का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये कोई ठीक युक्ति सूझ नहीं पड़ती थी, इसीसे वे वैसे ही यद्वा तद्वा कुछ बहकी बहकी बातें लिखकर ग्रंथ के कई पेजों को रँग गये हैं। और शायद यही वजह है जो वे दूसरों पर मूर्खतापूर्ण अनुचित कटाक्ष करने का भी दुःसाहस कर बैठे हैं, जिसकी चर्चा करना यहाँ निरर्थक जान पड़ता है।

१८ वें श्लोक के भावार्थ में, कितनी ही विचलित बातों के अतिरिक्त, सोनीजी लिखते हैं:—

" यद्यपि देवों में मानसिक आहार है, पितृगण कितने ही मुक्ति स्थान को पहुँच गये हैं इसलिये इनका पानी पीना असम्भव जान पड़ता है। इसी तरह यक्ष, गंधर्वों और सारे जीवों का भी शरीर के जल का पानी (पीना!) असम्भव है, पर फिर भी ऐसा जो लिखा गया है उसमें कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य छुपा हुआ है (जो सोनीजी की समझ के बाहर है और जिसके जानने का उनके कथनानुसार इस समय कोई साधन भी नहीं है!)।"

" यद्यपि इस श्लोक का विषय असम्भव सा जान पड़ता है परन्तु फिर भी वह पाया जाता है। अतः इसका कुछ न कुछ तात्पर्य अवश्य है। व्यर्थ बातें भी कुछ न कुछ अपना तात्पर्य ज्ञापन कराकर सार्थक हो जाती हैं (परन्तु इस श्लोक की व्यर्थ बातें तो सोनीजी को अपना कुछ भी तात्पर्य न बतला सकीं!)।"

इन उद्गारों के समय सोनीजी के मस्तिष्क की हालत उस मनुष्य जैसी मालूम होती है जो घर से यह खबर आने पर रो रहा था कि 'तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई है' और जब लोगों ने उसे समझाया कि तुम्हारे जीते तुम्हारी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है तब उसने सिसकियाँ लेते हुए कहा था कि 'यह तो मैं भी जनता हूँ कि मेरे जीते मेरी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है परन्तु घर से जो आदमी खबर लाया है वह बड़ा ही विश्वासपात्र है, उसकी बात को झूठ कैसे कहा जा सकता

है ! वह ज़रूर विधवा हो गई है,' और यह कहकर और भी ज्यादा फूट फूटकर रोने लगा था; और तब लोगों ने उसकी बहुत ही हँसी उड़ाई थी। सोनीजी की दृष्टि में भट्टारकजी का यह ग्रंथ घर के उस विश्वासपात्र आदमी की कोटि में स्थित है। इसीसे साक्षात् असम्भव जान पड़ने वाली बातों को भी, इसमें लिखी होने के कारण, आप सत्य समझने और जैन-धर्मसम्मत प्रतिपादन करने की मूर्खता कर बैठे हैं! **यह है आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता का एक नमूना!! अथवा गुरुमुख से शास्त्रों के अध्ययन और मनन की एक बानगी!!!**

सोनीजी को इस बात की बड़ी ही चिन्ताने घेरा मालूम होता है कि 'कहीं ऐसी असम्भव बातों को भी यदि झूठ मान लिया गया तो शास्त्र की कोई मर्यादा ही न रहेगी, फिर हर कोई मनुष्य चाहे जिस शास्त्र की बात को, जो उसे अनिष्ट होगी, फ़ौरन अलीक (झूठ) कह देगा, तब सर्वत्र अविश्वास फैल जायगा और कोई भी क्रिया ठीक ठीक न बन सकेगी!' इस बिना सिर पैर की निःसार चिन्ता के कारण ही आपने शास्त्र की—नहीं नहीं शास्त्र नाम की—मर्यादाका उल्लंघन न करनेका जो परामर्श दिया है उसका यही आशय जान पड़ता है कि शास्त्र में लिखी उलटी सीधी, भली बुरी, विरुद्ध अविरुद्ध और सम्भव असम्भव सभी बातों को बिना चूँ चरा किये और कान हिलाए मान लेना चाहिये नहीं तो शास्त्र की मर्यादा बिगड़ जायगी!! वाह! क्या ही अच्छा सत्परामर्श है!! **अंधश्रद्धा का उपदेश इससे भिन्न और क्या होगा** वह कुछ समझ में नहीं आता!!! मालूम होता है सोनीजी को सत्य शास्त्र के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं। सच्चे शास्त्र तो आप्त पुरुषों के कहे होते हैं—उनमें कहीं उलटी, बुरी, विरुद्ध और असम्भव बातें भी हुआ करती हैं? वे तो वादी-प्रतिवादी के द्वारा अनुल्लंघ्य, युक्ति तथा आगम से विरोधरहित, यथावत् वस्तुस्वरूप के उप

देशक, सर्व के हितकारी और कुमार्ग का मथन करने वाले होते हैं * । ऐसे शास्त्रों के विषय में उक्त प्रकार की चिंता करने के लिये कोई स्थान ही नहीं होता—वे तो खुलेमैदान परीक्षा के लिये छोड़ दिये जाते हैं—उनके विषय में भी उक्त प्रकार की चिन्ता व्यक्त करना अपनी श्रद्धा की कचाई और मानसिक दुर्बलता को प्रकट करना है। इसके सिवाय, सोनीजी को शायद यह भी मालूम नहीं कि 'कितने ही भ्रष्टचारित्र पंडितों और बठरसाधुओं (मूर्ख तथा धूर्त मुनियों) ने जिनेन्द्रदेव के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है—कितनी ही असत् बातों को, इधर उधर से अपनी रचनादिकों के द्वारा, शासन में शामिल करके उसके स्वरूप को विकृत कर दिया है' (इससे परीक्षा की और भी खास ज़रूरत खड़ी हो गई है‡)—; जैसा कि अनगारधर्मामृत की टीका में पं०-आशाधरजी के द्वारा उद्धृत किसी विद्वान् के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

> पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
> शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

सोमसेन भी उन्हीं बठर अथवा धूर्त साधुओं में से एक थे, और यह बात ऊपर की आलोचना परसे बहुत कुछ स्पष्ट है। उनकी इस महा आपत्तिजनक रचना (त्रिवर्णाचार) को सत्यशास्त्र का नाम देना वास्तव में सत्य शास्त्रों का अपमान करना है। अतः सोनीजी की चिन्ता, इस विषय में,

---

* जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से प्रकट है:—

> आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ (रत्नकरण्ड श्रा०)

‡ इसी बातको लक्ष्य करके किसी कवि ने यह वाक्य कहा है—

> जिनमत महल मनोज्ञ अति कलियुग छादित पंथ ।
> समझ बूझ के परखिये चर्चा निर्णय ग्रंथ ॥

और बड़े बड़े आचार्यों ने तो पहले से ही परीक्षाप्रधानी होने का उपदेश दिया है—अन्धश्रद्धालु बनने का नहीं।

बिलकुल ही निर्मूल जान पड़ती है और उनकी अस्थिरचित्तता तथा दुलमुलयकीनी को और भी अधिकता के साथ साबित करती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सोनीजी की यह अस्थिरचित्तता बहुत दिनों तक उनका पिण्ड पकड़े रही है—सम्भवतः ग्रंथ के छप जाने तक भी आपका चित्त डाँवाडोल रहा है—और तब कहीं जाकर आपको इन पद्यों पर कुछ संदेह होने लगा है। इसीसे शुद्धिपत्र-द्वारा, १३वें और १७वें श्लोकके अनुवाद पीछे एक एक नया भावार्थ जोड़नेकी सूचना देते हुए, आपने उन भावार्थों में ११ से १३ और १७ से १९ नम्बर तक के छह श्लोकों पर 'क्षेपक' होने का संदेह प्रकट किया है—निश्चय उसका भी नहीं—और वह संदेह भी निर्मूल जान पड़ता है। इन पद्योंको क्षेपक माननें पर १० वें नम्बर का पद्य निरर्थक हो जाता है, जिसमें उद्देशविशेष से देवों के तर्पण की प्रतिज्ञा की गई है और उस प्रतिज्ञा के अनुसार ही अगले श्लोकों में तर्पण का विधान किया गया है। १३ वाँ श्लोक खुद वस्त्र-निचोड़ने का मंत्र है और हिन्दुओं के यहाँ भी उसे मंत्र लिखा है; जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है। सोनीजी ने उसे मंत्र ही नहीं समझा और वस्त्र निचोड़नेका कोई मंत्र न होनेके आधार पर इन श्लोकोंके क्षेपक होने की कल्पना कर डाली!! अतः ये श्लोक क्षेपक नहीं—ग्रंथ में वैसे ही पीछे से शामिल होगये अथवा शामिल कर लिये गये नहीं—किंतु भट्टारकजी की रचना के अंगविशेष हैं। जिनसेनत्रिवर्णाचार में सोमसेन-त्रिवर्णाचार की जो नकल की गई है उसमें भी वे उद्धृत पाये जाते हैं।

यहाँ तक के इस सब कथन से यह स्पष्ट है कि भट्टारकजी ने हिंदुओं के तर्पणसिद्धांत को अपनाया है और वह जैनधर्म के विरुद्ध है। सोनीजी ने उसे जैनधर्मसम्मत प्रतिपादन करने और इस तरह सत्य पर पर्दा डालने की जो अनुचित चेष्टा की है उसमें वे ज़रा भी सफल नहीं हो सके और अंत में उन्हें कुछ पद्यों पर थोथा संदेह करते ही बना। साथ में आपकी श्रद्धा और गुणज्ञता आदि का जो प्रदर्शन हुआ सो जुदा रहा।

अब रही श्राद्ध और पिण्डदान की बात। ये विषय भी जैन धर्म से बाहर की चीज़ हैं और हिंदूधर्म से ख़ास सम्बंध रखते हैं। भट्टारकजी ने इन्हें भी अपनाया है और अनेक स्थानों पर इनके करने की प्रेरणा तथा व्यवस्था की है *। पितरों का उद्देश्य करके दिया

---

* जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

तीर्थतटे प्रकर्तव्यं प्राणायामं तथाचमम्।
सन्ध्या श्राद्धं च पिण्डस्य दानं गेहेऽथवा शुचौ ॥३-७७॥

इसमें श्राद्ध तथा पिण्डदान को तीर्थतट पर या घर में किसी पवित्र स्थान पर करने की व्यवस्था की है।

नान्दीश्राद्धं च पूजां च'''। सर्वं कुर्याच्च तस्याग्रे'''॥९-१९॥

इसमें 'नान्दीश्राद्ध' के करने की प्रेरणा की गई है, जो हिन्दुओं के श्राद्ध का एक विशेष है।

एकमेव पितुश्श्राद्धं कुर्याद्देशे दशाहनि।
ततो वै मातृके श्राद्धं कुर्यादाद्यादि षोडश ॥१३-७८॥

इसमें अवस्थाविशेष को लेकर माता और पिता के श्राद्धों का विधान किया गया है।

तद्देहप्रतिबिम्बार्थं मण्डपे तद्दिनेऽपि वा।
स्थापयेदेकमश्मानं तीरे पिण्डादिदत्तये ॥ १६९ ॥
पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्याच्छिलाग्रतः।
सर्वेऽपि बन्धवो दद्युः स्नातास्तत्र तिलोदकं ॥ १७० ॥
एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते।
पिण्डं तिलोदकं चापि कर्ता दद्याच्चदान्वहं ॥ १७६ ॥
पिण्डप्रदानतः पूर्वमन्ते च स्नानमिष्यते।
पिण्डः कपित्थमात्रश्च स च शाल्यन्धसा कृतः ॥१७७॥
तत्पाकश्च बहिः कार्यस्तत्पात्रं च शिलापि च।
कर्तुः संव्यानकं चापि बहिः स्थाप्यानि गोपिते ॥ १७८ ॥

—१३ वाँ अध्याय।

इन पद्यों में मृतक संस्कार के अनन्तर वाले पिण्डदान का विधान है और उसके विषय में लिखा है कि 'पिण्डादिक देने के लिये जलाशय के किनारे पर उस मृतक की देह के प्रतिनिधिरूप

हुआ अन्नादिक पितरों के पास पहुँच जाता है और उनकी तृप्ति आदि सम्पादन करता है, ऐसी श्रद्धा से शास्त्रोक्तविधि के साथ जो अन्नादिक

से एक पत्थर की स्थापना करनी चाहिये, संस्कारकर्ता को उस पत्थर के आगे पिण्ड और तिलोदक देना चाहिये और स्नान किये हुए बन्धुओं को भी वहाँ पर तिलोदक चढ़ाना चाहिये। संस्कारकर्त्ता को बराबर दस दिन तक इसी तरह पर पिण्ड और तिलोदक देते रहना चाहिये, पिण्डदान से पहले और पीछे भी स्नान करना चाहिये और वह पिण्ड पके चावलों का कपित्थ (कैथ या वेल) के आकार जितना होना चाहिये। चावल भी घर से बाहर पकाये जायँ और पकाने का पात्र, वह पत्थर, तथा पिण्डदान-समय पहनने के वस्त्र ये सब चीज़ें बाहर ही किसी गुप्त स्थान में रखनी चाहियें।'

श्रद्धयान्नप्रदानं तु सद्भ्यः श्राद्धमितीष्यते ।
मासे मासे भवेच्छ्राद्धं तद्दिने वत्सरावधि ॥ १६३ ॥
अत ऊर्ध्वं भवेदब्दश्राद्धं तु प्रतिवत्सरं ।
आद्वादशाब्दमेवैतत्क्रियते प्रेतगोचरम् ॥ १६४ ॥

इन पद्यों में प्रेत के उद्देश्य से किये गये श्राद्ध का स्वरूप और उसके भेदों का उल्लेख किया गया है। लिखा है कि श्रद्धा से—श्रद्धा विशेष से—किये गये अन्नदान को श्राद्ध कहते हैं और उसके दो भेद हैं १ मासिक और २ वार्षिक। जो मृतक तिथि के दिन हर महीने साल भर तक किया जाय वह मासिक श्राद्ध है और जो उसके बाद प्रतिवर्ष बारह वर्ष तक किया जाय उसे वार्षिक श्राद्ध जानना चाहिये। यहाँ श्राद्ध का जो व्युत्पत्यात्मक स्वरूप दिया है वह प्रायः वही है जो हिन्दुओं के यहाँ पाया जाता है और जिसे उनके 'श्राद्धतत्त्व' में 'वैदिकप्रयोगाधीनयौगिक' लिखा है, जैसा कि अगले फुटनोट से प्रकट है। और इसमें जिस श्रद्धा का उल्लेख है वह भी वही 'पितुद्देश्यक श्रद्धा' अथवा 'प्रेतोद्देश्यक श्रद्धा' है जिसे हिन्दुओं के पद्मपुराण में भी जैनियों की ओर से 'निरर्थिका' बतलाया है और जो जैनदृष्टि से बहुत कुछ आपत्ति के योग्य है। श्रद्धा के इस सामान्य प्रयोग की वजह से कुछ लोगों को जो भ्रम होता था वह अब दूर हो सकेगा।

दिया जाता है उसका नाम श्राद्ध * है। हिंदुओं के यहाँ तर्पण और श्राद्ध ये दोनों विषय क़रीब क़रीब एक ही सिद्धांत पर अवस्थित हैं। दोनों को 'पितृयज्ञ' कहते हैं। भेद सिर्फ़ इतना है कि तर्पण में अंजलि से जल छोड़ा जाता है, किसी ब्राह्मणादिक को पिलाया नहीं जाता। देव पितरगण उसे सीधा ग्रहण करलेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। परंतु श्राद्ध में प्रायः ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाता है अथवा सूखा अन्नादिक दिया जाता है। और जिस प्रकार लैटरबॉक्स में डाली हुई चिट्ठी दूर देशांतरों में पहुँच जाती है उसी प्रकार मानो ब्राह्मणों के पेट में से वह भोजन देव पितरों के पास पहुँच कर उनकी तृप्ति कर देता है। इसके सिवाय कुछ क्रियाकांड का भी भेद है। पिण्डदान भी श्राद्ध का ही एक रूपविशेष है, उसका भी उद्देश्य पितरों को तृप्त करना है और वह भी 'पितृयज्ञ' कहलाता है। इसमें पिण्ड को पृथ्वी आदिक पर डाला जाता है—किसी ब्राह्मणादिक के पेट में नहीं—और उसे प्रकट रूप में कौए आदिक खाजाते हैं। इस तरह पर श्राद्ध और पिण्डदान ये दोनों कर्म प्रक्रियादि के भेद से, पितृतर्पण के ही भेदविशेष हैं—इन्हें प्रकारांतर से 'पितृतर्पण' कहा भी जाता है—और इसलिये इनके विषय में अब मुझे अधिक कुछ भी लिखने की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ इतना और बतला देना चाहता हूँ कि हिंदू ग्रंथों में 'श्राद्ध' नाम से भी इस विषयका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वह जैनधर्मसम्मत नहीं है, जैसाकि उनके 'पद्मपुराण' के निम्न वाक्यों से प्रकट है, जो कि ३९वें अध्याय में उसी दिगम्बरसाधु-द्वारा, श्राद्ध के निषेध में, राजा 'वेन' के प्रति कहे गये हैं:—

* श्राद्धं—शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म इत्यमरः। पित्रुद्देश्यक-श्रद्धयाऽन्नादि दानम्। ...."श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते" इति पुलस्त्यवचनात्। 'श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं' इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्' इति श्राद्धतत्त्वम्। अपिच, सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। —शब्दकल्पद्रुम।

श्राद्धं कुर्वन्ति मोहेन त्वयाहे पितृतर्पणम् ।
काऽऽस्ते मृतः समश्नाति कीदृशोऽसौ नरोत्तम ॥ २९ ॥
किं स्थानं कीदृशं कार्यं केन दृष्टं वदस्व नः ।
मिष्टमन्नं प्रभुक्ता तु तृप्तिं यान्ति च ब्राह्मणाः ॥ ३० ॥
कस्य श्राद्धं प्रदीयेत सा तु श्रद्धा निरर्थिका ।
अन्यदेवं प्रवक्ष्यामि वेदानां कर्मदारुणम् ॥ ३१ ॥

इन वाक्यों में श्राद्ध को साफ़ तौर पर 'पितृतर्पण' लिखा है, और उससे श्राद्ध का उद्देश्य भी कितना ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह बतलाया है कि जिस (पितृतृप्ति उद्देश्य की) श्रद्धा से उसका विधान किया जाता है वह श्रद्धा ही निरर्थक है—उसमें कुछ सार ही नहीं—इस श्राद्धसे पितरोंकी कोई तृप्ति नहीं होती किन्तु ब्राह्मणों की तृप्ति होती है। इसी तरह पर उक्त पुराण के १३ वें अध्याय में भी दिगम्बर जैनों की ओर से श्राद्ध के निषेध का उल्लेख मिलता है।

ऐसी हालत में जैनग्रंथों से श्राद्धादि के निषेध—विषयक अवतरणों के देने की—जो बहुत कुछ दिये जा सकते हैं—यहाँ कोई जरूरत मालूम नहीं होती। जैनसिद्धांतों से वास्तव में इन विषयों का कोई मेल ही नहीं है। और अब तो बहुत से हिंदू भाइयों की भी श्रद्धा श्राद्ध पर से उठती जाती है और वे उसमें कुछ तत्व नहीं देखते। हाल में स्वर्गीय मगनलाल गाँधीजी के विवेकी वीरपुत्र केशव भाई ने अपने पिता की मृत्यु के १० वें दिन जो मार्मिक उद्गार महात्मा गाँधीजी पर प्रकट किये हैं और जिन्हें महात्माजी ने बहुत पसंद किया तथा कुटुम्बीजनोंने भी अपनाया वे इस विषय में बड़ा ही महत्व रखते हैं और उनसे कितनी ही उपयोगी शिक्षा मिलतीहै। वे उद्गार इस प्रकार हैं:—

"श्राद्ध करने में मुझे श्रद्धा नहीं है। और असत्य तथा मिथ्या का आचरण कर मैं अपने पिता का तर्पण

कैसे करूँ? इसकी अपेक्षा तो जो वस्तु पिताजीको प्रिय थी वही करूँगा । गीता का पारायण तीन दिन करूँगा और तीनों दिन १२ घण्टे रोज़ चर्चा चलाऊँगा"। -हि० नव०

परंतु हमारे सोनीजी, जैन पंडित होकर भी, अभीतक 'लकीर के फ़कीर' बने हुए हैं, 'बाबावाक्यं प्रमाणं' की नीति का अनुसरण करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं और लोगों को 'अन्धश्रद्धालु' बनने तथा बने रहने का उपदेश देते हैं, यह बड़ा ही आश्चर्य है !! उन्हें कम से कम केशव भाई के इस उदाहरण से ही कुछ शिक्षा लेनी चाहिये।

मेरा विचार था कि मैं और भी कुछ विरुद्ध कथनों को दिखलाऊँ, विरुद्ध कथनों के कितने ही शीर्षक नोट किये हुए पड़े हैं—खासकर 'त्रिवर्णाचार के पूज्य देवता' शीर्षक के नीचे मैं कुदेवों की पूजा को दिखला कर उसकी विस्तृत आलोचना करना चाहता था परंतु उसके लिये लम्बा लिखने की ज़रूरत थी और लेख बहुत बढ़गया है इसलिये उस विचार को भी छोड़ना ही पड़ा । मैं समझता हूँ विरुद्ध कथनों का यह सब दिग्दर्शन काफ़ी से भी ज़्यादा हो गया है और इसलिये इतने पर ही सन्तोष किया जाता है ।

इन सब विरुद्ध कथनों के मौजूद होते हुए और अजैन विषयों तथा वाक्यों के इतने भारी संग्रहकी उपस्थितिमें—अथवा ग्रंथकी स्थिति के इस दिग्दर्शन के सामने—सोनीजी के निम्न वाक्यों का कुछ भी मूल्य नहीं रहता, जो उन्होंने ग्रंथ के अनुवाद की भूमिका में दिये हैं:—

(१) "हमें तो ग्रंथ-परिशीलन से यही मालूम हुआ कि ग्रंथकर्ता की जैनधर्म पर असीम भक्ति थी, अजैन विषयों से वे परहेज़ करते थे। लोग खामुखाँ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उनपर अवर्णवाद लगाते हैं।"

(२) "ग्रंथ की मूल भित्ति आदिपुराण पर से खड़ी हुई है।" ......"इस ग्रंथ के विषय ऋषिप्रणीत आगम में कहीं संक्षेप से और

कहीं विस्तार से पाये जाते हैं। अतएव हमें तो इस ग्रंथ में न अप्रमाणता ही प्रतीत होती है और न आगमविरुद्धता ही।"

मालूम होता है ये वाक्य महज लिखने के लिये ही लिखे गये हैं, अथवा ग्रंथ का रंग जमाना ही इनका एक उद्देश्य जान पड़ता है। **अन्यथा, ग्रंथ के परिशीलन, तुलनात्मक अध्ययन और विषय की गहरी जाँच के साथ इनका कुछ भी सम्बंध नहीं है।** सोनीजी के हृदय में यदि किसी समय विवेक जागृत हुआ तो उन्हें अपने इन वाक्यों और इसी प्रकार के दूसरे वाक्यों के लिये भी, जिन में से कितने ही ऊपर यथास्थान उद्धृत किये जा चुके हैं, जरूर खेद होगा और आश्चर्य अथवा असंभव नहीं जो वे अपनी भूल को स्वीकार करें। यदि ऐसा हो सका और शैतान ने कान में फूँक न मारी तो यह उनके लिये निःसन्देह बड़े ही गौरव का विषय होगा। अस्तु।

उपसंहार।

त्रिवर्णाचार की इस सम्पूर्ण परीक्षा और अनुवादादि-विषयक आलोचना पर से सहृदय पाठकों तथा विवेकशील विचारकों पर ग्रंथ की असलियत खुले बिना नहीं रहेगी और वे सहज ही में यह नतीजा निकाल सकेंगे कि यह ग्रंथ जिसे भट्टारकजी 'जिनेन्द्रागम' तक लिखते हैं **वास्तव में कोई जैनग्रंथ नहीं किंतु जैनग्रंथों का कलंक है।** इसमें रत्नकरण्डश्रावकाचारादि जैसे कुछ आर्ष ग्रंथों के वाक्यों का जो संग्रह किया गया है वह ग्रंथकर्ता की एक प्रकार की चालाकी है, धोखा है, मुलम्मा है, अथवा विरुद्धकथनरूपी जाली सिक्कों को चलाने आदि का एक साधन है। भट्टारकजी ने उनके सहारे से अथवा उनकी ओट में उन मुसलमानों की तरह अपना उल्लू सीधा करना चाहा है जिन्होंने भारत पर आक्रमण करते समय गौओं के एक समूह को अपनी सेना के आगे कर दिया था। और जिस प्रकार गोहत्या के भय से हिन्दुओं

ने उनपर आक्रमण नहीं किया उसी प्रकार शायद आर्षवाक्यों की अवहेलना का कुछ खयाल करके उन जैन विद्वानों ने जिनके परिचय में यह ग्रंथ अबतक आता रहा है इसका जैसा चाहिये वैसा विरोध नहीं किया। परन्तु आर्षवाक्य और आर्षवाक्यों के अनुकूल कहेगये दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों के वाक्य अपने अपने स्थान पर माननीय तथा पूजनीय हैं; भट्टारकजी ने उन्हें यहाँ जैनधर्म, जैनसिद्धान्त, जैननीति तथा जैनशिष्टाचार आदि से विरोध रखने वाले और जैनादर्श से गिरे हुए कथनों के साथ में गूँथ कर अथवा मिलाकर उनका दुरुपयोग किया है और इस तरह पर समूचे ग्रंथ को विषमिश्रित भोजन के समान बना दिया है, जो त्याग किये जाने के योग्य है। विषमिश्रित भोजन का विरोध जिस प्रकार भोजन का विरोध नहीं कहलाता उसी तरह पर इस त्रिवर्णाचार के विरोध को भी आर्षवाक्यों अथवा जैनशास्त्रों का विरोध या उनकी कोई अवहेलना नहीं कहा जा सकता। जो लोग भ्रमवश अभीतक इस ग्रंथ को किसी और ही रूप में देख रहे थे—जैन शास्त्र के नाम की मुहर लगी होने से इसे साक्षात् जिनवाणी अथवा जिनवाणी के तुल्य समझ रहे थे और इसलिये इसकी प्रकट विरोधी बातों के लिये भी अपनी समझ में न आने वाले अविरोध की कल्पनाएँ करके शान्त होते थे—उन्हें अपने उस अज्ञान पर अब ज़रूर खेद होगा, वे भविष्य में बहुत कुछ सतर्क तथा सावधान हो जायँगे और योंही इन त्रिवर्णाचार जैसे भट्टारकीय ग्रंथों के आगे सिर नहीं झुकाएँगे। वास्तव में, यह सब ऐसे ग्रंथों का ही प्रताप है जो जैन-समाज अपने आदर्श से गिरकर बिलकुल ही अनुदार, अन्धश्रद्धालु तथा संकीर्णहृदय बनगया है, उसमें अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि कुसंस्कारों ने अपना घर बना लिया है और वह बुरी तरह से कुरीतियों के जाल में

फँसा हुआ है। साथ ही, उसके व्यक्तियों में आम, तौर, पर, ढूँढने पर भी जैनत्व का कोई खास लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। इन सब त्रुटियों को दूरकरके अपना उद्धार करने के लिये समाज को ऐसे विकृत तथा दूषित साहित्य से अपने व्यक्तियों को सुरक्षित रखना होगा और ऐसे जाली, ढोंगी तथा कपटी ग्रंथों का सबल विरोध करके उनके प्रचार को रोकना होगा। **साथ ही, विचारस्वातंत्र्य को उत्तेजन देना होगा, जिससे सत्य असत्य, योग्य अयोग्य और हेयादेय की खुली जाँच हो सके और उसके द्वारा समाज के व्यक्तियों की साम्प्रदायिक मोहमुग्धता तथा अन्धी श्रद्धा दूर होकर उन्हें यथार्थ वस्तुस्थिति के परिज्ञान-द्वारा अपने विकास का ठीक मार्ग सूझ पड़े और उसपर चलने का यथेष्ट साहस भी बन सके।** इन्हीं सदुद्देश्यों को लेकर इस परीक्षा के लिये इतना परिश्रम किया गया है। आशा है इस परीक्षा से बहुतों का अज्ञान दूर होगा, भट्टारकीय साहित्य के कितने ही विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और उससे जैन अजैन सभी भाई लाभ उठाएँगे।

अन्त में सत्य के उपासक सभी जैन विद्वानों से मेरा सादर निवेदन है कि वे लेखक के इस सम्पूर्ण कथन तथा विवेचन की यथेष्ट जाँच करें और साथ ही भट्टारकजी के इस ग्रंथ पर अब अपने खुले विचार प्रकट करने की कृपा करें। यदि परीक्षा से उन्हें भी यह ग्रंथ ऐसा ही निकृष्ट तथा हीन जँचे तो समाजहित की दृष्टि से उनका यह जरूर कर्तव्य होना चाहिये कि वे इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाएँ और समाज में इसके विरोध को उत्तेजित करें, जिससे धूर्तोंकी की हुई जैनशासन की यह मलिनता दूर हो सके। इत्यलम्।

सरसावा जि० सहारनपुर
ज्येष्ठ कृ० १३, सं० १९८५

जुगलकिशोर मुख्तार

धर्मपरीक्षाकी परीक्षा।

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च ॥

—सोमदेवः।

श्वेताम्बर जैनसम्प्रदायमें, श्रीधर्मसागर महोपाध्यायके शिष्य पद्मसागर गणीका बनाया हुआ 'धर्मपरीक्षा' नामका एक संस्कृत ग्रंथ है, जिसे, कुछ समय हुआ, सेठ देवचंदलालभाईके जैनपुस्तकोद्धार फंड बम्बईने छपाकर प्रकाशित भी किया है। यह ग्रंथ संवत् १६४५ का बना हुआ है। जैसा कि इसके अन्तमें दिये हुए निम्नपद्यसे प्रकट है:—

तद्राज्ये विजयिन्यनन्यमतयः श्रीवाचकाग्रेसरा
द्योतन्ते भुवि धर्मसागरमहोपाध्यायशुद्धा धिया।
तेषां शिष्यकरणेन पंचयुगषट्चंद्रांकिते (१६४५) वत्सरे
वेलाकूलपुरे स्थितेन रचितो ग्रन्थोऽयमानन्दतः ॥१४८३॥

दिगम्बर जैनसम्प्रदायमें भी 'धर्मपरीक्षा' नामका एक ग्रंथ है जिसे श्रीमाधवसेनाचार्यके शिष्य अमितगति नामके आचार्यने विक्रमसंवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। यह ग्रंथ भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथका रचना-संवत् सूचक अन्तिम पद्य इसप्रकार है:—

संवत्सराणां विगते सहस्रे, ससप्ततौ (१०७०) विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं, जिनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रम् ॥ २० ॥

इन दोनों ग्रंथोंका प्रतिपाद्य विषय प्रायः एक है। दोनोंमें 'मनोवेग' और 'पवनवेग' की प्रधान कथा और उसके अंतर्गत अन्य अनेक उपकथाओंका समान रूपसे वर्णन पाया जाता है; बल्कि एकका साहित्य दूसरे

के साहित्यसे यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेकी नक़ल कहना कुछ भी अनुचित न होगा। श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' जो इस लेखका परीक्षा विषय है, दिगम्बर 'धर्मपरीक्षा' से ५७५ वर्ष बादकी बनी हुई है। इसलिए यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं हो सकता कि पद्मसागर गणीने अपनी धर्मपरीक्षा अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा' परसे ही बनाई है और वह प्रायः उसकी नक़ल मात्र है। इस नक़लमें पद्मसागर गणीने अमितगतिके आशय, ढंग (शैली) और भावोंकी ही नक़ल नहीं की, बल्कि उसके अधिकांश पद्योंकी प्रायः अक्षरशः नक़ल कर डाली है और उस सबको अपनी कृति बनाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है:—

पद्मसागर गणीकी धर्मपरीक्षामें पद्योंकी संख्या कुल १४८४ है। इनमेंसे चार पद्य प्रशस्तिके और छह पद्य मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञाके निकालकर शेष १४७४ पद्योंमेंसे १२६० पद्य ऐसे हैं, जो अमितगति की धर्मपरीक्षासे ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। बाक़ी रहे २१४ पद्य, वे सब अमितगतिके पद्यों परसे कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं। परिवर्तन प्रायः छंदोभेदकी विशेषताको लिये हुए है। अमितगति की धर्मपरीक्षाका पहला परिच्छेद और शेष १६ परिच्छेदोंके अन्तके कुछ कुछ पद्य अनुष्टुप् छन्दमें न होकर दूसरेही छंदोंमें रचे गये हैं। पद्मसागर गणीने उनमेंसे जिन जिन पद्योंको लेना उचित समझा है, उन्हें अनुष्टुप् छन्दमें बदलकर रख दिया है, और इस तरहपर अपने ग्रंथमें अनुष्टुप् छंदोंकी एक लम्बी धारा बहाई है। इस धारामें आपने परिच्छेद-भेदको भी बहा दिया है। अर्थात्, अपने ग्रंथको परिच्छेदों या अध्यायोंमें विभक्त न करके उसे बिना हॉलटिंग स्टेशन वाली एक लम्बी और सीधी सड़कके रूपमें बना दिया है!! परन्तु अन्तमें पाँच पद्योंको, उनकी रचनापर मोहित होकर अथवा उन्हें सहजमें अनुष्टुप् छंदका रूप न देसकने आदि किसी कारणविशेषसे, ज्योंका त्यों भिन्न

भिन्न छंदोंमें भी रहने दिया है; जिससे अन्तमें जाकर ग्रंथका अनुष्टुप्-छंदी नियम भंग हो गया है। अस्तु; इन पाँचों पद्योंमेंसे पहला पद्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार है:—

इदं व्रतं द्वादशभेदभिन्नं, यः श्रावकीयं जिननाथदृष्टम्।
करोति संसारनिपातभीतः प्रयाति कल्याणमसौ समस्तम् ॥१५७६॥

यह पद्य अमितगति-परीक्षाके १९ वें परिच्छेदमें नं० ९७ पर दर्ज है। इस पद्यके बाद एक पद्य और इसी परिच्छेदका देकर तीन पद्य २० वें परिच्छेदसे उठाकर रक्खे गये हैं, जिनके नम्बर उक्त परिच्छेदमें क्रमशः ८७, ८८ और ८९ दिये हैं। इस २० वें परिच्छेदके शेष सम्पूर्ण पद्योंको, जिनमें धर्मके अनेक नियमोंका निरूपण था, ग्रंथकर्ताने छोड़ दिया है। इसी प्रकार दूसरे परिच्छेदोंसे भी कुछ कुछ पद्य छोड़े गये हैं, जिनमें किसी किसी विषयका विशेष वर्णन था। अमितगति धर्मपरीक्षाकी पद्यसंख्या कुल १९४१ है जिनमें २० पद्योंकी प्रशस्ति भी शामिल है; और पद्मसागर-धर्मपरीक्षाकी पद्यसंख्या प्रशस्तिसे अलग १४८० है; जैसा कि ऊपर ज़ाहिर किया जाचुका है। इसलिए सम्पूर्ण छोड़े हुए पद्योंकी संख्या लगभग ४४० समझनी चाहिए। इस तरह लगभग ४४० पद्योंको निकालकर, २१४ पद्योंमें कुछ छंदादिकका परिवर्तन करके और शेष १२६० पद्योंकी ज्योंकी त्यों नक़ल उतारकर ग्रंथकर्ता श्रीपद्मसागर गणीने इस 'धर्मपरीक्षा' को अपनी कृति बनानेका पुण्य सम्पादन किया है! जो लोग दूसरोंकी कृतिको अपनी कृति बनाने रूप पुण्य सम्पादन करते हैं उनसे यह आशा रखना तो व्यर्थ है कि वे उस कृतिके मूलकर्ताका आदरपूर्वक स्मरण करेंगे, प्रत्युत उनसे जहाँतक बन पड़ता है, वे उस कृतिके मूलकर्ताका नाम छिपाने या मिटानेकी ही चेष्टा किया करते हैं! ऐसा ही यहाँपर पद्मसागर गणीने भी किया है। अमितगतिका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना तो दूर

रहा, आपने अपनी शक्तिभर यहाँ तक चेष्टाकी है कि ग्रंथभरमें अमितगतिका नाम तक न रहने पावे और न दूसरा कोई ऐसा शब्द ही रहने पावे जिससे यह ग्रंथ स्पष्ट रूपसे किसी दिगम्बर जैनकी कृति समझ लिया जाय। उदाहरणके तौरपर यहाँ इसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं:—

१-श्रुत्वा वाचमशेषकल्मषमुषां साधोर्गुणाशंसिनीं
नत्वा केवलिपादपंकजयुगं मर्त्यामरेन्द्रार्चितम्।
आत्मानं व्रतरत्नभूषितमसौ चक्रे विशुद्धाशयो
भव्यः प्राप्य यतेर्गिरोऽमितगतेर्व्यर्थाः कथं कुर्वते ॥१०१॥

यह पद्य अमितगतिकी धर्मपरीक्षाके १९ वें परिच्छेदका अन्तिम पद्य है। इसमें मुनिमहाराजका उपदेश सुनकर पवनवेगके श्रावकव्रत धारण करनेका उल्लेख करते हुए, चौथे चरणमें लिखा है कि 'भव्यपुरुष अपरिमित ज्ञानके धारक मुनिके उपदेशको पाकर उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं।' साथ ही, इस चरणमें अमितगतिने अन्यपरिच्छेदोंके अन्तिम पद्योंके समान युक्तिपूर्वक गुप्तरीतिसे अपना नाम भी दिया है। पद्मसागर गणीको अमितगतिका यह गुप्त नाम भी असह्य हुआ और इसलिए उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षामें, इस पद्यको नं० १४७७ पर ज्योंका त्यों उद्धृत करते हुए, इसके अन्तिम चरणको निम्न प्रकारसे बदल दिया है:—

"मिथ्यादुःखमतो न किं भुवि नरः प्राप्नोति सद्वस्त्वहो।"

इस तबदीलीसे प्रकट है कि यह केवल अमितगतिका नाम मिटानेकी गरजसे ही की गई है। अन्यथा, इस परिवर्तनकी यहाँपर कुछ भी जरूरत न थी।

२-त्यक्तबाह्यान्तरग्रंथो निःकषायो जितेंद्रियः।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ॥१८—७६॥

इस पद्यमें अमितगतिने साधुका लक्षण 'जातरूपधरः' अर्थात् नग्नदिगम्बर बतलाया है। साधुका लक्षण नग्नदिगम्बर प्रतिपादन करनेसे कहीं दिगम्बर जैनधर्मको प्रधानता प्राप्त न हो जाय, अथवा यह ग्रंथ

किसी दिगम्बर जैनकी कृति न समझ लिया जाय, इस भयसे गणीजी महाराजने इस पद्यकी जो कायापलट की है वह इस प्रकार है:—

त्यक्तबाह्यान्तरो ग्रंथो निष्क्रियो विजितेंद्रियः।
परीषहसहः साधुर्भवाम्भोनिधितारकः ॥१३७६॥

यहाँ 'जातरूपधरो मतः' के स्थानमें 'भवाम्भोनिधितारकः' (संसारसमुद्रसे पार करनेवाला) ऐसा परिवर्तन किया गया है। साथ ही, 'निःकषायः'-की जगह 'निष्क्रियः' भी बनाया गया है, जिसका कोई दूसरा ही रहस्य होगा।

३-कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये कच्छस्य नृपतेर्नृपा।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले ॥१८—१४॥

दिगम्बरसम्प्रदायमें, ऋषभदेवका विवाह राजा कच्छकी नन्दा और सुनन्दा नामकी दो कन्याओंके साथ होना माना जाता है। इसी बातको लेकर अमितगतिने उसका ऊपरके पद्यमें उल्लेख किया है। परन्तु श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें, ऋषभदेवकी स्त्रियोंके नामोंमें कुछ भेद करते हुए, दोनों ही स्त्रियोंको राजा कच्छकी पुत्रियाँ नहीं माना है। बल्कि सुमंगलाको स्वयं ऋषभदेवके साथ उत्पन्न हुई उनकी सगी बहन बतलाया और सुनन्दाको एक दूसरे युगलियेकी बहन बयान किया है जो अपनी बहनके साथ खेलता हुआ अचानक बाल्यावस्थामें ही मर गया था। इसलिए पद्मसागरजी ने अमितगतिके उक्त पद्यको बदलकर उसे नीचेका रूप देदिया है, जिससे यह ग्रंथ दिगम्बर ग्रंथ न समझा जाकर श्वेताम्बर समझ लिया जायः—

सुमंगलासुनन्दाख्ये कन्ये सह पुरन्दरः।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले ॥ १३५७ ॥

इस प्रकार, यद्यपि ग्रंथकर्ता महाशयने अमितगतिकी कृतिपर अपना कर्तृत्व और स्वामित्व स्थापित करने और उसे एक श्वेताम्बर ग्रंथ बनानेके लिए बहुत कुछ अनुचित चेष्टाएँ की हैं, परन्तु तो भी वे इस (धर्मपरीक्षा)

ग्रंथ को पूर्णतया श्वेताम्बर ग्रंथ नहीं बना सके। बल्कि अनेक पद्योंको निकाल डालने, परिवर्तित कर देने तथा ज्योंका त्यों कायम रखनेकी वजहसे उनकी यह रचना कुछ ऐसी विलक्षण और दोषपूर्ण होगई है, जिससे ग्रंथकी चोरीका सारा भेद खुल जाता है। साथही, ग्रंथकर्ताकी योग्यता और उनके *दिगम्बर तथा श्वेताम्बर धर्मसम्बन्धी परिज्ञान* आदिका भी अच्छा परिचय मिल जाता है। पाठकोंके सन्तोषार्थ यहाँ इन्हीं सब बातोंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है:—

(१) अमितगति-धर्मपरीक्षाके पाँचवें परिच्छेदमें, 'वक्र' नामके द्विष्ट पुरुषकी कथाका वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है—जिस समय 'वक्र' मरणासन्न हुआ तब उसने, अपने 'स्कंद' नामक शत्रुका समूल नाश करनेके लिए, पुत्रपर अपनी आन्तरिक इच्छा प्रकटकी और उसे यह उपाय बतलाया कि 'जिस समय मैं मर जाऊँ उस समय तुम मुझे मेरे शत्रुके खेतमें ले जाकर लकड़ीके सहारे खड़ा कर देना। साथही, अपने समस्त गाय, भैंस तथा घोड़ोंके समूहको उसके खेतमें छोड़ देना, जिससे वे उसके समस्त धान्यका नाश कर देवें। और तुम किसी वृक्ष या घासकी ओटमें मेरे पास बैठकर स्कंदके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहना। जिस वक्त वह क्रोधमें आकर मुझपर प्रहार करे तब तुम सब लोगोंको सुनानेके लिए ज़ोरसे चिल्ला उठना और कहना कि स्कंदने मेरे पिताको मार डाला है। ऐसा करनेपर राजा स्कंदद्वारा मुझे मरा जान कर स्कंदको दण्ड देगा, जिससे वह पुत्रसहित मर जायगा।' इस प्रकरण के तीन पद्य इस प्रकार हैं:—

एष यथा क्षयमेति समूलं कंचन कर्म तथा कुरु वत्स।
येन वसामि चिरं सुरलोके हृष्टमनाः कमनीयशरीरः ॥ ८८ ॥
केवलमस्य विनीय मृतं मां यष्टिनिपष्यातदुं सुत कृत्वा।
गोमहिषीहयवृन्दमशेषं शस्यसमूहविनाशि विमुंच ॥ ८९ ॥

वृत्तवृक्षान्तरितो मम तीरे तिष्ठ निरीक्षितुमागतिमस्य ।
कोपपरेण कृते मम घाते पूत्कुरु सर्वजनश्रवणाय ॥ ९० ॥

इन तीनों पद्योंके स्थानमें पद्मसागर गणीने अपनी धर्मपरीक्षामें निम्नलिखित दो पद्य अनुष्टुप् छन्दमें दिये हैं:—

समूलं क्षयमेत्येष यथा कर्म तथा कुरु ।
वसामि यत्स्फुरद्देहः स्वर्गे हृष्टमनाः सुखम् ॥ २८३ ॥
वृक्षाद्यन्तरितस्तिष्ठ त्वमस्यागतिमीक्षितुम् ।
आयातेऽस्मिन्मृतं दृष्ट्वा मां पूत्कुरु जनश्रुतेः ॥ २८४ ॥

इन पद्योंका अमितगतिके पद्योंके साथ मिलान करनेपर पाठकोंको सहजमें ही यह मालूम हो जायगा कि दोनों पद्य क्रमशः अमितगतिके पद्य नं० ८८ और ९० परसे कुछ छील छालकर बनाये गये हैं और इनमें अमितगतिके शब्दोंकी प्रायः नकल पाई जाती है । परन्तु साथही उन्हें यह जाननेमें भी विलम्ब न होगा कि अमितगतिके पद्य नं० ८९ को पद्मसागरजीने बिलकुल ही छोड़ दिया है—उसके स्थानमें कोई दूसरा पद्य भी बनाकर नहीं रक्खा । इसलिए उनका पद्य नं० २८४ बड़ा ही विचित्र मालूम होता है । उसमें उस उपायके सिर्फ उत्तरार्धका कथन है, जो वक्रने मरते समय अपने पुत्रको बतलाया था । उपायका पूर्वार्ध न होनेसे यह पद्य इतना असम्बद्ध और बेढंगा होगया है कि प्रकृत कथनसे उसकी कुछ भी संगति नहीं बैठती । इसी प्रकारके पद्य और भी अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं, जिनके पहलेके कुछ पद्य छोड़ दिये गये हैं और इसलिये वे परकटे हुए कबूतरकी समान लँडूरे मालूम होते हैं ।

(२) अमितगतिने अपनी धर्मपरीक्षाके १५ वें परिच्छेदमें, 'युक्तितो घटते यच्च' इत्यादि पद्य नं० ४७ के बाद, जिसे पद्मसागरजीने भी अपने ग्रंथमें नं० १०८९ पर ज्योंका त्यों उद्धृत किया है, नीचे लिखे दो पद्यों-द्वारा एक स्त्रीके पंच भर्तार होनेको अति निंद्य कर्म ठहराया है; और इस तरह

पर द्रोपदीके पंचपति होनेका निषेध किया है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं:—

सत्वंशा भुवि विद्यन्ते सर्वे सर्वस्य सूरिशः।
भर्तॄणां क्वापि पंचानां नैकया भार्यया पुनः ॥४८॥
सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति संविभागं महाधियः।
महिलासंविभागस्तु निन्द्यानामपि निन्दितः ॥४९॥

पद्मसागरजीने यद्यपि इन पद्योंसे पहले और पीछेके बहुतसे पद्योंकी एकदम ज्योंकी त्यों नकल कर डाली है, तो भी आपने इन दोनों पद्योंको अपनी धर्मपरीक्षामें स्थान नहीं दिया। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, हिन्दुओंकी तरह, द्रौपदीके पंचभर्तार ही माने जाते हैं। पाँचों पाँडवोंके गलेमें द्रौपदीने वरमाला डाली थी और उन्हें अपना पति बनाया था, ऐसा कथन श्वेताम्बरोंके 'त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित' आदि अनेक ग्रंथोंमें पाया जाता है। उक्त दोनों पद्योंको स्थान देनेसे यह ग्रंथ कहीं श्वेताम्बर-धर्मके अहातेसे बाहर न निकल जाय, इसी भयसे शायद गणीजी महाराजने उन्हें स्थान देनेका साहस नहीं किया। परन्तु पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि गणीजीने अपने ग्रंथमें उस श्लोकको ज्योंका त्यों रहने दिया है जो आक्षेपके रूपमें ब्राह्मणोंके सम्मुख उपस्थित किया गया था और जिसका प्रतिवाद करनेके लिए ही अमितगति आचार्यको उक्त दोनों पद्योंके लिखनेकी जरूरत पड़ी थी। वह श्लोक यह है:—

द्रौपद्याः पंच भर्तारः कथ्यन्ते यत्र पाण्डवाः।
जनन्यास्तत्र को दोषस्तत्र भर्तृद्वये सति ॥ ६७६ ॥

इस श्लोकमें द्रौपदीके पंचभर्तार होनेकी बात कटाक्ष रूपसे कही गई है। जिसका आगे प्रतिवाद होनेकी जरूरत थी और जिसे गणीजीने नहीं किया। यदि गणीजीको एक स्त्रीके अनेक पति होना अनिष्ट न था तब आपको अपने ग्रंथमें यह श्लोक भी रखना उचित न था और न इस विषयकी कोई चर्चा ही चलानेकी जरूरत थी। परन्तु आपने ऐसा न करके अपनी

धर्मपरीक्षामें उक्त श्लोक और उसके सम्बंधकी दूसरी चर्चाको, बिना किसी प्रतिपादके, ज्योंका त्यों स्थिर रक्खा है; इस लिए कहना पड़ता है कि आपने ऐसा करके निःसन्देह भारी भूल की है। और इससे आपकी योग्यता तथा विचारशीलताका भी बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

(३) श्वेताम्बरी धर्मपरीक्षामें, एक स्थानपर, ये तीन पद्य दिये हैं:—

विलोक्य वेगतः खर्या क्रमस्योपरि मे क्रमः।
भग्नो मुशलमादाय दत्तनिष्ठुरघातया ॥ ५१५ ॥
अथैतयोर्महारारटिः प्रवृत्ता दुर्निवारणा।
लोकानां प्रेक्षणीभूता राक्षस्योरिव रुष्टयोः ॥ ५१६ ॥
अरे ! रक्षतु ते पादं त्वदीया जननी स्वयम्।
रुष्टखर्या निगद्येति पादो भग्नो द्वितीयकः ॥ ५१७ ॥

इन पद्योंमेंसे पहला पद्य ज्योंका त्यों वही है जो दिगम्बरी धर्मपरीक्षाके ९वें परिच्छेदमें नं० २७ पर दर्ज है। दूसरे पद्यमें सिर्फ 'इत्थं तयोः' के स्थानमें 'अथैतयोः' का और तीसरे पद्यमें 'ओड़े' के स्थानमें 'अरे' और 'रुष्टयर्क्षा' के स्थानमें 'रुष्टखर्या' का परिवर्तन किया गया है। पिछले दोनों पद्य दिगम्बरी धर्मपरीक्षाके उक्त परिच्छेदमें क्रमशः नं० ३२ और ३३ पर दर्ज हैं। इन दोनों पद्योंसे पहले अमितगतिने जो चार पद्य और दिये थे और जिनमें 'ऋक्षी' तथा 'खरी' नामकी दोनों स्त्रियोंके वाग्युद्धका वर्णन था उन्हें पद्मसागरजीने अपनी धर्मपरीक्षासे निकाल दिया है। अस्तु; और सब बातोंको छोड़कर, यहाँ पाठकोंका ध्यान उस परिवर्तनकी ओर आकर्षित किया जाता है जो 'रुष्टयर्क्षा' के स्थानमें 'रुष्टखर्या' बनाकर किया गया है। यह परिवर्तन वास्तवमें बड़ा ही विलक्षण है। इसके द्वारा यह विचित्र अर्थ घटित किया गया है कि जिस खरी नामकी स्त्रीने पहले ऋक्षीके उपास्य चरणको तोड़ डाला था उसीने ऋक्षीको यह चैलेंज देते हुए कि 'ले ! अब तू और तेरी मा अपने चरणकी रक्षा कर' स्वयं अपने उपास्य दूसरे चरणको भी तोड़ डाला ! परन्तु खरीको अपने उपास्य चरण पर क्रोध आने और उसे तोड़ डालनेकी कोई वजह न थी। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो उक्त चैलेंजमें जो कुछ कहा गया है वह सब व्यर्थ पड़ता है। क्योंकि जब खरी ऋक्षीके उपास्य चरणको पहले ही तोड़ चुकी थी, तब उसका ऋक्षीसे यह कहना कि 'ले ! अब तू अपने चरणकी रक्षा कर मैं उस पर आक्रमण करती हूँ' बिलकुल ही भद्दा और असमंजस मालूम होता है। वास्तवमें, दूसरा चरण ऋक्षीके द्वारा, अपना बदला चुकानेके लिए, तोड़ा गया था और उसीने खरीको ललकार कर उपर्युक्त वाक्य कहा था। ग्रंथकर्ताने इसपर कुछ भी ध्यान न देकर बिना सोचे समझे वैसे ही परिवर्तन कर डाला है, जो बहुत ही भद्दा मालूम होता है।

(४) अमितगति-धर्मपरीक्षाके छठे परिच्छेदमें, 'यज्ञा' ब्राम्हणी और उसके जारपति 'बटुक' का उल्लेख करते हुए, एक पद्य इस प्रकारसे दिया है—

प्रपेदे स वचस्तस्या निःशेषं हृष्टमानसः ।
जायन्ते नेदृशे कार्ये दुष्प्रबोधा हि कामिनः ॥ ४४ ॥

इस पद्यमें लिखा है कि 'उस कामी बटुकने यज्ञाकी आज्ञाको (जो अपने निकल भागनेका उपाय करनेके लिए दो मुर्दे लानेके विषयमें थी) बड़ी प्रसन्नताके साथ पालन किया; सच है कामी पुरुष ऐसे कार्योंमें दुष्प्रबोध नहीं होते। अर्थात्, वे अपने कामकी बातको कठिनतासे समझनेवाले न होकर शीघ्र समझ लेते हैं। पद्मसागरजीने यही पद्य अपनी धर्मपरीक्षामें नं० ३१५ पर दिया है परन्तु साथ ही इसके उत्तरार्धको निम्न प्रकारसे बदलकर रक्खा है:—

"न जाता तस्य शंकापि दुष्प्रबोधा हि कामिनः ॥ "

इस परिवर्तनके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'उस बटुकको उक्त आज्ञाके पालनमें शंका भी नहीं हुई, सच है कामी लोग कठिनतासे समझनेवाले होते हैं'। परन्तु बटुकने तो यज्ञाकी आज्ञाको पूरी तौरसे समझकर उसे बिना किसी शंकाके प्रसन्नताके साथ शीघ्र पालन किया है तब वह कठिनतासे समझनेवाला 'दुष्प्रबोध' क्यों ? यह बात बहुत ही खटकनेवाली है; और इस लिए ऊपरका परिवर्तन बड़ा ही बेढंगा मालूम होता है। नहीं मालूम ग्रंथकर्ताने इस परिवर्तनको करके पद्यमें कौनसी खूबी पैदा की और क्या लाभ उठाया ! इस प्रकारके व्यर्थ परिवर्तन और भी अनेक स्थानोंपर पाए जाते हैं जिनसे ग्रंथकर्ताकी योग्यता और व्यर्थाचरणका अच्छा परिचय मिलता है।

श्वेताम्बरशास्त्र-विरुद्ध कथन ।

(५) पद्मसागर गणीने, अमितगतिके पद्योंकी ज्योंकी त्यों नकल करते हुए, एक स्थान पर ये दो पद्य दिये हैं:—

क्षुधा तृष्णा भयद्वेषौ रागो मोहो मदो गदः ।
चिन्ता जन्म जरा मृत्युर्विषादो विस्मयो रतिः ॥ ८९२ ॥
खेदः स्वेदस्तथा निद्रा दोषाः साधारणा इमे ।
अष्टादशापि विद्यन्ते सर्वेषां दुःखहेतवः ॥ ८९३ ॥

इन पद्योंमें उन १८ दोषोंका नामोल्लेख है, जिनसे दिगम्बर लोग अर्हन्तदेवोंको रहित मानते हैं। उक्त दोषोंका, २१ पद्योंमें, कुछ विवरण देकर फिर ये दो पद्य और दिये हैं:—

एतैर्ये पीडिता दोषैस्तैर्मुच्यन्ते कथं परे ।
सिंहानां हतनागानां न खेदोऽस्ति मृगक्षये ॥ ९१५ ॥
सर्वे रागिणि विद्यन्ते दोषा नात्रास्ति संशयः ।
रूपिणीव सदा द्रव्ये गन्धस्पर्शरसादयः ॥ ९१६ ॥

इन पद्योंमें लिखा है कि ' जो देव इन क्षुधादिक दोषोंसे पीड़ित हैं, वे दूसरोंको दुःखोंसे मुक्त कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि हाथियोंको मारनेवाले सिंहोंको मृगोंके मारनेमें कुछ भी कष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यमें स्पर्श, रस और गंधादिक गुण हमेशा पाए जाते हैं, उसी प्रकार ये सब दोष भी रागी देवोंमें पाए जाते हैं।' इसके बाद एक पद्यमें ब्रह्मादिक देवताओं पर कुछ आक्षेप करके गणीजी लिखते हैं कि सूर्यसे अंधकारके समूहकी तरह जिस देवतासे ये संपूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं वही सब देवोंका अधिपति अर्थात् देवाधिदेव है और संसारी जीवोंके पापोंका नाश करनेमें समर्थ है।' यथाः—

एते नष्टा यतो दोषा भानोरिव तमश्चयाः।
स स्वामी सर्वदेवानां पापनिर्दलनक्षमः ॥ ९१८ ॥

इस प्रकार गणीजी महाराजने देवाधिदेव अर्हन्त भगवान्‌का १८ दोषोंसे रहित यह स्वरूप प्रतिपादन किया है जो दिगम्बरसम्प्रदायमें माना जाता है। परंतु यह स्वरूप श्वेताम्बरसम्प्रदायके स्वरूपसे विलक्षण मालूम होता है, क्योंकि श्वेताम्बरोंके यहाँ प्रायः दूसरे ही प्रकारके १८ दोष माने गये हैं। जैसा कि मुनि आत्मारामजीके ' तत्त्वादर्श' में उल्लिखित नीचे लिखे दो पद्योंसे प्रगट हैः—

अंतरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा च विरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाऽप्यमी ॥ २ ॥

इन पद्योंमें दिये हुए १८ दोषोंके नामोंमेंसे रति, भीति (भय), निद्रा, राग और द्वेष ये पाँच दोष तो ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे माने गये हैं। शेष दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, अरति, जुगुप्सा, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान और विरति नामके १३ दोष दिगम्बरोंके माने हुए क्षुधा, तृषा, मोह, मद, रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मृत्यु, विषाद, विस्मय, खेद और स्वेद नामके दोषोंसे भिन्न हैं। इस लिए गणीजीका उपर्युक्त कथन श्वेताम्बरशास्त्रोंके विरुद्ध है। मालूम होता है कि अमितगतिधर्मपरीक्षाके १३ वें परिच्छेदसे इन सब पद्योंको ज्योंका त्यों उठाकर रखनेकी धुनमें आपको इस विरुद्धताका कुछ भी भान नहीं हुआ।

(६) एक स्थानपर, पद्मसागरजी लिखते हैं कि 'कुन्तीसे उत्पन्न हुए पुत्र तपश्चरण करके मोक्ष गये और मद्रीके दोनों पुत्र मोक्षमें न जाकर सर्वार्थसिद्धिको गये'। यथाः—

कुन्तीशरीरजाः कृत्वा तपो जग्मुः शिवास्पदम्।
मद्रीशरीरजौ भव्यौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः ॥ १०९५ ॥

यह कथन यद्यपि दिगम्बरसम्प्रदायकी दृष्टिसे सत्य है और इसी लिए अमितगतिने अपने ग्रंथके १५ वें परिच्छेदमें इसे नं० ५५ पर दिया है। परन्तु श्वेताम्बरसम्प्रदायकी दृष्टिसे यह कथन भी विरुद्ध है। श्वेताम्बरोंके "पांडवचरित्र' आदि ग्रंथोंमें 'मद्री'के पुत्रोंका भी मोक्ष जाना लिखा है और इस तरह पर पाँचों ही पाण्डवोंके लिए मुक्तिका विधान किया है।

(७) पद्मसागरजीने, अपनी धर्मपरीक्षामें, एक स्थान पर यह पद्य दिया है:—

चार्वाकदर्शनं कृत्वा भूपौ शुक्रबृहस्पती।
प्रवृत्तौ स्वेच्छया कर्तुं स्वकीयेन्द्रियपोषणम्॥ १३६५॥

इसमें शुक्र और बृहस्पति नामके दो राजाओंको 'चार्वाक' दर्शनका चलानेवाला लिखा है, परन्तु मुनि आत्मारामजीने, अपने 'तत्त्वादर्श' ग्रंथके ४ थे परिच्छेदमें, 'शीलतरंगिणी' नामक किसी श्वेताम्बरशास्त्रके आधार पर, चार्वाक मतकी उत्पत्तिविषयक जो कथा दी है उससे यह मालूम होता है कि चार्वाक मत किसी राजा या क्षत्रिय पुरुषके द्वारा न चलाया जाकर केवल बृहस्पति नामके एक ब्राह्मणद्वारा प्रवर्तित हुआ है, जो अपनी बालविधवा बहनसे भोग करना चाहता था। और इस लिए बहनके हृदयसे पाप तथा लोकलज्जाका भय निकालकर अपनी इच्छा पूर्तिकी गरजसे ही उसने इस मतके सिद्धान्तोंकी रचना की थी। इस कथनसे पद्मसागरजीका उपर्युक्त कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रोंके विरुद्ध पड़ता है।

(८) इस श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' में, पद्य नं० ७८२ से ७९१ तक, गधेके शिरच्छेदका इतिहास बतलाते हुए, लिखा है कि—

'ज्येष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुआ शंभु (महादेव) सात्यकिका बेटा था। घोर तपश्चरण करके उसने बहुतसी विद्याओंका स्वामित्व प्राप्त किया था। विद्याओंके वैभवको देखकर वह दसवें वर्षमें भ्रष्ट हो गया। उसने चारित्र (मुनिधर्म) को छोड़कर विद्याधरोंकी आठ कन्याओंसे विवाह किया। परन्तु वे विद्याधरोंकी आठों ही पुत्रियाँ महादेवके साथ रतिकर्म करनेमें समर्थ न हो सकीं और मर गईं। तब महादेवने पार्वतीको रतिकर्ममें समर्थ समझकर उसकी याचना की और उसके साथ विवाह किया। एक दिन पार्वतीके साथ भोग करते हुए उसकी 'त्रिशूल' विद्या नष्ट हो गई। उसके नष्ट होनेपर वह 'ब्राह्मणी' नामकी दूसरी विद्याको सिद्ध करने लगा। जब वह 'ब्राह्मणी' विद्याकी प्रतिमाको सामने रखकर जप कर रहा था तब उस विद्याने अनेक प्रकारकी विक्रिया करनी शुरू की। उस विक्रियाके समय जब महादेवने एक बार उस प्रतिमा पर दृष्टि डाली तो उसे प्रतिमाके स्थान पर एक चतुर्मुखी मनुष्य दिखलाई पड़ा, जिसके मस्तक पर गधेका सिर था। उस गधेके सिरको बढ़ता हुआ देखकर उसने शीघ्रताके साथ उसे काट डाला। परन्तु वह सिर महादेवके हाथको चिपट गया, नीचे नहीं गिरा। तब ब्राह्मणी विद्या महादेवकी साधनाको व्यर्थ करके चली गई। इसके बाद रात्रिको महादे-

पने श्रीवर्धमानस्वामीको स्मशानभूमिमें ध्यानारूढ देखकर और उन्हें मिथ्यात्वी मनुष्य समझकर उन पर उपद्रव किया। प्रातःकाल जब उसे यह मालूम हुआ कि वे श्रीवर्धमान जिनेंद्र थे तब उसे अपनी कृति पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने भगवानकी स्तुति की और उनके चरण छुए। चरणोंको छूते ही उसके हाथसे चिपटा हुआ वह गधेका सिर गिर पड़ा।'

यह सब कथन श्वेताम्बर शास्त्रोंके बिलकुल विरुद्ध है। श्वेताम्बरोंके 'आवश्यक' सूत्रमें महादेवकी जो कथा लिखी है और जिसको मुनि आत्मारामजीने अपने 'तत्त्वादर्श' नामक ग्रंथके १२ वें परिच्छेदमें उद्धृत किया है उससे यह सब कथन बिलकुल ही विलक्षण मालूम होता है। उसमें महादेव (महेश्वर) के पिताका नाम 'सात्यकि' न बतलाकर स्वयं महादेवका ही असली नाम 'सात्यकि' प्रगट किया है और पिताका नाम 'पेढाल' परिव्राजक बतलाया है। लिखा है कि, 'पेढालने अपनी विद्याओंका दान करनेके लिए किसी ब्रह्मचारिणीसे एक पुत्र उत्पन्न करनेकी जरूरत समझकर 'ज्येष्ठा' नामकी साध्वीसे व्यभिचार किया और उससे सात्यकि नामके महादेव पुत्रको उत्पन्न करके उसे अपनी संपूर्ण विद्याओंका दान कर दिया'। साथ ही, यह भी लिखा है कि 'वह सात्यकि नामका महेश्वर महावीर भगवानका अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक था'। इस लिए उसने किसी चारित्रका पालन किया, मुनिदीक्षा ली, घोर तपश्चरण किया और उससे भ्रष्ट हुआ, इत्यादि बातोंका उसके साथ कोई सम्बंध ही नहीं है। महादेवने विद्याधरोंकी आठ कन्याओंसे विवाह किया, वे मर गईं, तब पार्वतीसे विवाह किया, पार्वतीसे भोग करते समय त्रिशूल विद्या नष्ट हो गई, उसके स्थानमें ब्राह्मणी विद्याको सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई, विद्याकी विक्रिया, गधेके सिरका हाथके चिपट जाना और फिर उसका वर्धमान स्वामीके चरण छूने पर छूटना, इन सब बातोंका भी वहां कोई उल्लेख नहीं है। इनके स्थानमें लिखा है कि 'महादेव बड़ा कामी और व्यभिचारी था, वह अपनी विद्याके बलसे जिस किसीकी कन्या या स्त्रीसे चाहता था विषय-सेवन कर लेता था, लोग उसकी विद्याके भयसे कुछ बोल नहीं सकते थे, जो कोई बोलता था उसे वह मार डालता था,' इत्यादि। अन्तमें यह भी लिखा है कि 'उमा (पार्वती) एक वेश्या थी, महादेव उस पर मोहित होकर उसीके घर रहने लगा था। और 'चण्डप्रद्योत' नामके राजाने, उमासे मिलकर और उसके द्वारा यह भेद मालूम करके कि भोग करते समय महादेवकी समस्त विद्याएँ उससे अलग हो जाती हैं, महादेवको उमासहित भोग-अवस्थामें अपने सुभटों द्वारा मरवा डाला था और इस तरह पर नगरका उपद्रव दूर किया था'। इसके बाद महादेवकी उसी भोगावस्थाकी पूजा प्रचलित होनेका कारण बतलाया है। इससे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि पद्मसागरजी गणीका उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रोंके इस कथनसे कितना विलक्षण और विभिन्न है और वे कहां तक इस धर्मपरीक्षाको श्वेताम्बरत्वका रूप देनेमें समर्थ हो सके हैं। गणीजीने बिना सोचे समझे

ही यह सब प्रकरण दिगम्बर धर्मपरीक्षाके १२ वें परिच्छेदसे ज्योंका त्यों नकल कर डाला है। सिर्फ एक पद्य नं० ७८४ में 'पूर्वे' के स्थानमें 'सर्वे' का परिवर्तन किया है। अमितगतिने 'दशमे पूर्वे' इस पदके द्वारा महादेवको दशपूर्वका पाठी सूचित किया था। परन्तु गणीजीको अमितगतिके इस प्रकरणकी सिर्फ इतनी ही बात पसंद नहीं आई और इसलिए उन्होंने उसे बदल डाला है।

(९) पद्मसागरजी, अपनी धर्मपरीक्षामें, जैनशास्त्रानुसार 'कर्णराज' की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए, लिखते हैं कि—

'एक दिन व्यास राजाके पुत्र पाण्डुको वनमें क्रीडा करते हुए किसी विद्याधरकी 'कामसुद्रिका' नामकी एक अंगूठी मिली। थोड़ी देरमें उस अंगूठीका स्वामी चित्रांगद नामका विद्याधर अपनी अंगूठीको ढूँढता हुआ वहाँ आ गया। पाण्डुने उसे उसकी वह अंगूठी दे दी। विद्याधर पांडुकी इस प्रकार निःस्पृहता देखकर बन्धुत्वभावको प्राप्त हो गया और पाण्डुको कुछ विषण्णचित्त जानकर उसका कारण पूछने लगा। इसपर पांडुने कुन्तीसे विवाह करनेकी अपनी उत्कट इच्छा और उसके न मिलनेको अपने विषादका कारण बतलाया। यह सुनकर उस विद्याधरने पांडुको अपनी वह कामसुद्रिका देकर कहा कि इसके द्वारा तुम कामदेवका रूप बनाकर कुन्तीका सेवन करो, पीछे गर्भ रह जानेपर कुन्तीका पिता तुम्हारे ही साथ उसका विवाह कर देगा। पाण्डु कामसुद्रिकाको लेकर कुन्तीके घर गया और बराबर सात दिनतक कुन्तीके साथ विषयसेवन करके उसने उसे गर्भवती कर दिया। कुन्तीकी माताको जब गर्भका हाल मालूम हुआ तब उसने गुप्त रूपसे प्रसूति कराई और प्रसव हो जाने पर बालकको एक मंजूषामें बन्द करके गंगामें बहा दिया। गंगामें बहता हुआ वह मंजूषा चंपापुरके राजा 'आदित्य' को मिला, जिसने उस मंजूषामेंसे उक्त बालकको निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रक्खा, और अपने कोई पुत्र न होनेके कारण बड़े ही हर्ष और प्रेमके साथ उसका पालन पोषण किया। आदित्यके मरने पर वह बालक चम्पापुरका राजा हुआ। चूंकि 'आदित्य' नामके राजाने कर्णका पालनपोषण करके उसे वृद्धिको प्राप्त किया था इस लिए कर्ण 'आदित्यज' कहलाता है, वह ज्योतिष्क जातिके सूर्यका पुत्र कदापि नहीं है *।'

पद्मसागरजीका यह कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रोंके प्रतिकूल है। श्वेताम्बरोंके श्रीदेवविजयगणिविरचित 'पांडवचरित्र' में पांडुको राजा 'विचित्रवीर्य' का पुत्र लिखा है और उसे 'मुद्रिका' देनेवाले विद्याधरका नाम 'विशालाक्ष' बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'वह विद्याधर अपने किसी शत्रुके द्वारा एक वृक्षके निकुञ्जमें लोहेकी कीलोंसे कीलित था। पांडुने उसे देखकर उसके शरीरसे वे

---

* यह सब कथन नं० १०५९ से १०९० तकके पद्योंमें वर्णित है और अमितगतिधर्मपरीक्षाके १५ वें परिच्छेदसे उठाकर रक्खा गया है।

लोहेकी कीलें खींचकर निकालीं; चंदनादिकके लेपसे उसे सचेत किया और उसके घावोंको अपनी मुद्रिकाके रत्नजलसे धोकर अच्छा किया। इस उपकारके बदलेमें विद्याधरने पांडुको, उसकी चिन्ता मालूम करके, अपनी एक अंगूठी दी और कहा कि, यह अंगूठी स्मरण मात्रसे सब मनोवांछित कार्योंको सिद्ध करनेवाली है, इसमें अदृश्यीकरण आदि अनेक महान् गुण हैं। पाण्डुने घरपर आकर उस अंगूठीसे प्रार्थना की कि 'हे अंगूठी! मुझे कुन्तीके पास ले चल,' अंगूठीने उसे कुन्तीके पास पहुँचा दिया। उस समय कुन्ती, यह मालूम करके कि उसका विवाह पाण्डुके साथ नहीं होता है, गलेमें फाँसी डालकर मरनेके लिए अपने उपवनमें एक अशोक वृक्षके नीचे लटक रही थी। पांडुने वहाँ पहुँचते ही गलेसे उसकी फाँसी काट डाली और कुन्तीके सचेत तथा परिचित हो जानेपर उसके साथ भोग किया। उस एक ही दिनके भोगसे कुन्तीको गर्भ रह गया। बालकका जन्म होने पर धात्रीकी सम्मतिसे कुन्तीने उसे मंजूषामें रखकर गंगामें बहा दिया। कुन्तीकी माताको, कुन्तीकी आकृति आदि देखकर, पूछनेपर पीछेसे इस कृत्यकी खबर हुई। यह मंजूषा 'अतिरथि' नामके एक सारथिको मिला, जिसने बालकको उसमेंसे निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रक्खा। चूँकि उस सारथिकी स्त्रीको, मंजूषा मिलनेके उसी दिन प्रातः काल, स्वप्नमें आकर सूर्यने यह कहा था कि हे वत्स! आज तुझे एक उत्तम पुत्रकी प्राप्ति होगी। इस लिए सूर्यका दिया हुआ होनेसे बालकका दूसरा नाम सूर्यपुत्र भी रक्खा गया।

श्वेताम्बरीय पांडवचरित्रके इस संपूर्ण कथनसे पद्मसागरजीके पूर्वोक्त कथनका कहाँतक मेल है और वह कितना सिरसे पैर तक विलक्षण है, इसे पाठकोंको बतलानेकी जरूरत नहीं है। वे एक नजर डालते ही दोनोंकी विभिन्नता मालूम कर सकते हैं। अस्तु; इसी प्रकारके और भी अनेक कथन इस धर्मपरीक्षामें पाए जाते हैं जो दिगम्बरशास्त्रोंके अनुकूल तथा श्वेताम्बर शास्त्रोंके प्रतिकूल हैं और जिनसे ग्रंथकर्ताकी साफ चोरी पकड़ी जाती है।

ऊपरके इन सब विरुद्ध कथनोंसे पाठकोंके हृदयोंमें आश्चर्यके साथ यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा कि 'जब गणीजी महाराज एक दिगम्बरग्रंथको श्वेताम्बरग्रंथ बनानेके लिए प्रस्तुत हुए थे तब आपने श्वेताम्बरशास्त्रोंके विरुद्ध इतने अधिक कथनोंको उसमें क्यों रहने दिया? क्यों उन्हें दूसरे कथनोंकी समान, जिनका दिग्दर्शन इस लेखके शुरूमें कराया गया है, नहीं निकाल दिया या नहीं बदल दिया?' उत्तर इस प्रश्नका सीधा सादा यही हो सकता है कि या तो गणीजीको श्वेताम्बरसम्प्रदायके ग्रन्थों पर पूरी श्रद्धा नहीं थी, अथवा उन्हें उक्त सम्प्रदायके ग्रन्थोंका अच्छा ज्ञान नहीं था। इन दोनों बातोंमेंसे पहली बात बहुत कुछ संदिग्ध मालूम होती है और उसपर प्रायः विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि गणीजीकी यह कृति ही उनकी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय-भक्ति

और साम्प्रदायिक मोहमुग्धताका एक अच्छा नमूना जान पड़ती है और इससे आपकी श्रद्धाका बहुत कुछ पता लग जाता है। इस लिये दूसरी बात ही प्रायः सत्य मालूम होती है। श्वेताम्बरग्रन्थोंसे अच्छी जानकारी न होनेके कारण ही आपको यह मालूम नहीं हो सका कि उपर्युक्त कथन तथा इन्हींके सदृश और दूसरे अनेक कथन भी श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध हैं; और इस लिए आप उनको निकाल नहीं सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ पद्मसागरजीकी योग्यता और उनका शास्त्रीय ज्ञान बहुत साधारण था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अपने आपको विद्वान् प्रसिद्ध करना चाहते थे; और इस लिए उन्होंने एक दूसरे विद्वान्की कृतिको अपनी कृति बनाकर उसे भोले समाजमें प्रचलित किया है। नहीं तो, एक अच्छे विद्वान्की ऐसे अधन्याचरणमें कभी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसके लिए ऐसा करना बड़े ही कलंक और शर्मकी बात होता है। पद्मसागरजीने, यद्यपि, यह पूरा ही ग्रन्थ चुरानेका साहस किया है और इस लिए आप पर कविकी यह उक्ति बहुत ठीक घटित होती है कि 'अखिलप्रबंधं हर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यं'; परंतु तो भी आप, शर्मको उतारकर अपने मुँह पर हाथ फेरते हुए, बड़े अभिमानके साथ लिखते हैं कि:—

गणेशनिर्मितां धर्मपरीक्षां कर्तुमिच्छति।
मादृशोऽपि जनस्तत्र चित्रं तत्कुलसंभवात् ॥ ४ ॥
यस्तरुर्भज्यते हस्तिवरेण स कथं पुनः।
कलभेनेति नाशंक्यं तत्कुलीनत्वशक्तितः ॥ ५ ॥
चक्रे श्रीमत्प्रवचनपरीक्षा धर्मसागरैः।
वाचकेन्द्रैस्ततस्तेषां शिष्येणैषा विधीयते ॥ ६ ॥

अर्थात्—गणधरदेवकी निर्माण की हुई धर्मपरीक्षाको मुझ जैसा मनुष्य भी यदि बनानेकी इच्छा करता है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि मैं भी उसी कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। जिस वृक्षको एक गजराज तोड़ डालता है उसे हाथीका बच्चा कैसे तोड़ डालेगा, यह आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वकीय कुलशक्तिसे वह भी उसे तोड़ डाल सकता है। मेरे गुरु धर्मसागरजी वाचकेन्द्रने 'प्रवचनपरीक्षा' नामका ग्रन्थ बनाया है और मैं उनका शिष्य यह 'धर्मपरीक्षा' नामका ग्रंथ रचता हूँ। इस प्रकार पद्मसागरजीने बड़े अहंकारके साथ अपना ग्रंथकर्तृत्व प्रगट किया है। परन्तु आपकी इस कृतिको देखते हुए कहना पड़ता है कि आपका यह कोरा और थोथा अहंकार विद्वानोंकी दृष्टिमें केवल हास्यास्पद होनेके सिवाय और कुछ भी नहीं है। यहाँ पाठकोंपर अमितगतिका वह पद्य भी प्रगट किया जाता है, जिसको बदलकर ही गणीजीने ऊपरके दो श्लोक (नं० ४–५) बनाए हैं:—

धर्मो गणेशेन परीक्षितो यः कथं परीक्षेतमहं जडात्मा।
शक्तो हि यं भक्तुमिभाधिराजः स भज्यते किं शशकेन वृक्षः ॥ १५ ॥

इस पद्यमें अमितगति आचार्य, अपनी लघुता प्रकट करते हुए, लिखते हैं कि—'जो धर्म गणधर देवके द्वारा परीक्षा किया गया है वह मुझ अल्पमतिसे कैसे परीक्षा किया जासकता है ! जिस वृक्षको गजराज तोड़ डालनेमें समर्थ है क्या उसे खरगोश भंग कर सकता है ?' इसके बाद दूसरे पद्यमें लिखा है—'परन्तु विद्वान् मुनीश्वरोंने जिस धर्ममें प्रवेश करके उसके प्रवेशमार्गको सरल कर दिया है उसमें मुझ जैसे मूर्खका प्रवेश हो सकता है; क्योंकि वज्रसूचीसे छिद्र किये जाने पर मुक्ताफलमें सूतका नरम डोरा भी प्रवेश करते देखा जाता है।' पाठकगण देखा, कैसी अच्छी उक्ति और कितना नम्रतामय भाव है। कहाँ मूलकर्ताका यह भाव, और कहाँ उसकी चुराकर अपनी कृति बनानेवालेका उपर्युक्त अहंकार ! मैं समझता हूँ यदि पद्मसागरजी इसी प्रकारका कोई नम्र भाव प्रकट करते तो उनकी शानमें कुछ भी फर्क न आता। परन्तु मालूम होता है कि आपमें इतनी भी उदारता नहीं थी और तभी आपने, साधु होते हुए भी, दूसरोंकी कृतिको अपनी कृति बनानेका यह असाधु कार्य किया है !!

इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जाली तथा अर्ध-जाली पाए जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा तथा समालोचना होनेकी जरूरत है।' श्वे० सम्प्रदायके निष्पक्ष विद्वानोंको आगे आकर इसके लिये खास परिश्रम करना चाहिये और वैसे ग्रन्थोंके विषयमें यथार्थ वस्तुस्थितिको समाजके सामने रखना चाहिये। ऐसा किया जाने पर विचारस्वातंत्र्य फैलेगा, विवेक जागृत होगा और वह साम्प्रदायिकता तथा अन्धी श्रद्धा दूर हो सकेगी जो जैन समाजकी प्रगतिको रोके हुए है। इत्यलम्।

बम्बई। ता० ८ अगस्त सन् १९१७।

अकलंकप्रतिष्ठापाठकी जाँच।

'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' या 'प्रतिष्ठाकल्प' नामका एक ग्रंथ है, जिसे 'अकलंक-संहिता' भी कहते हैं और जो जैनसमाजमें प्रचलित है। कहा जाता है कि 'यह ग्रन्थ उन भट्टाकलंक देवका बनाया हुआ है जो 'राजवार्तिक' और 'अष्टशती' आदि ग्रन्थोंके कर्ता हैं और जिनका समय विक्रमकी ८ वीं शताब्दी माना जाता है। यद्यपि विद्वानोंको इस कथन पर संदेह भी है, परन्तु तो भी उक्त कथन वास्तवमें सत्य है या नहीं इसका अभीतक कोई निर्णय प्रगट नहीं हुआ। अतः यहाँ इसी विषयका निर्णय करनेके लिए यह लेख लिखा जाता है:—

यह तो स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमें ग्रन्थके बननेका कोई सन्-संवत् नहीं दिया। परन्तु ग्रन्थकी संधियोंमें ग्रन्थकर्ताका नाम 'भट्टाकलंकदेव' जरूर लिखा है। यथाः—

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रंथे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठाविधिचतुष्टयनिरूपणीयो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

संधियोंको छोड़कर पद्योंमें भी ग्रन्थकर्ताने अपना नाम 'भट्टाकलंकदेव' प्रकट किया है। जैसा कि आदि अन्तके निम्न लिखित दो पद्योंसे ज़ाहिर है:—

"प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रंथः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधुसंगृह्यते स्फुटम् ॥ ५ ॥"
"भट्टाकलंकदेवेन कृतो ग्रंथो यथागमम्।
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ स्थेयादाचंद्रतारकम् ॥"

'राजवार्तिक' के कर्ताको छोड़कर, भट्टाकलंकदेव नामके कोई दूसर विद्वान् आचार्य जैनसमाजमें प्रसिद्ध नहीं हैं। इस लिए मालूम होता है कि, संधियों और पद्योंमें 'भट्टाकलंकदेव' का नाम लगा होनेसे ही यह ग्रन्थ राजवार्तिकके कर्ताका बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझ-लेने और कथन करनेकी कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलंकदेवके बाद होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्यकी कृतिमें भी इस ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन शिलालेख भी इस विषयमें मौन हैं—उनसे कुछ पता नहीं चलता। ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते हैं कि उक्त कथन कहाँ तक विश्वास किये जानेके योग्य हो सकता है। अस्तु। जहाँतक मैंने इस ग्रन्थको देखा और इसके साहित्यकी जाँच की है उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ वास्तवमें राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है; उनसे बहुत पीछेका बना हुआ है। भट्टाकलंकदेवके साहित्य और उनकी कथनशैलीसे इस ग्रन्थके साहित्य और कथनशैलीका कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थोंके आधार-पर बना हुआ है जिनका निर्माण भट्टाकलंकदेवके अवतारसे बहुत पीछेके समयोंमें हुआ

है। यहाँ पाठकोंके संतोषार्थ कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको इस बातका भी अनुभव हो जायगा कि यह ग्रन्थ कब बना है और किसने बनाया है:—

(१) इस प्रतिष्ठापाठके पाँचवें परिच्छेदमें बहुतसे पद्य ऐसे पाए जाते हैं जो भगवज्जिनसेनप्रणीत 'आदिपुराण' से ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर रक्खे गये हैं। नमूनेके तौर पर कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्।
शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥ २३ ॥

यह पद्य आदिपुराणके ३८ वें पर्वका २८ वाँ पद्य है और यहाँ ज्योंका त्यों बिना किसी परिवर्तनके रक्खा गया है।

ताः सर्वा अप्यर्हदिज्यापूर्विका यत इत्यतः।
विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ २० ॥

इस पद्यका उत्तरार्ध और आदिपुराणके उक्त पर्व सम्बन्धी ३४ वें पद्यका उत्तरार्ध दोनों एक हैं। परन्तु पूर्वार्ध दोनों पद्योंके भिन्न भिन्न पाए जाते हैं। आदिपुराणके उक्त ३४ वें पद्यका पूर्वार्ध है 'एवं विधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम्'। ग्रन्थकर्ताने इस पूर्वार्धको अपने इसी परिच्छेदके ३० वें पद्यका पूर्वार्ध बनाया है। और इस तरह पर आदिपुराणके एक पद्यको दो टुकड़ोंमें विभाजित करके उन्हें अलग अलग स्थानों पर रक्खा है।

बलिस्नपनमन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्।
उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥ २९ ॥

यह पद्य आदिपुराणके ३८ वें पर्वमें नं० ३३ पर इसी प्रकारसे दर्ज है, सिर्फ 'बलिस्नपनमित्यन्यत् त्रिसंध्यासेवया समम्' की जगह यहाँ 'अन्यच्च व्रतमुद्यापनादिकम्' ऐसा परिवर्तन पाया जाता है। इस परिवर्तनसे ग्रन्थकर्ताने 'त्रिसंध्यासेवा' के स्थानमें 'व्रत' और 'उद्यापनादिक' को खास तौरसे पंच प्रकारके पूजनमें शामिल किया है। अस्तु, इन उदाहरणोंसे प्रकट है कि यह ग्रन्थ (प्रतिष्ठापाठ) भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे पहलेका बना हुआ नहीं है। परन्तु भट्टाकलंकदेव भगवज्जिनसेनसे पहले हो चुके हैं। भगवज्जिनसेनने, 'भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः' इत्यादि पद्यके द्वारा, आदिपुराणमें, उनका स्मरण भी किया है। ऐसी हालतमें यह ग्रन्थ कदापि भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं हो सकता। और इस लिए कहना होगा कि यह प्रतिष्ठापाठ भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे पीछेका—अर्थात्, विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके बादका—बना हुआ है।

(२) इस ग्रन्थके तीसरे परिच्छेदमें एक स्थान पर, प्राणायामका स्वरूप बतलाते हुए, कुछ पद्य दिये हैं। उनमेंसे एक पद्य इस प्रकार है:—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ ६६ ॥

यह पद्य और इसके बादके दो पद्य और, जो 'निरुणद्धि' और 'निःसार्यते' शब्दोंसे प्रारंभ होते हैं, ज्ञानार्णवके २९ वें प्रकरणमें क्रमशः नं० ४,५ और ६ पर दर्ज हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ ज्ञानार्णवके बादका बना हुआ है। ज्ञानार्णव ग्रन्थके कर्ता श्रीशुभचंद्र आचार्यका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके लगभग माना जाता है। उन्होंने अपने इस ग्रंथमें, समन्तभद्र, देवनन्दि और जिनसेनका स्मरण करते हुए, 'श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती' इस पद्यके द्वारा भट्टाकलंकदेवका भी बड़े गौरवके साथ स्मरण किया है। इस लिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें शुभचन्द्रके वचनोंका उल्लेख पाया जाता है, भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ न होकर विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है, यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता।

(३) एकसंधि भट्टारकका बनाया हुआ, 'जिनसंहिता' नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थसे सैकड़ों पद्य ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ उठाकर इस प्रतिष्ठापाठमें रक्खे गये हैं। कई स्थानों पर उक्त संहिताका नामोल्लेख भी किया है और उसके अनुसार किसी खास विषयके कथनकी प्रतिज्ञा या सूचना की गई है। यथाः—

द्वितीये मंडले लोकपालानामष्टकं भवेत् ।
इति पक्षान्तरं जैनसंहितायां निरूपितम् ॥ ७-१६ ॥
यदि स्यात्सात्पृथकेषां बलिदानं विवक्षितम् ।
निरूप्यते तदा जैनसंहितामार्गतो यथा ॥ १०-६ ॥

पहले पद्यमें जैनसंहिताके अनुसार कथनकी सूचना और दूसरेमें प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे पद्यमें जिस 'बलिदान' के कथनकी प्रतिज्ञा है उसका वर्णन करते हुए जो पद्य दिये हैं उनमेंसे बहुतसे पद्य ऐसे हैं जो उक्त संहितासे ज्योंके त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। जैसा कि नं० ४७ के उत्तरार्धसे लेकर नं० ६१ के पूर्वार्ध तकके १४ पद्य बिल्कुल वही हैं जो उक्त संहिताके २४ वें परिच्छेदमें न० ३ से १६ तक दर्ज हैं। इन पद्योंमेंसे एक पद्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—

पाशिनो धान्यदुग्धान्नं वायोः संपिष्टशर्वरी ।
यक्षस्य पायसं भक्तं साज्यं क्षीराज्ञमीशिनः ॥ ५ ॥

यहाँ पाठकोंको यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि इस प्रतिष्ठापाठका मंगलाचरण भी उक्त संहितापरसे लिया गया है। वह मंगलाचरण इस प्रकार है:—

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरं ।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥ १ ॥
वंदित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कंधमुपास्य च ।
ऐदंयुगीनानाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम् ॥ २ ॥

मंगलाचरणके ये दोनों पद्य उक्त संहिताके शुरूमें क्रमशः नं० २ और ३ पर दर्ज हैं। सिर्फ दूसरे पद्यके उत्तरार्धमें भेद है। संहितामें वह उत्तरार्ध इस प्रकारसे दिया है:—

संग्रहिष्यामि मंदानां बोधाय जिनसंहिताम् ।

पाठक समझ सकते हैं कि जिस ग्रन्थमें मंगलाचरण भी ग्रन्थकर्ताका अपना बनाया हुआ न हो, वह ग्रन्थ क्या भट्टाकलंकदेव जैसे महाकवियोंका बनाया हुआ हो सकता है? कभी नहीं। वास्तवमें यह ग्रन्थ एक संग्रह* ग्रन्थ है। इसमें न सिर्फ आर्षोंका बल्कि अन्योंका भी संग्रह किया गया है। ग्रन्थकर्ताकी उक्तियाँ इसमें बहुत कम हैं। जैसा कि इसके एक निज लिखित पद्यसे भी प्रकट है:—

श्लोकाः पुरातनाः किंचिल्लिख्यंते लक्ष्यबोधकाः ।
प्रायस्तदनुसारेण मयकाप्य क्वचित् क्वचित् ॥ १० ॥

भट्टारक एकसंधिका समय विक्रमकी १३ वीं शताब्दी पाया जाता है। इसलिए यह प्रतिष्ठापाठ, जिसमें उक्त भट्टारकजीकी संहिताकी बहुत कुछ नकल की गई है, विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(४) इस प्रतिष्ठापाठको १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ कहनेमें एक प्रबल प्रमाण और भी है। और वह यह है कि इसमें पं० आशाधरजीके बनाए हुए 'जिनयज्ञकल्प' नामक प्रतिष्ठापाठ और 'सागारधर्मामृत' के बहुतसे पद्य, ज्योंके त्यों या कुछ परिवर्तनके साथ, पाये जाते हैं; जिनका एक एक नमूना इस प्रकार है:—

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः ।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥ ५-२७ ॥
देशकालानुसारेण व्यासतो वा समासतः ।
कुर्यात्कल्यां क्रियां धाम्नो वास्तुवित्तं न दूषयेत् ॥ ५-७३ ॥

पहला पद्य 'सागारधर्मामृत' के दूसरे अध्यायका २८ वाँ और दूसरा पद्य 'जिनयज्ञकल्प' के पहले अध्यायका १४० वाँ पद्य है। जिनयज्ञकल्पको, पंडित आशाधरजीने, वि० सं० १२८५ में और सागारधर्मामृतको उसकी टीकासहित वि० सं० १२९६ में बनाकर समाप्त किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अकलंकप्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है।

(५) इस ग्रंथके तीसरे परिच्छेदमें, एक स्थान पर यह दिखलाते हुए कि जिन-मंदिरमें विलासिनीके नाचनेके लिए एक सुन्दर नाचघर (नृत्यमंडप) भी होना चाहिए, एक पद्य इस प्रकारसे दिया है:—

नृत्यद्विलासिनीरम्यनृत्यमंडपमंडितम् ।
पुरः पार्श्वद्वये यक्षयक्षीभवनसंयुतम् ॥ ११७ ॥

---

* ग्रन्थकी प्रतिज्ञा और संधियोंमें भी इसे ऐसा ही प्रकट किया है।

यह ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचारके चौथे पर्वका १९७ वाँ पद्य है। उक्त त्रिवर्णाचारके और भी बहुतसे पद्य इस ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसी तीसरे परिच्छेदमें लगभग २५ पद्य और हैं, जो उक्त त्रिवर्णाचारसे उठाकर रक्खे गये हैं। इससे प्रकट है कि यह ग्रंथ (प्रतिष्ठापाठ) ब्रह्मसूरित्रिवर्णाचारके बादका बना हुआ है। ब्रह्मसूरिका समय विक्रमकी प्रायः १५ वीं शताब्दी पाया जाता है। इस लिए यह प्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है।

(६) इस ग्रंथके शुरूमें मंगलाचरणके बाद ग्रंथ रचनेकी जो प्रतिज्ञा की गई है उसमें 'नेमिचंद्रप्रतिष्ठापाठ'का भी एक उल्लेख है। यथाः—

> अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
> प्रतिष्ठायास्तदाद्युत्तरांगाणां स्वयमंगिनाम् ॥ २ ॥

नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ 'गोम्मटसार' के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका बनाया हुआ न होकर उन गृहस्थ नेमिचंद्रसूरिका बनाया हुआ है जो देवेन्द्रके पुत्र तथा ब्रह्म-सूरिके भानजे थे और जिनके वंशादिकका विशेष परिचय पानेके लिए पाठकोंको उक्त प्रतिष्ठापाठ पर लिखे हुए उस नोटको देखना चाहिए जो जैनहितैषीके १२ वें भागके अंक नं. ४–५ में प्रकाशित हुआ है। उक्त नोटमें नेमिचंद्र-प्रतिष्ठापाठके बननेका समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके लगभग बतलाया गया है। ऐसी हालतमें विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ विक्रमकी १६ वीं शताब्दीका या उससे भी कुछ पीछेका बना हुआ मालूम होता है। परन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वह १६ वीं शताब्दीसे पहलेका बना हुआ नहीं है। अर्थात्, विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके बादका बना हुआ है। परन्तु कितने बादका बना हुआ है, इतना निश्चय करना अभी और बाकी है।

(७) 'सोमसेनत्रिवर्णाचार' के पहले अध्यायमें एक प्रतिज्ञावाक्य इस प्रकारसे दिया है:—

> यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा
> सिद्धान्ते गुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः।
> श्रीसूरिद्विजनामधेयविबुधैराशाधरैर्वाग्वरै—
> स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकं शास्त्रं त्रिवर्णात्मकम् ॥

इस वाक्यमें जिन आचार्योंके अनुसार कथन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है उनमें 'भट्टाकलंक' का भी एक नाम है। इन भट्टाकलंकसे 'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' के कर्ताका ही अभिप्राय जान पड़ता है, 'राजवार्तिक' के कर्ताका नहीं। क्योंकि सोमसेनत्रिवर्णाचारमें जिस प्रकार 'जिनसेन' आदि दूसरे आचार्योंके वाक्योंका उल्लेख पाया जाता है उस प्रकार राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवके बनाये हुए किसी भी ग्रन्थका प्रायः कोई

उल्लेख नहीं मिलता। प्रत्युत, अकलंक-प्रतिष्ठापाठके बहुतसे पद्यों और कथनोंका समावेश उसमें जरूर पाया जाता है। ऐसी हालतमें, सोमसेन त्रिवर्णाचारमें 'अकलंक-प्रतिष्ठापाठ' का उल्लेख किया गया है, यह कहना समुचित प्रतीत होता है। सोमसेनत्रिवर्णाचार वि० सं० १६६५ में बनकर समाप्त हुआ है और अकलंकप्रतिष्ठापाठका उसमें उल्लेख है। इस लिए अकलंक-प्रतिष्ठापाठ वि० सं० १६६५ से पहले बन चुका था, इस कहनेमें भी कोई संकोच नहीं होता।

नतीजा इस संपूर्ण कथनका यह है कि विवादस्थ प्रतिष्ठापाठ राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है और न विक्रमकी १६ वीं शताब्दीसे पहलेका ही बना हुआ है। बल्कि उसकी रचना विक्रमकी १६ वीं शताब्दी या १७ वीं शताब्दीके प्रथमः पूर्वार्धमें हुई है। अथवा यों कहिए कि यह वि० सं० १५०१ और १६६५ के मध्यवर्ती किसी समयका बना हुआ है।

अब रही यह बात कि, जब यह ग्रन्थ राजवार्तिकके कर्ता भट्टाकलंकदेवका बनाया हुआ नहीं है और न 'भट्टाकलंकदेव' नामका कोई दूसरा विद्वान् जैनसमाजमें प्रसिद्ध है, तब इसे किसने बनाया है? इसका उत्तर इस समय सिर्फ इतना ही हो सकता है कि, या तो यह ग्रन्थ 'अकलंक' या 'अकलंकदेव' नामके किसी ऐसे अप्रसिद्ध भट्टारक या दूसरे विद्वान् महाशयका बनाया हुआ है जो उपर्युक्त समयके भीतर हुए हैं और जिन्होंने अपने नामके साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्त्वसूचक उपाधिको लगाना पसंद किया है*। अथवा इसका निर्माण किसी ऐसे व्यक्तिने किया है जो इस ग्रन्थके द्वारा अपने किसी क्रियाकांड या मंतव्यके समर्थनादिरूप कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध करना चाहता हो और इस लिए उसने स्वयं ही इस ग्रन्थको बनाकर उसे भट्टाकलंकदेवके नामसे प्रसिद्ध किया

---

* बादको 'हिस्ट्री ऑफ कनडीज लिटरेचर' (कनडी साहित्यका इतिहास) से मालूम हुआ कि इस समयके भीतर 'भट्टाकलंकदेव' नामके एक दूसरे विद्वान् हुए हैं जो दक्षिणकनाडामें हाडुवल्लिमठके अधिपति भट्टारकके शिष्य थे और जिन्होंने विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमें (ई० स० १६०४ में) कनडीभाषाका एक बड़ा व्याकरण संस्कृतमें लिखा है, जिसका नाम है 'कर्णाटकशब्दानुशासनम्' और जिसपर संस्कृतकी एक विस्तृत टीका भी आपकी ही लिखी हुई है। हो सकता है कि यह प्रतिष्ठापाठ आपकी ही रचना हो। परंतु फिर भी इसमें मंगलाचरणका दूसरे ग्रन्थसे उठाकर रक्खा जाना कुछ खटकता जरूर है, क्यों कि आप संस्कृतके अच्छे विद्वान कहे जाते हैं। यदि आपका वह शब्दानुशासन मुझे देखनेके लिये मिल सकता तो इस विषयका कितना ही संदेह दूर हो सकता था। लेखक।

हो और इस तरह पर यह ग्रन्थ भी एक जाली ग्रन्थ बना हो। परन्तु कुछ भी हो; इसमें संदेह नहीं कि, यह ग्रन्थ कोई महत्त्वका ग्रन्थ नहीं है। इसमें बहुतसे कथन ऐसे भी पाए जाते हैं जो जैनधर्मके विरुद्ध हैं, अथवा जैनसिद्धान्तोंसे जिनका कोई मेल नहीं है। चूँकि यह लेख सिर्फ ग्रन्थकी ऐतिहासिकता—ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थके बननेका समय—निर्णय करनेके लिए ही लिखा गया है इस लिए यहाँ पर विरुद्ध कथनोंके उल्लेखको छोड़ा जाता है। इस प्रकारके विरुद्ध कथन और भी प्रतिष्ठापाठोंमें पाए जाते हैं; जिन सबकी विस्तृत आलोचना होनेकी ज़रूरत है। अवसर मिलने पर प्रतिष्ठापाठोंके विषय पर एक स्वतंत्र लेख लिखा जायगा और उसमें यह भी दिखलाया जायगा कि उनका यह कथन कहाँ तक जैनधर्मके अनुकूल या प्रतिकूल है।

देवबन्द। ता० २६ मार्च, सन् १९१७

पूज्यपाद-उपासकाचारकी जाँच।

सन् १९०४ में, 'पूज्यपाद' आचार्यका बनाया हुआ 'उपासकाचार' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसे कोल्हापुरके पंडित श्रीयुत कल्लापा भरमापाजी निटवेने, मराठी पद्यानुवाद और मराठी अर्थसहित, अपने 'जैनेंद्र' छापाखानेमें छापकर प्रकाशित किया था। जिस समय ग्रन्थकी यह छपी हुई प्रति मेरे देखनेमें आई तो मुझे इसके कितनेही पद्योंपर संदेह हुआ और यह इच्छा पैदा हुई कि इसके पद्योंकी जाँच की जाय, और यह मालूम किया जाय कि यह ग्रन्थ कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है। तभीसे मेरी इस विषयकी खोज जारी है। और उस खोजसे अबतक जो कुछ नतीजा निकला है उसे प्रकट करनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

सबसे पहले मुझे देहलीके 'नया मंदिर' के शास्त्र-भंडारमें इस ग्रन्थकी हस्तलिखित प्रतिका पता चला। इस प्रतिके साथ छपी हुई प्रतिका जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि उसमें छपी हुई प्रतिके निम्नलिखित छह श्लोक नहीं हैं—

पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसाद्यपासनम्।
प्रमाणद्वयसंवादि शास्त्रं सर्वज्ञभाषितम्॥ ७॥
गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १०॥
नास्त्यर्हतः परो देवो धर्मो नास्ति दयां विना।
तपः परञ्च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणं॥ ११॥

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ १५ ॥
चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्तं चित्तं पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव देयं न पेयं ॥ १६ ॥
अणुव्रतानि पंचैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद् द्वादशात्मकम् ॥ २२ ॥

साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि देहलीवाली प्रतिमें नीचे लिखे हुए दस श्लोक छपी हुई प्रतिसे अधिक हैं—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदश्च चतुःपदम् ।
आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥ ७ ॥
मूर्छा च द्रवसंपक्ता मातृयोनिसमानिका ।
सुखानां सुखिनः प्रोक्ता सत्पुण्यप्रेरिता स्फुटम् ॥ ५३ ॥
सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ ५६ ॥
खर्जूरं पिंडखर्जूरं कादल्यं शर्करोपमान् ।
कृमिक्ष्वादिके भोगांश्च भुंजते नात्र संशयः ॥ ६० ॥
ततः कुत्सितदेवेषु जायन्ते पापपाकतः ।
ततः संसारगर्तासु पञ्चधा भ्रमणं सदा ॥ ६१ ॥
प्रतिग्रहोच्चस्थानं पादक्षालनमर्चनम् ।
नमस्त्रिविधयुक्तेन एषणा नव पुण्यभुक् ॥ ६४ ॥
श्रुतिस्मृतिप्रसादेन तत्त्वज्ञानं प्रजायते ।
ततो ध्यानं ततो ज्ञानं बंधमोक्षो भवेत्ततः ॥ ७० ॥
नामाद्भिश्चतुर्भेदैर्जिनसंहितया पुनः ।
यंत्रमंत्रक्रमेणैव स्थापयित्वा जिनाकृतिम् ॥ ७६ ॥
उपवासो विधातव्यो गुरूणां स्वस्य साक्षिकः ।
सोपवासो जिनैरुक्तो न च देहस्य दंडनम् ॥ ८१ ॥
दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
तं नक्तं प्राहुराचार्या न नक्तं रात्रिभोजनम् ॥ ९२ ॥

श्लोकोंकी इस न्यूनाधिकताके अतिरिक्त दोनों प्रतियोंमें कहीं कहीं पद्योंका कुछ क्रमभेद भी पाया गया, और वह इस प्रकार है—

देहलीवाली प्रतिमें, छपी हुई प्रतिके ५५ वें पद्यसे ठीक पहले उसी प्रतिका ५७ वाँ पद्य, नम्बर ७० के श्लोकसे ठीक पहले नं० ६८ का श्लोक, नं० ७३ वाले पद्यके

अनन्तर नं० ७१ का पद्य, नं० ७८ वाले पद्यसे पहले नं० ७९ का पद्य और नं० ९२ के श्लोकके अनन्तर उसी प्रतिका अन्तिम श्लोक नं० ९६ दिया है। इसी तरह ९० नम्बरके पद्यके अनन्तर उसी प्रतिके ९४ और ९५ नम्बरवाले पद्य क्रमशः दिये हैं।

इस क्रमभेदके सिवाय, दोनों प्रतियों के किसी किसी श्लोकमें परस्पर कुछ पाठ-भेद भी उपलब्ध हुआ; परन्तु वह कुछ विशेष महत्व नहीं रखता, इसलिये उसे यहाँपर छोड़ा जाता है।

देहलीकी इस प्रतिसे संदेहकी कोई विशेष निवृत्ति न हो सकी, बल्कि कितने ही अंशोंमें उसे और भी ज्यादा पुष्टि मिली और इसलिये ग्रन्थकी दूसरी हस्तलिखित प्रतियोंके देखनेकी इच्छा बनी ही रही। कितने ही भंडारोंको देखनेका अवसर मिला और कितनेही भंडारोंकी सूचियाँ भी नज़रसे गुजरीं, परन्तु उनमें मुझे इस ग्रन्थका दर्शन नहीं हुआ। अन्तको पिछले साल जब मैं 'जैनसिद्धान्तभवन' का निरीक्षण करनेके लिये आरा गया और वहाँ करीब दो महीनेके ठहरना हुआ, तो उस भवनसे मुझे इस ग्रन्थकी दो पुरानी प्रतियाँ कनड़ी अक्षरोंमें लिखी हुई उपलब्ध हुईं—एक ताडपत्रोंपर और दूसरी कागजपर। इन प्रतियोंके साथ छपी हुई प्रतिका जो मिलान किया गया तो उससे मालूम हुआ कि इन दोनों प्रतियोंमें छपी हुई प्रतिके वे छह श्लोक नहीं हैं जो देहलीवाली प्रतिमें भी नहीं हैं, और न वे दस श्लोक ही हैं जो देहली की प्रतिमें छपी हुई प्रतिसे अधिक पाए गये हैं और जिन सबका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय, इन प्रतियोंमें छपी हुई प्रतिके नीचे लिखे हुए पन्द्रह श्लोक भी नहीं हैं—

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदोरतिः ॥ ४ ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥ ५ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरंजनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥ ६ ॥
स्वतत्वपरतत्वेषु हेयोपादेयनिश्चयः।
संशयादिविनिर्मुक्तः स सम्यग्दृष्टिरुच्यते ॥ ९ ॥
रक्तमात्रप्रवाहेण स्त्री निन्द्या जायते स्फुटम्।
द्विधातुजं पुनर्मांसं पवित्रं जायते कथम् ॥ १९ ॥
अक्षरैर्न विना शब्दास्तेऽपि ज्ञानप्रकाशकाः।
तद्रक्षार्थं च षट् स्थाने मौनं श्रीजिनभाषितम् ॥ ४१ ॥
दिव्यदेहप्रभावतोः सप्तधातुविवर्जिताः।
गर्भोत्पत्तिर्न तत्रास्ति दिव्यदेहास्ततोमताः ॥ ५७ ॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत् ॥ ६९ ॥
येनाकारेण मुक्तात्मा शुक्लध्यानप्रभावतः ।
तेनायं श्रीजिनोदेवो बिम्बाकारेण पूज्यते ॥ ७२ ॥
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् ।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥ ७३ ॥
जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यासयोगेन तत्रैवाभ्यस्यते पुनः ॥ ७४ ॥
अष्टमी चाष्टकर्माणि सिद्धिलाभा चतुर्दशी ।
पंचमी केवलज्ञानं तस्मात्तत्र समाचरेत् ॥ ७९ ॥
कालक्षेपो नकर्तव्य आयुःक्षीणं दिने दिने ।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ ९४ ॥
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ ९५ ॥
जीवंतं मृतकं मन्ये देहिनं धर्मवर्जितम् ।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी भविष्यति ॥ ९६ ॥

छपी हुई प्रतिसे इन प्रतियोंमें अधिक पद्य कोई नहीं है; क्रम-भेदका उदाहरण सिर्फ एक ही पाया जाता है और वह यह है कि, छपी हुई प्रतिमें जो पद्य ५० और ५१ नम्बरों पर दिये हैं वे पद्य इन प्रतियोंमें क्रमशः ३९ और ३८ नम्बरों पर—अर्थात्, आगे पीछे—पाये जाते हैं। रही पाठभेदकी बात, वह कुछ उपलब्ध जरूर होता है और कहीं कहीं इन दोनों प्रतियोंमें परस्पर भी पाया जाता है। परंतु वह भी कुछ विशेष महत्व नहीं रखता और उसमें ज्यादातर छापे की तथा लेखकों की भूलें शामिल हैं। तो भी दो एक खास खास पाठभेदोंका यहाँ परिचय करा देना मुनासिब मालूम होता है; और वह इस प्रकार है—

(१) तीसरे पद्यमें '*निर्ग्रन्थः स्यात्तपस्वी च*' (*तपस्वी निर्ग्रन्थ होता है*) के स्थानमें आराकी प्रतिमें '*निर्ग्रन्थेन भवेन्मोक्षः*' (निर्ग्रंथ होनेसे मोक्ष होता है) ऐसा पाठ दिया है। देहलीवाली प्रतिमें भी यही पाठ '*निर्ग्रन्थ न भवेन्मोक्षः*' ऐसे अशुद्ध रूपसे पाया जाता है।

(२) छपी हुई प्रतिके ३० वें पद्यमें 'न पापं च क्षमी देयाः' ऐसा जो एक चरण है वह ताड़पत्रवाली प्रतिमें भी वैसा ही है। परंतु आराकी दूसरी प्रतिमें उसका रूप 'न परेषाममीदेयाः' ऐसा दिया है और देहलीवाली प्रतिमें वह 'न दातव्या इमे नित्यं' इस रूपमें उपलब्ध होता है।

(३) छपी हुई प्रतिमें एक पद्य * इस प्रकार दिया हुआ है—

वृक्षा दावाग्निनालग्नास्तत्सख्यं कुर्वते वने ।
आत्मारूढतरोरग्निमागच्छन्तं न वेत्त्यसौ ॥ ९१ ॥

इस पद्यका पूर्वार्ध कुछ अशुद्ध जान पड़ता है और इसी से मराठीमें इस पद्यका जो यह अर्थ किया गया है कि 'वनमें दावाग्निसे ग्रसे हुए वृक्ष उस दावाग्निसे मित्रता करते हैं, परन्तु जीव स्वयं जिस देहरूपी वृक्षपर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई अग्निको नहीं जानता है' वह ठीक नहीं माळूम होता। आराकी प्रतियोंमें उक्त पूर्वार्धका शुद्ध रूप 'वृक्षा दावाग्निलग्ना ये तत्संख्या कुरुते वने' इस प्रकार दिया है और इससे अर्थकी संगति भी ठीक बैठ जाती है—यह आशय निकल आता है कि 'एक मनुष्य वनमें, जहाँ दावाग्नि फैली हुई है, वृक्षपर चढ़ा हुआ, उन दूसरे वृक्षोंकी गिनती कर रहा है जो दावाग्निसे ग्रस्त होते जाते हैं (वह कह रहा है कि अमुक वृक्षको आग लगी, वह जला और वह गिरा !) परन्तु स्वयं जिस वृक्षपर चढ़ा हुआ है उसके पास आती हुई आगको नहीं देखता है। इस अलंकृत आशयका स्पष्टीकरण भी ग्रंथमें अगले पद्य द्वारा किया गया है और इससे दोनों पद्योंका सम्बंध भी ठीक बैठ जाता है।

आराकी इन दोनों प्रतियोंमें ग्रन्थकी श्लोकसंख्या कुल ७५ ही है; यद्यपि, अंतके पद्यों पर जो नंबर पड़े हुए हैं उनसे वह ७६ माळूम होती है। परन्तु 'न वेत्त्यिमद्य-पानतः' इस एक पद्यपर लेखकोंकी गलतीसे दो नम्बर ८ और ९ पड़ गये हैं जिससे आगेके संख्यांकोंमें बराबर एक एक नम्बरकी वृद्धि होती चली गई है। देहलीवाली प्रतिमें भी इस पद्यपर भूलसे दो नम्बर १३ और १४ डाले गये हैं और इसी लिये उसकी श्लोकसंख्या १०० होने पर भी वह १०१ माळूम होती है। छपी हुई प्रतिकी श्लोक-संख्या ९६ है। इस तरह आराकी प्रतियोंसे छपी हुई प्रतिमें २१ और देहलीवाली प्रतिमें २५ श्लोक बढ़े हुए हैं। ये सब बढ़े हुए श्लोक 'क्षेपक' हैं जो मूल ग्रन्थकी भिन्न भिन्न प्रतियोंमें किसी तरह पर शामिल हो गये हैं और मूल ग्रन्थके अंगभूत नहीं हैं। इन श्लोकोंको निकालकर ग्रन्थको पढ़नेसे उसका सिलसिला ठीक बैठ जाता है और वह बहुत कुछ सुसम्बद्ध माळूम होने लगता है। प्रत्युत इसके, इन श्लोकोंको शामिल करके पढ़नेसे उसमें बहुत कुछ बेढंगापन आ जाता है और वह अनेक प्रकारकी गड़-बड़ी तथा आपत्तियोंसे पूर्ण जँचने लगता है। इस बातका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं ग्रन्थपरसे कर सकते हैं।

इन सब अनुसंधानोंके साथ ग्रन्थको पढ़नेसे ऐसा माळूम होता है कि छपी हुई प्रति जिस हस्तलिखित प्रति परसे तय्यार की गई है उसमें तथा देहलीकी प्रतिमें जो

---

* देहलीकी प्रतिमें भी यह पद्य प्रायः इसी प्रकारसे है, सिर्फ इतना भेद है कि उसमें पूर्वार्धको उत्तरार्ध और उत्तरार्धको पूर्वार्ध बनाया गया है।

पद्य बढ़े हुए हैं उन्हें या तो किसी विद्वान्‌ने व्याख्या आदिके लिये अपनी प्रतिमें टिप्पणीके तौरपर लिख रक्खा था या ग्रन्थकी किसी कानडी आदि टीकामें वे विषयसमर्थनादिके लिये 'उक्तंच' आदि रूपसे दिये हुए थे; और ऐसी किसी प्रतिसे नकल करते हुए लेखकोंने उन्हें मूल ग्रन्थका ही एक अंग समझकर नकल कर डाला है। ऐसे ही किसी कारणसे ये सब श्लोक अनेक प्रतियोंमें प्रक्षिप्त हुए जान पडते हैं। और इसलिये यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि ये बढ़े हुए पद्य दूसरे अनेक ग्रन्थोंके पद्य हैं। नमूनेके तौर पर यहाँ चार पद्योंको उद्धृत करके बतलाया जाता है कि वे कौन कौनसे ग्रन्थके पद्य हैं:—

गोपुच्छिकश्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥ १०॥

यह पद्य इन्द्रनन्दिके "नीतिसार" ग्रन्थका पद्य है और उसमें भी नं० १० पर दिया हुआ है।

सज्जातिः सद्‌गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा॥ ५६॥

यह पद्य, जो देहलीवाली प्रतिमें पाया जाता है, श्रीजिनसेनाचार्यके 'आदिपुराण'का पद्य है और इसका यहाँ पूर्वापरपद्योंके साथ कुछ भी मेल मालूम नहीं होता।

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्युर्विषसामर्थ्यसूदनम्॥ ७२॥

यह श्रीसोमदेवसूरिके 'यशस्तिलक' ग्रंथका पद्य है और उसके आठवें आश्वासमें पाया जाता है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितोमृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ९५॥

यह 'चाणक्य-नीति'का श्लोक है।

टीका-टिप्पणियोंके श्लोक किस प्रकारसे मूल ग्रन्थमें शामिल हो जाते हैं, इसका विशेष परिचय पाठकोंको 'रत्नकरंडकश्रावकाचारकी जाँच'* नामके लेखद्वारा कराया जायगा।

यहाँ तकके इस सब कथनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि छपी हुई प्रतिको देखकर उसके पद्योंपर जो कुछ संदेह उत्पन्न हुआ था वह अनुचित नहीं था बल्कि यथार्थ ही था, और उसका निरसन आराकी प्रतियों परसे बहुत कुछ हो जाता है। साथ ही, यह बात ध्यानमें आ जाती है कि यह ग्रन्थ जिस रूपसे छपी हुई प्रतिमें तथा देहलीवाली प्रतिमें पाया जाता है उस रूपमें वह पूज्यपादका 'उपासकाचार'

---

* माणिकचंद्रग्रंथमाला में प्रकाशित 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' पर जो ८४ पृष्ठोंकी विस्तृत प्रस्तावना लिखी गई है उसीमें रत्नकरण्डक श्रा० की यह सब जाँच शामिल है।
लेखक।

नहीं है; बल्कि छपी हुई प्रतिमेंसे, ऊपर दिये हुए, २१ श्लोक और देहलीवाली प्रतिमेंसे, २५ श्लोक कम कर देनेपर वह पूज्यपादका उपासकाचार रहता है, और उसका रूप प्रायः वही है जो आराकी प्रतियोंमें पाया जाता है। संभव है कि ग्रन्थके अन्तमें कुछ पद्योंकी प्रशस्ति और हो और वह किसी जगहकी दूसरी प्रतिमें पाई जाती हो। उसके लिये विद्वानोंको अन्य स्थानोंकी प्रतियाँ भी खोजनी चाहिएँ।

अब देखना यह है कि, यह ग्रंथ कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है। 'पूज्यपाद' नामके आचार्य एकसे अधिक हो चुके हैं। उनमें सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और बहुमाननीय आचार्य 'जैनेन्द्र' व्याकरण तथा 'सर्वार्थसिद्धि' आदि ग्रन्थोंके कर्ता हुए हैं। उनका दूसरा नाम 'देवनन्दी' भी था; और देवनन्दी नामके भी कितने ही आचार्योंका पता चलता है ×। इससे, पर्याय नामकी वजहसे यदि उनमेंसे ही किसीका ग्रहण किया जाय तो किसका ग्रहण किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता। ग्रन्थके अन्तमें अभी तक कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई और न ग्रंथके शुरूमें किसी आचार्यका स्मरण किया गया है। हाँ आराकी एक प्रतिके अन्तमें समाप्तिसूचक जो वाक्य दिया है वह इस प्रकार है—

"इति श्रीवासुपूज्यपादाचार्यविरचित उपासकाचारः समाप्तः ॥"

इसमें 'पूज्यपाद' से पहले 'वासु' शब्द और जुड़ा हुआ है और उससे दो विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। एक तो यह कि यह ग्रन्थ 'वासुपूज्य' नामके आचार्यका बनाया हुआ है और लेखकके किसी अभ्यासकी वजहसे—पूज्यपादका नाम चित्तपर ज्यादा चढ़ा हुआ तथा अभ्यासमें अधिक आया हुआ होनेके कारण—'पाद' शब्द उसके साथमें गलतीसे और अधिक लिखा गया है; क्योंकि 'वासुपूज्य' नामके भी आचार्य हुए हैं—एक 'वासुपूज्य' श्रीधर आचार्यके शिष्य थे, जिनका उल्लेख माघनंदिश्रावकाचारकी प्रशस्तिमें पाया जाता है और 'दानशासन' ग्रंथके कर्ता भी एक 'वासुपूज्य' हुए हैं, जिन्होंने शक संवत् १३४३ में उक्त ग्रंथकी रचना की है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ 'पूज्यपाद' आचार्यका ही बनाया हुआ है और उसके साथमें 'वासु' शब्द, लेखकके वैसे ही किसी अभ्यासके कारण, गलतीसे जुड़ गया है। ज्यादातर खयाल यही होता है कि यह पिछला विकल्प ही ठीक है; क्योंकि आराकी दूसरी प्रतिके अंतमें भी यही वाक्य दिया हुआ है और उसमें 'वासु' शब्द नहीं है। इसके सिवाय, छपी हुई प्रति और देहलीकी प्रतिमें भी यह ग्रन्थ पूज्यपादका ही बनाया हुआ लिखा है। साथ ही, 'दिगम्बरजैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामकी सूचीमें भी पूज्यपादके नामके साथ एक श्रावकाचार ग्रन्थका उल्लेख मिलता है।

× एक देवनंदी विनयचंद्रके शिष्य और 'द्विसंधान' काव्य की 'पदकौमुदी' टीकाके कर्ता नेमिचंद्रके गुरु थे, और एक देवनंदी आचार्य ब्रह्मलाव्यकके गुरु थे जिसके पढ़नेके लिये संवत् १६२७ में 'जिनयज्ञकल्प' की वह प्रति लिखी गई थी जिसका उल्लेख सेठ माणिकचंद्रके 'प्रशस्तिसंग्रह' रजिस्टरमें पाया जाता है।

इन सब बातोंसे यह तो पाया जाता है कि यह ग्रन्थ पूज्यपादाचार्यका बनाया हुआ है, परंतु कौनसे 'पूज्यपाद' आचार्यका बनाया हुआ है, यह कुछ मालूम नहीं होता।

ऊपर जिस परिस्थितिका उल्लेख किया गया है उसपरसे, यद्यपि, यह कहना आसान नहीं है कि यह ग्रन्थ अमुक पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है, परंतु इस ग्रन्थके साहित्यको सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थोंके साहित्यके साथ मिलान करने पर इतना ज़रूर कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थोंके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्यका बनाया हुआ तो नहीं है। इन ग्रन्थोंकी लेखनी जिस प्रौढताको लिये हुए है, विषय-प्रतिपादनका इनमें जैसा कुछ ढंग है और जैसा कुछ इनका शब्दविन्यास पाया जाता है, उसका इस ग्रन्थके साथ कोई मेल नहीं है। सर्वार्थसिद्धिमें श्रावकधर्म-का भी वर्णन है, परंतु वहाँ लक्षणादिरूपसे विषयके प्रतिपादनमें जैसी कुछ विशेषता पाई जाती है वह यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धिके कर्ताका ही बनाया हुआ होता तो, चूँकि यह श्रावकधर्मका एक स्वतंत्र ग्रन्थ था इसलिये, इसमें श्रावकधर्म-सम्बन्धी अन्य विशेषताओंके अतिरिक्त उन सब विशेषताओंका भी उल्लेख ज़रूर होना चाहिए था जो सर्वार्थसिद्धिमें पाई जाती हैं। परंतु ऐसा नहीं है, बल्कि कितनी ही जगह कुछ कथन परस्पर विभिन्न भी पाया जाता है, जिसका एक नमूना नीचे दिया जाता है:—

सर्वार्थसिद्धिमें 'अनर्थदण्डविरति' नामके तीसरे गुणव्रतका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

"असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः॥ अनर्थदण्डः पंचविधः। अपध्यानं, पापोपदेशः, प्रमादाचरितम्, हिंसाप्रदानम्, अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारंभादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितं। विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः॥"

इस स्वरूपकथनमें अनर्थदण्डविरतिका लक्षण, उसके पाँच भेदोंका नामनिर्देश और फिर प्रत्येक भेदका स्वरूप बहुत ही जँचे तुले शब्दोंमें बतलाया गया है। और यह सब कथन तत्त्वार्थसूत्रके उस मूल सूत्रमें नहीं है जिसकी व्याख्यामें आचार्यमहोदयने यह सब कुछ लिखा है। इसलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि मूल ग्रन्थके अनुरोधसे उन्हें वहाँ पर ऐसा लिखना पड़ा है। वास्तवमें, उनके मतानुसार, जैन सिद्धान्तका इस विषयमें ऐसा ही आशय जान पड़ता है और उसीको उन्होंने प्रदर्शित किया है। अब उपासकाचारमें दिये हुए इस व्रतके स्वरूपको देखिये—

पाशमण्डलमार्जारविषशस्त्रकृशानवः ।
न पापं च अमी देयास्तृतीयं स्याद्गुणव्रतम् ॥ १९ ॥

इसमें अनर्थदंडविरतिका सर्वार्थसिद्धिवाला लक्षण नहीं है और न उसके पाँच भेदोंका कोई उल्लेख है। बल्कि यहाँ इस व्रतका जो कुछ लक्षण अथवा स्वरूप बतलाया गया है वह अनर्थदंडके पाँच भेदोंमें से 'हिंसाप्रदान' नामके चौथे भेद की विरतिसे ही सम्बन्ध रखता है। इसलिये, सर्वार्थसिद्धिकी दृष्टिसे, यह लक्षण लक्ष्यके एक देशमें व्यापनेके कारण अव्याप्ति दोषसे दूषित है, और कदापि सर्वार्थसिद्धिके कर्ताका नहीं हो सकता।

इस प्रकारके विभिन्न कथनोंसे भी यह ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धिके कर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामीका बनाया हुआ मालूम नहीं होता, तब यह ग्रन्थ दूसरे कौनसे पूज्यपाद आचार्यका बनाया हुआ है और कब बना है, यह बात अवश्य जाननेके योग्य है और इसके लिये विद्वानोंको कुछ विशेष अनुसंधान करना होगा। मेरे खयालमें यह ग्रन्थ पं० आशाधरके बादका—१३ वीं शताब्दीसे पीछेका बना हुआ मालूम होता है। परंतु अभी मैं इस बातको पूर्ण निश्चयके साथ कहनेके लिये तय्यार नहीं हूँ। विद्वानोंको चाहिए कि वे स्वयं इस विषयकी खोज करें, और इस बातको मालूम करें कि किन किन प्राचीन ग्रन्थोंमें इस ग्रन्थके पद्योंका उल्लेख पाया जाता है। साथही, उन्हें इस ग्रन्थकी दूसरी प्राचीन प्रतियोंकी भी खोज लगानी चाहिए। संभव है कि उनमेंसे किसी प्रतिमें इस ग्रन्थकी प्रशस्ति उपलब्ध हो जाय।

इस लेखपरसे पाठकोंको यह बतलानेकी जरूरत नहीं है कि भंडारोंमें कितने ही ग्रन्थ कैसी संदिग्धावस्थामें मौजूद हैं, उनमें कितने अधिक क्षेपक शामिल हो गये हैं और वे मूल ग्रन्थकर्ताकी कृतिको समझनेमें क्या कुछ भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी हालतमें, प्राचीन प्रतियों परसे ग्रन्थोंकी जाँच करके उनका यथार्थ स्वरूप प्रगट करनेकी और उसके लिये एक जुदाही विभाग स्थापित करनेकी कितनी अधिक जरूरत है, इसका अनुभव सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। प्राचीन प्रतियाँ दिनपर दिन नष्ट होती जाती हैं। उनसे शीघ्र स्थायी काम ले लेना चाहिए। नहीं तो उनके नष्ट हो जानेपर यथार्थ वस्तुस्थितिके मालूम करनेमें फिर बडी कठिनता होगी और अनेक प्रकारकी दिक्कतें पैदा हो जायँगी। कमसे कम उन खास खास ग्रन्थोंकी जाँच तो जरूर हो जानी चाहिए जो बडे बडे प्राचीन आचार्योंके बनाये हुए हैं अथवा ऐसे आचार्योंके नामसे नामांकित हैं और इसलिये उनमें उसी नामके प्राचीन आचार्योंके बनाए हुए होनेका भ्रम उत्पन्न होता है। आशा है, हमारे दूरदर्शी भाई इस विषयकी उपयोगिताको समझकर उसपर जरूर ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

सरसावा, जि. सहारनपुर ।
ता० २५ नवम्बर सन् १९२१

जुगलकिशोर मुख्तार

[illegible]

पढ़ने योग्य ग्रन्थ।

त्रैवर्णिकाचार—भट्टारक सोमसेनकृत मूल श्लोक और पं० पन्नालालजी सोनीकृत हिन्दी भाषाटीकासहित, यह वही ग्रंथ है जिसकी यह परीक्षा है। मूल्य ३)

[illegible] पं० [illegible] मूल, और पं० [illegible] [illegible]। [illegible] पुर [illegible] छपा है। [illegible]

ग्रंथ-परीक्षा—प्रथम द्वितीय भाग, लेखक—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, इसके प्रथम भागमें सोमसेनके त्रिवर्णाचारकी तथा उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, जिनसेन-त्रिवर्णाचारकी विस्तृत समालोचना है। दूसरे भागमें भद्रबाहुसंहिताकी विस्तृत समालोचना है। प्रचारार्थ इन पुस्तकोंका मूल्य भी कम रक्खा है, दोनों भागोंमें सवा सौ, सवा सौ पृष्ठ हैं। मूल्य प्रथम भागका ।≈) द्वितीय भागका ।) है।

जैनाचार्योंका शासनभेद—(जैनाचार्योंके शासनभेद सहित) [illegible] मुख्तार, इसमें आचार्योंके मतभेद [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] जैनाचार्योंके [illegible] इसके कारण [illegible] दिग्दर्शन कराया है। [illegible] इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य ।≈)

स्वामीसमन्तभद्र—पं० जुगलकिशोरजीने बड़ी खोजसे [illegible] लिखा है। छपाई सफाई बहुत सुन्दर है। मू० १)

मिलनेका पता—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।